कर्म की गति न्यारी

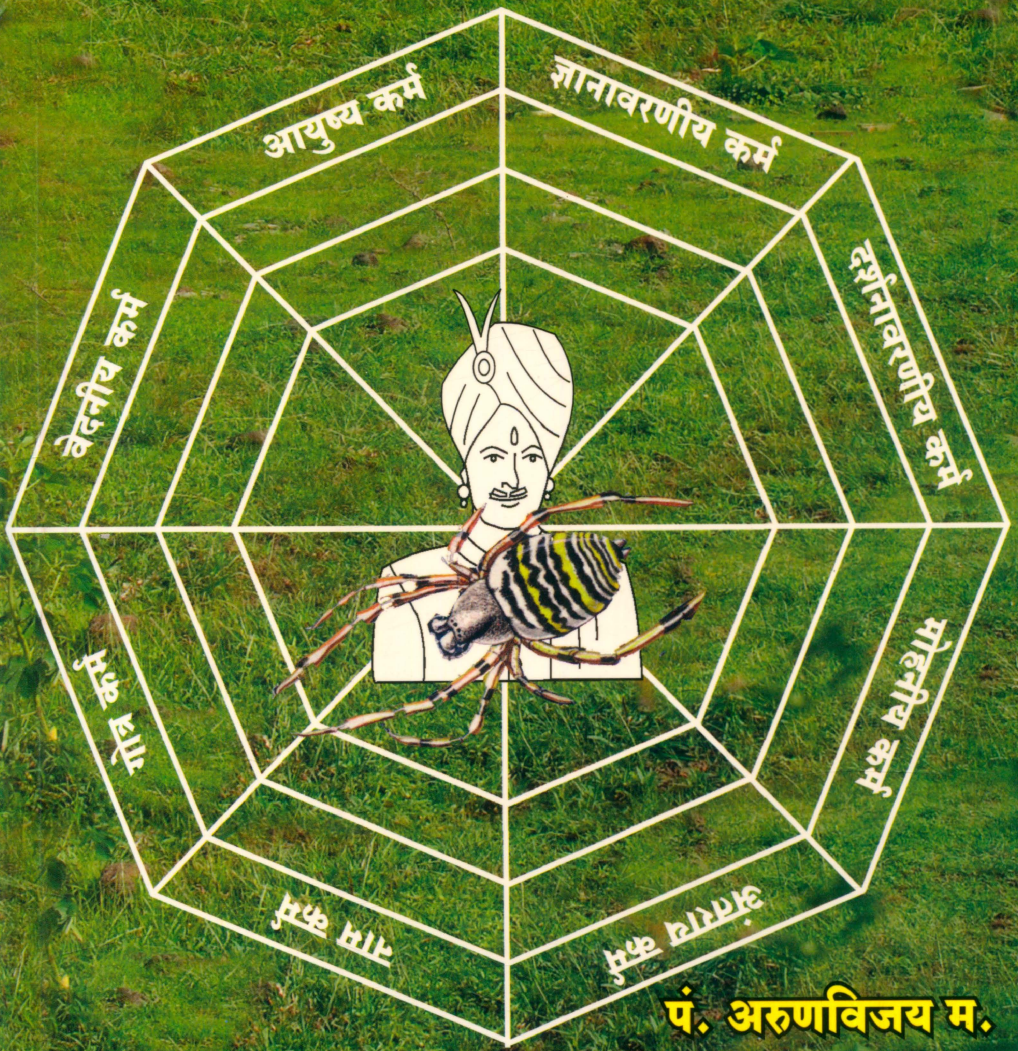

पं. अरुणविजय म.

कोंकण के शत्रुंजय समान
थाणा नगरे दो जिनालय

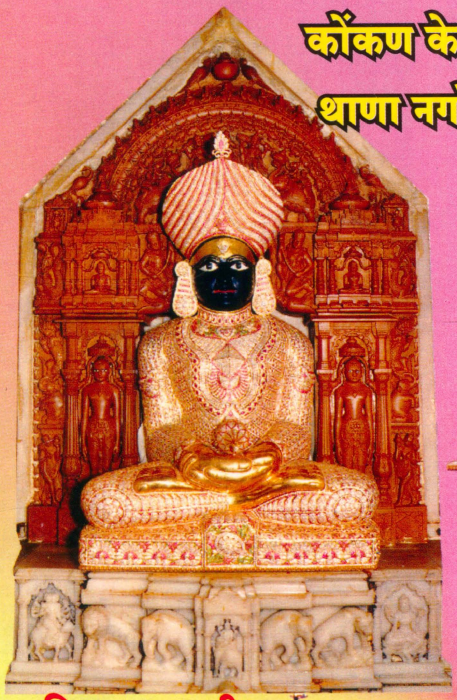

मुनिसुव्रतस्वामी भ.

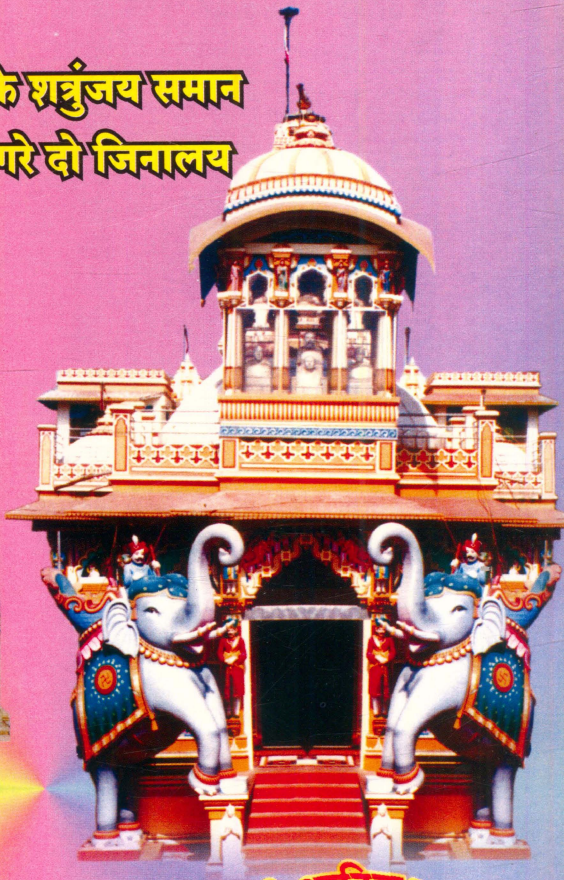

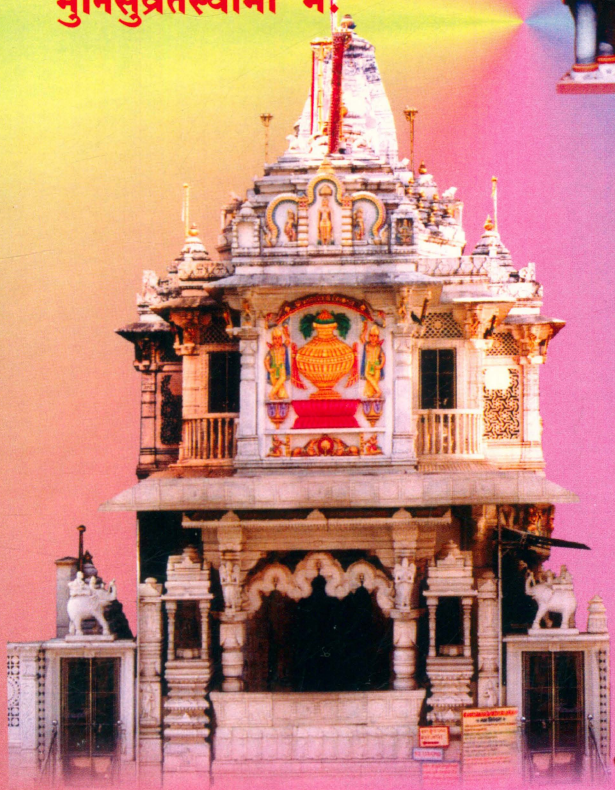

भ.श्री आदिनाथ दादा

कर्म की गति न्यारी

भाग - २

-: लेखक :-

पंन्यास अरुणविजय गणिवर्य महाराज

राष्ट्रभाषा रत्न, साहित्य रत्न, जैन-न्याय-दर्शनाचार्य

प्रकाशक

श्री महावीर रिसर्च फाउन्डेशन

वीरालयम् - पुना

पुस्तक का नाम :- कर्म की गति न्यारी भाग - २

लेखक - प.पू. गच्छाधिपति आ.भ. श्री प्रेमसुरि म.सा.
के वडील बंधु एवं गुरुभ्राता
प.पू.आचार्य देव श्रीमद्विजय सुबोधसूरीश्वरजी म. के M.A.Ph.D.
हुए विद्वान शिष्य रत्न
प.पू.पंन्यास डॉ. श्री अरुणविजयजी गणिवर्य म.

प्रूफ संशोधक - मुनि श्री हेमन्तविजय महाराज

चतुर्थ आवृत्ति
प्रति - १००० वि.सं.२०६८, वीर सं.२५३८ इ.सं.२०१२
(पूज्य साधु साध्वीजी महाराजों को सप्रेम)
पडतर किंमत ९०/-

प्राप्ति स्थान

वीरालयम् जैन तीर्थ
N.H.4 कात्रज बायपास,
मुंबई - बेंगलोर, आंबेगांव (खुर्द)
पो. जांभुलवाडी
पुना -४११०४६

गुलाबचंदजी जे. जैन
B-1,3rd मातुआशीष सोसायटी
३९, नेपियन्सी रोड,
मुंबई --४०००३६

वीरालयम् जैन तीर्थ
A-3 ज्ञात विक्रान्त,
17- B पोद्दार स्ट्रीट,
एस. वी. रोड
सान्ताक्रुज (प.) मुंबई - ५४

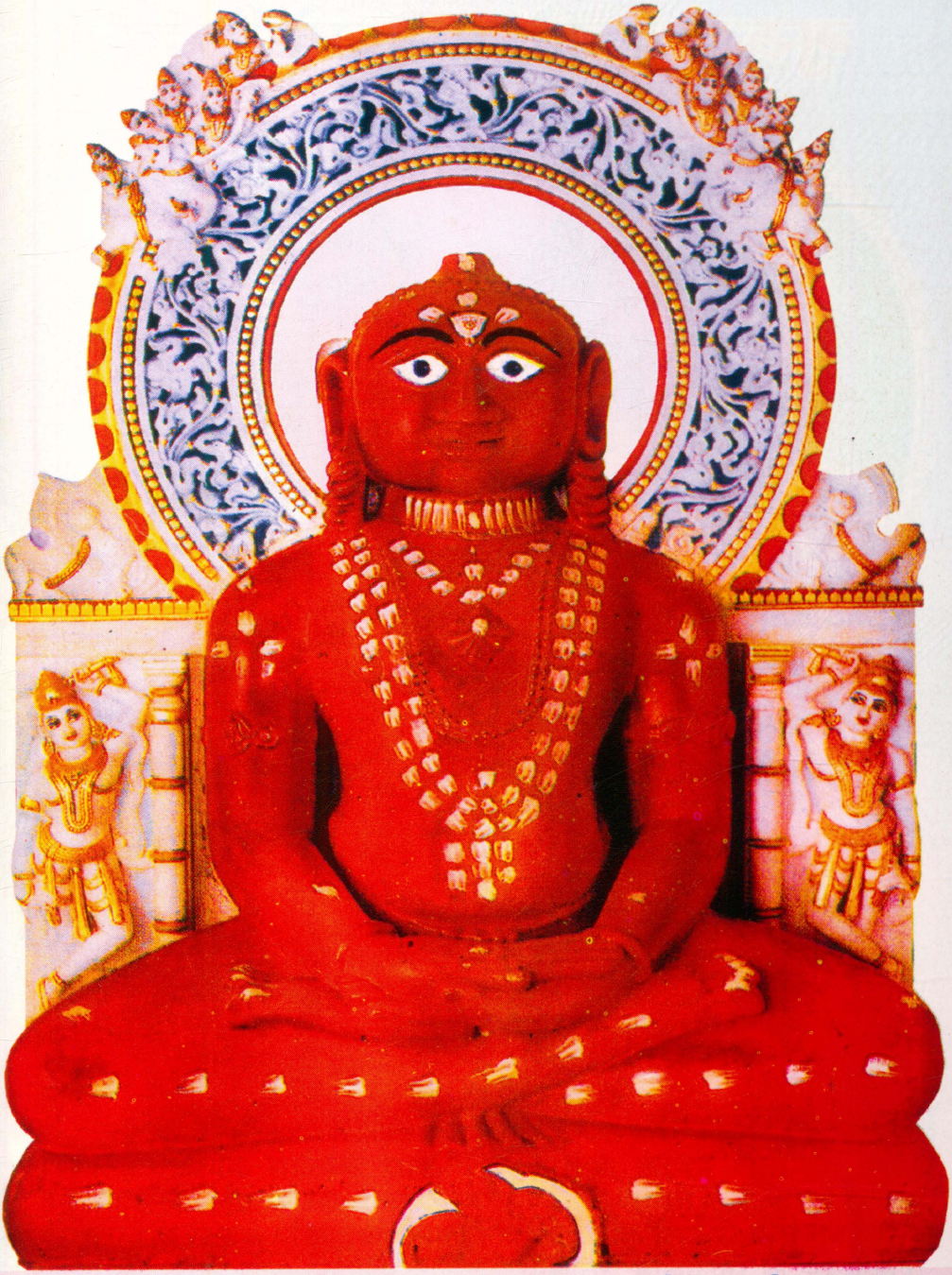

हथूंडी तीर्थ मंडन मूलनायक श्री राता महावीरस्वामी भगवान

समग्र विश्वमें महावीर प्रभु की यह एक मात्र अद्वितीय-अलभ्य मूर्ति है। जो रेती, चूने एवं मिट्टि के संमिश्रण से वि. सं. ३६० की साल में बनी हुई राता (लाल)रंग के वज्रलेपवाली १७०० वर्ष प्राचीन ऐतिहासिक अलौकिक चमत्कारिक अद्‌भूत महाप्रभावक भव्य प्रतिमा है। एक बार हथूंडी तीर्थ की यात्रा का लाभ अवश्य लिजिए।

श्री हथूंडी राता महावीर तीर्थ

पो. बिजापुर, वाया बाली, स्टे. फालना, जिला-पाली (राज.) ३०६७०७

गुरुराज को सदा मोरी वंदना

प. पू. आचार्य देव श्रीमद्विजय
धर्मसूरीश्वरजी म. सा.

प. पू. आचार्य देव श्रीमद्विजय
भक्तिसूरीश्वरजी म. सा.

प. पू. आचार्य देव श्रीमद्विजय
प्रेमसूरीश्वरजी म. सा.

प. पू. आचार्य देव श्रीमद्विजय
सुबोधसूरीश्वरजी म. सा.

तत्त्व चिंतक-तात्विक-सात्विक साहित्य के सर्जक, सचित्र शैली की पुस्तकें लिखनेवाले सिद्ध हस्त लेखक, सैद्धान्तिक सत्त्वसभर सचित्र शैली के प्रवचनकार, दार्शनिक पद्धति से तर्क युक्ति पूर्वक समझानेवाले, अनेक शिबीरों द्वारा युवावर्ग को सीखानेवाले, ध्यान योग साधना शिबिर के प्रणेता, वीरालयम् के स्वप्न दृष्टा, साधर्मिकों के राहबर, श्री हथूंडी तीर्थ के जीणोद्धारकारक, श्री महावीर रिसर्च फाउन्डेशन के आद्य प्रणेता, श्री महावीर विद्यार्थी कल्याण केन्द्र के प्रेरणास्त्रोत, जैन श्रमण संघ के M. A., Ph.D. सुप्रसिद्ध विद्वान,

संशोधनात्मक महाप्रबंध के लेखक

प. पू. पंन्यास प्रवर डॉ. श्री अरुणविजयजी गणिवर्य महाराज

(राष्ट्र भाषा रत्न, साहित्य रत्न M.A., दर्शन शास्त्री B.A., जैन-न्याय दर्शनाचार्य M.A., Ph.D.)

जहां महावीर प्रभु की राता (लाल) रंग के वज्र लेपवाली समग्र विश्व की एक मात्र अलभ्य मूर्ति है ऐसे राजस्थान राज्य की मरुभूमि पर गोडवाड प्रान्त के गौरव समान श्री हथूंडी तीर्थ है। जो नदी के किनारे प्राकृतिक सौंदर्य से सुशोभित प्रदूषण रहित-शान्त वातावरण में स्थित है। जैन श्रमण संघ के डबल M. A., Ph.D. हुए सुप्रसिद्ध विद्वान **पू. पंन्यास डॉ. श्री अरुणविजयजी म.सा.** की प्रेरणा-सदुपदेश एवं मार्गदर्शनानुसार नवनिर्मित ३ गढ, १२ चोकियां, १२ प्रवेश द्वार, अशोक वृक्षात्मक सामरण युक्त **श्री महावीर वाणी समवसरण मंदिर** बना है। अंदर आगम मंदिर व गणधर मंदिर है, चौमुखजी प्रभुजी की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। भ. महावीर की देशनात्मक वाणी विविध भाषाओं में लिखि गई है। इस तीर्थ में ठहरने हेतु उत्तम धर्मशाला तथा भोजनशाला आदि की सुंदर व्यवस्था है। आइए... पधारिए.... एक बार इस तीर्थ की यात्रा करने अवश्य पधारिए।

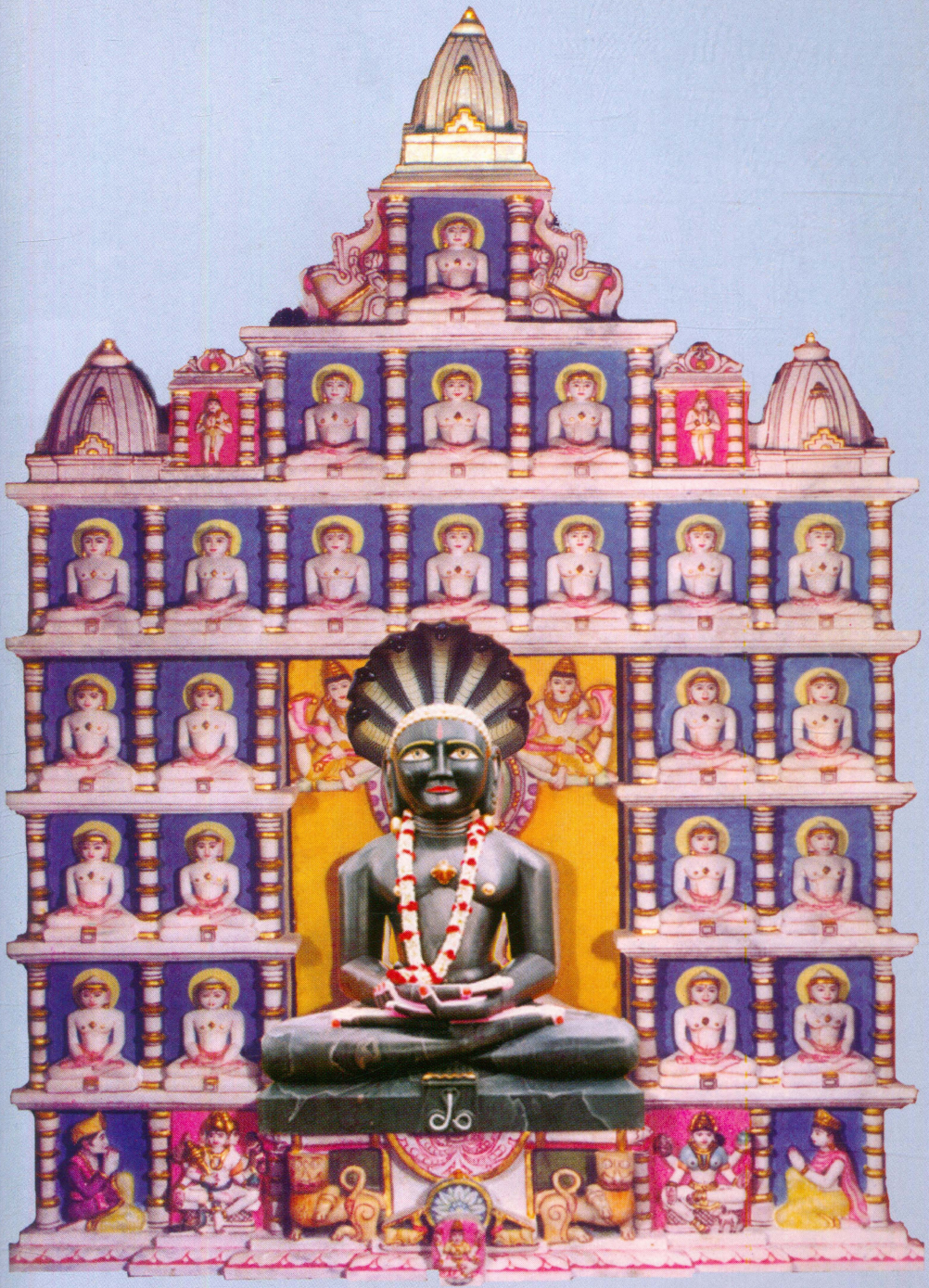

श्री पार्श्वनाथ भगवान की नौं फीट की श्यामवर्णी विशाल प्रतिमा गादी - परिकरादि सह वीरालयम् में नवनिर्माणाधीन "श्री वर्धमान समवसरण ध्यानालयम्" में बिराजमान होगी ।

वीरालयम्
कात्रज, पुणे.
VEERALAYAM
Katraj, Pune.

श्री वर्धमान समवसरण ध्यानालयम्

वीरालयम्, कात्रज, पुणे.

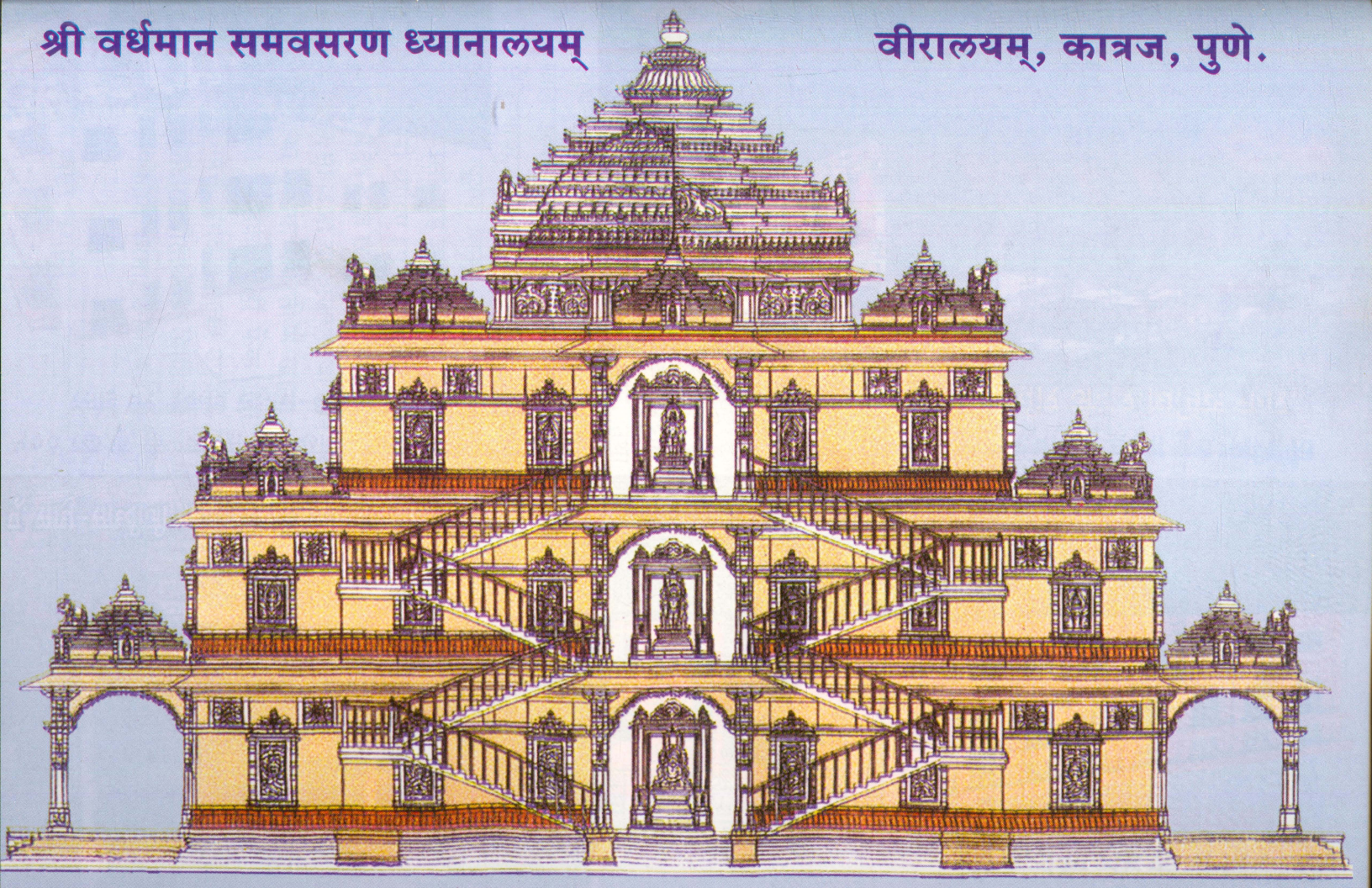

पू. साधु-साध्वीजी महाराजों की आराधना के लिए सुंदर उपाश्रय

दो डायनिंग हॉल एवं दो किचन युक्त

विशाल भोजनालयम्

५०० स्क्वे.फू. के एक ऐसे १० ब्लॉक, जिसमें हॉल, शयनकक्ष, रसोई घर, स्वतंत्र संडास-बाथरुमादि सुविधा युक्त

सुंदर धर्मशाला

१० दुकान तथा २८ घर से युक्त नवनिर्मित

श्री महावीर जैन साधर्मिक नगर

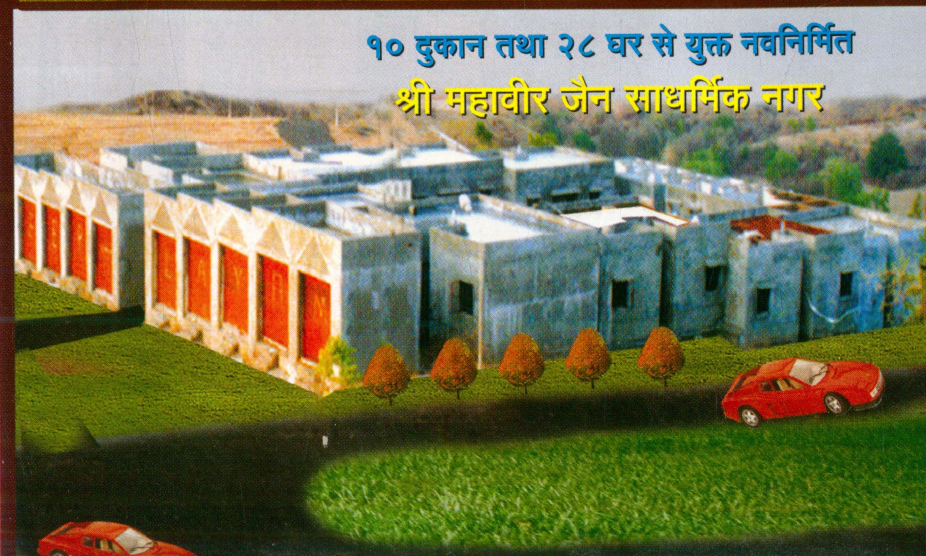

पुस्तक प्रवेश द्वार

लेखक का मनोगत.....

संस्था का परिचय.....

१) ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम एवं क्षय....२१८

२) दर्शन और दर्शनावरणीय कर्म.....२८२

३)मिथ्यात्व और सम्यक्त्व..... ३३३

लेखक का मनोगत

जैन धर्म दर्शन का अभ्यास करना और कर्म सिद्धान्त के अभ्यास से वंचित रहना यह सर्वथा अपूर्णता का सूचक है,अतः सत्य तो यह है कि कर्म सिद्धान्त बिना जैन धर्म को संपूर्ण पहचाना ही नहीं जा सकता । संभव ही नहीं है । इससे भी एक कदम आगे बढकर कहना पडे तो ऐसा कहा जा सकता है कि वर्तुल के बीच केन्द्र स्थान पर कर्म विषय है और सब विषय परिधि पर है जैसे बिना केन्द्र के परिधि बन ही नहीं सकती है वैसे ही बिना सर्म सिद्धान्त को समजे जैन दर्म-दर्शन समझा ही नहीं जा सकता। जी...हां...विश्व के समस्त धर्मो - दर्शनों में कर्म सिद्धान्त का जो और जैसा वर्णन नहीं है वैसा अद्भूत-अनोखा-गहन-तात्त्विक वर्णन जैन धर्म-दर्शन में है।

कर्म साम्राज्य काफी विशाल विस्तृत है। आप चौबीसों तीर्थंकर के चरित्र पढिए, आखिर उसमें भी एक ही सारांश दिखाई देगा कि..किस जनेम में कब उनकी आत्मा ने भी कैसे कर्म बांधे थे? और कब उदय में आए? उदयमें आने पर क्या स्थिति हुई? उन्होंने उन कर्मों का कब कैसे क्षय किया? और वे कर्मबंधन से मुक्त हुए? कैसे भगवान बने? कैसे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बने? बस ये और ऐसे कर्म संबंधी ४,५ प्रश्न के उत्तर रुप सभी भगवानों का जीवन है। चाहे कई जन्मों का चरित्र हो फिर भी सारांश इतसी बात है। उदा. हमारे आसन्नोपकारी चरम तीर्थाधिपति परमात्मा श्री महावीरस्वामी का ही जीवन क्यों न हो, आप उनका २७ जन्मों का चरित्र कर्म के आईने में देखिए...स्पष्ट कर्म बंध,उदय और क्षय की ही प्रक्रिया दिखाई देगी। जी..हां..न केवल भगवान की अपितु हमारी सबकी एवं संसार के छोटे बडे समस्त जीवों की स्थिति एकमात्र कर्माधीन है। अतः संपूर्ण धर्मशास्त्रों का सारांश इसी संदर्भ में है कि कर्मबंध की परिस्थिति से कैसे बचें? यदि बंध चूके हैं तो कैसे क्षय करें? यदि उदयपथ में आ चूके हो तो आप उस परिक्षा की घडी में किस स्थिति में हो? बस, फिर आप बाजी जीत जाएंगे। इस हेतु से ही शास्त्र आपको मार्गदर्शन कर रहे हैं। अतः कर्मों को पहचानों, जी..हां..कर्मों को पहचानों के तो ही आप अपना आत्मा को भी पहचान सकोगे और अपने आत्म स्वरुप को भी पहचानना चाहते हो तो भी कर्म का स्वरुप पहचानना अनिवार्य है।

काफी गहन मंथन करने पर कर्मसिद्धान्त की अनिवार्यता को अग्रिमता देकर स्वयं स्वयं समझने एवं सबको समाने का माध्यम प्रवचन एवं पुस्तक दोनों को अपनाया । सुरत के चातुमांसमें ब्लेक बॉर्ड पर सचित्र शैली के प्रवचनों से कर्म सिद्धान्त को अभ्या पद्धति से समझाया । इसीके संकलन से कर्म तणी गति न्यारी पुस्तक का जन्म हुआ। तत्पश्चात् जयपुर के चातुर्मासमें इसी विषय को हिन्दी भाषामें द्वितीय संस्करण संस्थाने छपाया था आज यह हिन्दी का ही तृतीय संस्करण संस्था प्रकाशित कर रही है। प्रथम भागमें ८ में से १ कर्म का विवेचन किया है। जबकि शेष ७ कर्मों का विवेचन दूसरे दो भागों में प्रकाशित होगा। इस तरह तीन भागों में ८ कर्मों का संक्षिप्त स्वरुप पुस्तकाकार रुप में **श्री महावीर रिसर्च फाउन्डेशन - वीरालयम्** नामक शिक्षाप्रेमी संस्था ने प्रगट किया है। आधुनिक संगणक युग की सुविधा ने इसकी शोभा जरुर बढाई है। **मुनि हेमन्तविजय महाराज** ने शुद्धिकरण करके इसे सुपाठ्य बनाया है,अतः सभी धन्यवाद के पात्र है। कर्म का यह विषय महासागर से भी काफी ज्यादा गहरा है। सचमुच यह एक गहरी शोध का विषय है। मैंने तो इस दिशा में प्रस्तुत पुस्तक के माध्यम से संकेत मात्र ही किया है। जी..हा...समझदार को इतना पर्याप्य है। आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास भी रखता हुं कि प्रस्तुत पुस्तक पाठकों -वाचकों को कर्म के महासागर में गोताखोर बनने में प्रथमिक प्रवेश दिलाने में सहायक बनेगी। मैं साद्यन्त अभ्यासार्थ प्रार्थना करता हुं। जिज्ञासार्थ शंकाएं-प्रश्न आवकार्य रहेंगे। सुझावों का स्वागत होगा। जी..हां..कर्म को समझीए, पहचानीए, बस फिर इनसे बचीए। क्षय करीए और मुक्त बनीए यहि शुभ कामना।

।। सर्वेपि कर्म रहिताः भवन्तु ।।

अरुणविजय

वीरालयम् जैन तीर्थ - कात्रज - पुना

आर्यावर्त - भारत देश के महाराष्ट्र राज्य की पुण्य भूमि संस्कार नगरी - विद्या का धाम, लघु काशी के रुप में प्रसिद्ध पुण्यपत्तन - पुना शहर है। पुना की दक्षिण दिशा में कात्रज घाट की विशाल पर्वतमाला दक्षिण भारत के प्रवेश द्वार के रुप में प्रसिद्ध है। घाट प्रदेश की पर्वतमाला की पहाडी भूमि पर वीरालयम् जैन तीर्थ निर्माण हो रहा है। निसर्गरम्य प्राकृतिक सौंदर्य से सुशोभित पहाडी भूमि जहां शुद्ध हवा-पानी शान्त वातावरण है। खुशनुमा हवाखाने के गिरि मथक चखछख क्खडड डढअढखजछ स्वरुप वीरालयम् यह सेवा-शिक्षा- और साधना के त्रिवेणी संगम स्वरुप अन्तराष्ट्रीय जैन केन्द्र है। है।

वास्तु शास्त्र, शिल्पशास्त्र तथा निसर्ग के नियमों का पालन सुव्यवस्थित करते हुए सुंदर तीर्थ आकार ले रहा है ।

श्री वर्धमान समवसरण ध्यानालयम् महाप्रासाद :-

समवसरण यह तीर्थंकर परमात्मा को केवलज्ञान की प्राप्ति के प्रसंग पर केवलज्ञान कल्याणक मनाते समय देवताओं द्वारा निर्मित धर्मसभा के दृश्य समान है। सर्वज्ञ बने हुए भगवान समस्त जीवों को देशना देंगे। ऐसे समय पर देवलोक के देवी-देवता, मनुष्य गति के नर-नारी तथा तिर्यंच गति के पशु-पक्षी आदि तीन गति के जीव देशना श्रवण करने के लिए आते हैं। ये सब सेंकडों की संख्या में आते हैं। वे सब कहां कैसे बैठेंगे ? भगवान स्वयं कहां किस तरह बिराजमान होंगे? इत्यादि सब बातों का पूरा ध्यान रखकर देवता ३ खंड का विशाल धर्मसभा भवन बनाते हैं, उसे समवसरण कहते हैं। समस्त विश्व में एक मात्र तीर्थंकर भगवान के लिए ही ऐसा भव्य विशाल समवसरण बनता है। तीर्थंकर के सिवाय जगत में अन्य किसीके लिए भी नहीं बनता है। यह सबसे विशेषता है।

चौथे आरे में समवसरण बनते थे। तीर्थंकरों की अनुपस्थिति में पांचवे आरे में न तो भगवान होते हैं और न ही समवसरण बनते हैं। केवलज्ञान के कल्याणक की उजवणी के प्रबल निमित्त रुप ऐसे समवसरण का इतिहास हजारों वर्षों पश्चात आज भी सबकी स्मृति में ताजा बना रहे इस उत्तम भावना से समवसरण को ही मंदिर महाप्रासाद का रुप देकर प.पू. पं.श्री अरुणविजयजी म.सा. ने वीरालयम् जैन तीर्थ में श्री वर्धमान समवसरण ध्यानालयम् महाप्रासाद निर्माण करने की अनोखी योजना बनाई है। जिसे वीरालयम् ट्रस्ट की तरफ से निर्माण किया जा रहा है। जो समुद्र तल से करीब ७०० फीट की ऊंचाई पर बन रहा है। भूमि की पवित्रता तीर्थ

निर्माण के लिए काफी योग्य है।

पहाडी की चोटी पर करीब २००X२०० फूट के विशाल व्यास में बन रहा है। तदनुसार सुमेरपुर के शिल्पशास्त्रज्ञ सा. गंगाधरजी किस्तुरजी सोमपुरा को समझाकर शिल्प शास्त्रीय नक्षा बनवाया। जिससे पू.गुरुदेव के ध्यानानुसार एवं दिव्य संकेतानुसार एक अद्‌भूत समवसरण महाप्रासाद का प्लान तैयार हुआ।

विश्व में आज की दूनिया में समस्त अवनितल पर कहीं भी नहीं है ऐसा सर्वप्रथम कक्षा का विशाल एवं भव्य समवसरण महाप्रासाद का निर्माण कार्य प्रारम्भ हुआ है। बंसीपहाडपुर के गुलाबी पाषाण राजस्थान की धरती से पुना तक लाया जा रहा है। एवं वृत्ताकार प्रकार का ३ गढ का भव्य समवसरण का कार्य प्रारम्भ हुआ है। सुयोग्य श्रेष्ठ मुहूर्त पर भूमिपूजन-खांतमुहूर्त-शिलान्यास विधान हुआ। अनेक भाग्यशालीयों तथा श्री संघों ने लाभ लिया।

३ गढ के इस महाप्रासाद में प्रत्येक गढ में चारों दिशा में चार प्रवेश द्वार है। इस तरह कुल १२ प्रवेश द्वार, १२ चोकीयें बनेगी। सुंदर तोरण युक्त विशाल प्रवेश द्वारों से सुशेभित प्रासाद के उपर अशोक वृक्षाकार सामरण बनेगा।

५४ द५४ फूट के विशालतम गम्भारे में गादी परिकर युक्त ३० X १४फूट की बडी विशाल मूर्तियां बन रही है। केन्द्रस्थ गम्भारे में समवसरण के ३ गढ आकार का पबासण बनेगा। १०५ इंच की बडी भव्य ४ प्रतिमा विशाल परिकर के साथ प्रतिष्ठित होगी। विश्व में सर्वप्रथम बार ही इतनी विशाल अनोखी अद्‌भूत मूर्तियां बनेगी। मरगज रत्न के विविध रंगो में अनेक रंगो की रंगीन मूर्तियां बन रही है।

करीब १०८ फूट की ऊंचाई पर विशाल ध्वजा लहराएगी। एक तीर्थ अभिनव रुप ले रहा है।

आनेवाले यात्रिकों के लिए ऊपर जाने का करीब ३० फूट चौडा रास्ता बना हुआ है। बस तथा गाडीयां ऊपर जा सकती है। पहाडी की तलेटी में वीशस्थानक यन्त्रमय महाप्रासाद के दर्शन करके यात्री पहाडी की चोटी पर पहुंचेंगे। वहां श्री वर्धमान समवसरण ध्यानालयम् महाप्रासाद बन रहा है। इस अभिनव तीर्थ की यात्रा करने का लाभ यात्रीगण लेंगे। आइए....पधारीए.....वीरालयम् जैन तीर्थ की यात्रा करने पधारीए.....।

वीरालयम् जैन तीर्थ

मुंबई-पुना, कात्रज बायपास, आंबेगांव (खुर्द) पो. जांभुलवाडी - पुणे -46 PUNE-411046
Mo.- (0) 9527428218 / (0) 8108395673 /

ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम एवं क्षय

ज्ञानाद्विदन्तिखलु कृत्यमकृत्यजातं, ज्ञानाच्चरित्रममलं च समाचरन्ति ।
ज्ञानाच्च भव्य भविनः शिवमाप्नुवन्ति, ज्ञानं हि मूलमतुलं सकलश्रियां तत्।।

ज्ञान की विशिष्ट महिमा बताते हुए महापुरूषों ने प्रस्तुत श्लोक में कहा है कि- कृत्य और अकृत्य अर्थात् करने योग्य क्या है और न करने योग्य क्या है इसका विवेक मनुष्य ज्ञान से ही प्राप्त करता है । ज्ञान से करणीय अकरणीय को जानता है। ज्ञान से ही निर्मल पवित्र चारित्र का आचरण किया जाता है। ज्ञान से ही भव्य जीव मोक्ष को प्राप्त करते हैं। ज्ञान ही सर्व प्रकार की श्री-शोभा का मूल कारण है। जगत् की अतुल लक्ष्मी का मूल ज्ञान है। इस तरह ज्ञान की महिमा बड़ी भारी है। ज्ञान तीसरे नेत्र के समान है। जैसे सूर्य अपने प्रकाश से चमकता है वैसे जीव अपने ज्ञान से चमकता है, अतः ज्ञान भी दूसरे दिवाकर-सूर्य के समान गिना जाता है। यह ऐसा आभूषण है कि जिसकी जगत में कोई चोरी नहीं कर सकता। सोने हीरे के आभूषण की चोर चोरी कर सकता है परंतु आत्मस्थ ज्ञान की चोरी कोई नहीं कर सकता । कुमत अंधकार को दूर करने वाला ज्ञान है। ज्ञान जगत्चक्षु-लोचन गिना जाता है। भ्रम-संशयादि का निवारण ज्ञान से होता है। नीति रूपी नदी के निकलने का मूल पर्वत ज्ञान है। ज्ञान ही कषायों का शमन करने में समर्थ है। ज्ञान ही पाप निवृत्ति का मूल मन्त्र है। मन को पावन-पवित्र करने वाला ज्ञान है। चंचल मन को स्थिर करने में सहायक ज्ञान है। स्वर्गापवर्ग के सोपानों की सीढी रूप ज्ञान है और ज्ञान ही मोक्ष तक पहुंचाने की सीढी है। इस तरह ज्ञान की महिमा अपरंपार है। जितनी महिमा गाए उतनी कम ही है। यहां तक कहा है कि -

बहु क्रोडो वरसे खपे, कर्म अज्ञाने जेह ।
ज्ञानी श्वासोच्छवासमां, कर्म खपावे तेह ।।

अज्ञान दशा में जिन कर्मों को खपाने में, क्षय होने में करोड़ो वर्ष लगते हैं। उन कर्मों को ज्ञानी महात्मा श्वासोच्छ्वास परिमित काल में क्षय कर लेते हैं। अतः अज्ञान साधना कष्ट साध्य है। ज्ञान साधना सहज साध्य बननी चाहिए। ज्ञान-योग की गरिमा है। योग साधना साधक ने साध्य कर भी ली परंतु उसमें ज्ञान नहीं आया तो वह साधना बिना सुगंध के पुष्प की तरह शुष्क बन जाती है। अतः करोड़ों भवों के संचित पाप कर्मों को ज्ञानी श्वासोच्छ्वास परिमित काल में क्षय कर सकता है। इसलिए दर्शनोपासना, चारित्राराधना, तपाराधना में यदि ज्ञान मिश्रित होता है,

इसलिए दर्शनोपासना, चारित्राराधना, तपाराधना में यदि ज्ञान मिश्रित होता है, मिलता है तो सोने में सुगंध की तरह उसकी कींमत हजार गुनी बढ़ जाती है। अन्यथा ज्ञानाभाव में चारित्र साधना तथा तपाराधना आदि कष्टसाध्य बन जाती है।

ज्ञानी ज्यादा है कि अज्ञानी ?

समस्त संसार के जीवों का सर्वेक्षण किया जाय तो संसार में ज्ञानी ज्यादा मिलेंगे या अज्ञानी? सुखी ज्यादा मिलेंगे या दुःखी? पापी ज्यादा मिलेंगे या पुण्यशाली? धर्मी ज्यादा मिलेंगे या अधर्मी? उसी तरह मिथ्यात्वी ज्यादा मिलेंगे या सम्यक्त्वी? आप को आश्चर्य होगा कि इन सब प्रश्नों के उत्तर में - अज्ञानी, दुःखी, पापी, अधर्मी, तथा मिथ्यात्वीयों की संख्या बहुत ज्यादा थी और है और रहेगी। ज्ञानी जगत् में गिने गिनाए ही मिलेंगे। सुखी पुण्यशाली तथा धर्मी एवं सम्यक्त्वी जीव भी संसार में गिने गिनाए ही मिलेंगे। यह संख्या बहुत अल्प है। अज्ञानियों की लम्बी-चौड़ी संख्या के सामने ज्ञानियों की संख्या नगण्य है-सीमित है। काफी अल्प है। इतना ही नहीं भूतकाल में भी बहुत अल्प थी, वर्तमान में और भी ज्यादा अल्प हो गई है। तथा भविष्य में कभी भी धर्मियों की, ज्ञानियों की, सम्यक्त्वीयों की तथा पुण्यशालियों की संख्या अधर्मी, अज्ञानी, मिथ्यात्वी या पानी जीवों से बढ़ने वाली भी नहीं है। "न भूतो न भविष्यति" जैसी बात है। कर्मक्षय करने वालों की अपेक्षा कर्म बंध करने वालों की संख्या अनेक गुनी ज्यादा ही रही है। यह स्थिति त्रैकालिक है। तीनों काल में यही स्थिति रहती है। शायद आप सोचेंगे कि क्यों? क्या कारण है? कारण आंखो के सामने स्पष्ट प्रत्यक्ष ही है कि-पाप प्रवृत्ति जीवों की ज्यादा है। पापकर्म का बन्ध ज्यादा है अतः परिणाम क्या आएगा? कर्म बंध के कारण जब कर्म उदय में आएगा तब आत्मा के ज्ञानादि गुणों का आच्छादन हो जाएगा। सारी प्रवृतियां कर्माधीन ज्यादा हो जाएगी। अज्ञान क्या है? मिथ्यात्व क्या है? आत्मा के ज्ञान गुण को ढ़कने वाले ज्ञानावरणीय कर्म के कारण अज्ञान उदय में है। दर्शन मोहनीय कर्म के कारण यथार्थ श्रद्धा का गुण ढक गया, दब गया अतः मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत ज्ञानादि सामने व्यवहार में प्रचलित है। अतः ज्ञानादि की आत्मगुणानुरूप प्रवृत्ति नहीं चल रही है। अपितु जीव ज्ञानावरणीय कर्म जन्य सारी प्रवृत्तियां कर रहा है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मावरणों से आत्मा के ज्ञानादि गुण ढक जाने के बाद अज्ञान-अल्पांश में ज्ञान की प्रभा-छाया जो प्रकट होगी उसी के आधारपर जीव प्रवृति करेगा। उदाहरणार्थ तेजस्वी सूर्य जब बादलों से ढक जाएगा फिर क्या होगा? जितनी आभा-जितना कम प्रकाश रहेगा जीव उसी में गति-आगति प्रवृत्ति करेंगे। ठीक उसी तरह ज्ञान गुण को जीवने ही वैसे पाप कर्म करके ढक ही दिया है। अतः सारी विवेक दशा भूल गया। ज्ञानाचार धर्म भूल गया। अब उस पाप

की सजा को भुगतता हुआ अज्ञानी, अविवेकी की तरह प्रवृत्ति करता है।

ज्ञानावरणीय कर्म बांधने की पाप प्रवृत्ति :-

पडिणीयत्तण निन्हव उवघायपओस अंतराएणं ।
अच्चासायणाए आवरण दुगं जिओ जयइ ।।५४।।

तत्प्रदोषनिह्नव मात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ।।६-१२।।

प्रथम कर्मग्रंथ के ५४ वें श्लोक तथा तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के ६-१२ सूत्र में ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्म बांधने के आश्रव बताए गए हैं। कैसी-कैसी पाप प्रवृत्ति करने से जीव किस तरह ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय दोनों कर्म बांधते हैं? वह प्रवृत्ति इसमें दर्शाई गई है। पडिणीयत्तण = प्रत्यनीकत्व-अनिष्ट आचरण करने से, अर्थात् ज्ञानवान् ज्ञानी महापुरुषों के प्रति प्रतिकूल आचरण करने से, उनके विपरीत व्यवहार करने से, ज्ञानी महापुरुषों के प्रति द्वेषभाव, या दुश्मनावटता की वैमनस्य भरी वृत्ति रखकर प्रत्यनीक अर्थात् शत्रुता रखने से जीव ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय दोनों कर्म बाधता है। निन्हव अर्थात्-अपलाप करना । किसी के पास पढ़कर भी मैं इनके पास नहीं पढ़ा हूँ, यह छिपाने की अपलाप की वृत्ति निन्हव वृत्ति है। उसी तरह अमुक विषय को जानता हुआ भी मैं नहीं जानता हूँ। इस तरह ज्ञानी और ज्ञान दोनों को छिपाकर अपलाप करने वाला, तथा मृषावाद-असत्य सेवन करने से, झुठ बोलने से, उवघाय-उपघात-विनाश करने से, ज्ञान तथा ज्ञानियों का नाश करना, उन्हें नुकशान पहुंचाना, तथा ज्ञानोपकरण-साधन-पुस्तक, विद्या के साधन पाटी, पोथी, स्थापनाजी (ठवणी) सापडो, पेन-कलम, कागज, कोपी, माला इत्यादि ज्ञान के जो उपयोगी उपकरण हों उनकी आशातना, या अनादर करने से ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है, ज्ञान के साधनों के प्रति भी आदर-सद्भाव तथा रुचि पूर्वक विनय रखना चाहिए अन्यथा अनादर अविनय से भारी कर्म बंध होता है, उसी तरह ज्ञानी महात्मा के प्रति भी अनादर असद्भाव या अविनय की वृत्ति नहीं रखनी चाहिए। पओस = प्रद्वेष वृत्ति - ज्ञान तथा ज्ञानोपकरण एवं ज्ञानी महात्मा के प्रति प्रद्वेष वृत्ति रखने से भी कर्म बंध भारी होता है। अखबार आदि पर बैठ जाना, बिछाकर सो जाना या अखबार या ज्ञान के अक्षर लिखें हो ऐसी कॉप के पत्ते, पत्र-पत्रिका या पुस्तक के पत्तो में खाना, या उन पत्तों से बच्चे के मल-मूत्रादि साफ करना, या फाड़कर कहीं फेंक देना आदि से, तथा जलाना, कॉपी-पुस्तक-अखबार-पत्ते आदि जलाकर उपयोग में लाना इत्यादी से भारी कर्म बंध होता है। ज्ञानी विद्यादाता गीतार्थ गुरु आदि की आशातना, उन्हें सताना, उनकी निंदा करना, उनकी अपकीर्ति करना, उनके बारे में विपरीत प्रचार करना या लिखना आदि प्रद्वेष

वृत्ति से जीव भारी कर्म बंध करता है। अन्तराएणं-अन्तराय करना = विघ्न डालना, पढ़नेवाले को पढ़ने न देना, अभ्यास करने वाले को माया कपट से या ईर्ष्या बुद्धि से उसे पढ़ने न देना, काम करने के लिए कहना, उसकी पुस्तक कॉपी आदि छिपा देना, फाड़ के फेंक देना, चुरा लेना, अभ्यासु को परेशान करना, इत्यादि रीत से पढ़ने वाले की पढ़ाई के बीच अन्तराय-विघ्न करने से जीव भारी ज्ञानावरणीय कर्म उपार्जन करता है। अच्चासायणाए-अति आशातना करनी, किसी ज्ञानी विद्वान की अत्यंत ज्यादा आशातना करनी, हल्के तरीके से उन्हें गाली देना, नीच कुल का कहना । उन पर हलके दोषारोपण करना मात्सर्य वृत्ति से उनके खिलाफ प्रवृत्ति करना, उन पर कलंक लगाना, आरोप डालना, अभ्याख्यान तथा पैशून्य वृत्ति से दोष न होते हुए भी दोषारोपण करना यह ज्ञानी विद्वान की घोर आशातनासे महाभारी पाप कर्म उपार्जन करता है। ज्ञानियों के प्रति मर्मच्छेदी बातें बनाना, या उनके आहारादि में मिलावट करना, या मारणान्तिक प्राणान्त कष्ट पहुंचाना, या किसी भी तरह उन्हें संताप तथा मनोद्वेग पहुंचाना यह भारी पाप कर्म है। इसी तरह निषिद्ध देश-काल में अकाल में अध्ययन करना, अधिकार न होते हुए भी शास्त्रादि पढ़कर अनधिकार चेष्टा करना, सूत्र सिद्धांत का अपलाप करके उल्टे अर्थ करना, उत्सूत्र प्ररूपणा करनी, किसी को भी गलत सलाह देकर उल्टे मार्ग पर ले जाना, शास्त्रों के अर्थ विपरीत समझना, कुतर्क करके सिद्धान्तों को झूठे साबित करना, ज्ञानोपकरण के प्रति अविनयी बुद्धि से पैर लगाना, थूंक लगाना, या अन्य गन्दी वस्तू से दूषित करना आदि, अकाल-काल समय में पढ़ना, तथा ऋतुस्त्राव (ा.ल.) में पढ़ना-लिखना आदि, तथा पुस्तकों का तकिया बनाकर सोना, बैठना, ईर्ष्या वृत्ति से पुस्तक पढ़ने के लिए दूसरों को न देना, अपनी समझ शक्ति अच्छी होते हुए भी दूसरों को न समझाना, न सिखाना, विद्या को छिपाकर रखने से, न बताने से, न सिखाने से या गुप्त रखकर नाश करने से या कुपात्र को देने से, तथा उदर पूर्ति के लिए धर्मग्रंथ शास्त्रादि बेचकर आजीविका चलाने से, पस्ती-कचरे में बेच देने से, या शास्त्र ग्रंथो की सुरक्षा न करने से उन्हें दीमक आदि लगने से न बचाने से इस तरह अनेक तरीकों से ज्ञान-ज्ञानी तथा ज्ञानोपकरण साधनों की आशातना करने से घोर ज्ञानावरणीय कर्मबंध होता है। जिसके परिणाम स्वरूप बड़ी भारी सजा भुगतनी पड़ती है।

ज्ञानावरणीय कर्म की सजा :-

तीव्र पापवृत्ति से उपरोक्त बताए हुए कारणानुसार यदि ज्ञान-ज्ञानी तथा ज्ञानोपकरण की आशातना आदि करके भारी ज्ञानावरणीय कर्म उपार्जन किया हो तो वह कर्म अपने निश्चित समय पर जरुर उदय में आयेगा । जीव ने स्वयं कर्म बांधा है, उसकी स्थितिकाल अवधि नियत है अतः कर्म की उदय में आने की अवधि होते ही

वह कर्म उदय में आयेगा। पाप की सजा बड़ी भारी होती है। जैसे कर्म बांधे है वैसे फल सामने आएंगे। यह तो कर्म सिद्धांत का नियम है कि -ओ्रीूीिुी ीहरश्रश्रीूी ीशरि जैसा बीज बोएंगे वैसा फल पाएंगे। बबूल बो कर आम के फल नहीं पा सकेंगे। आपको आम खाने की इच्छा है तो आप पहले से ही आम की गुठली बोइए तो आम खाने को मिलेंगे। जैसा करेंगे वैसा भरेंगे। यही कर्म सत्ता का नियम है। अतः यदि आपने ज्ञान-ज्ञानी की आशातना करके भारी पाप कर्म उपार्जन किया की है तो उसकी सजा भोगनी ही पड़ेगी। ज्ञानावरणीय कर्म का स्वभाव ही अज्ञान प्रदान करने का है। ज्ञान गुण को ढ़कने का ही है। जैसे एक देखते हुए व्यक्ति के आंखो पर पट्टी बांध दी जाय तो परिणाम क्या आएगा ? वह देखने की शक्ति होते हुए भी नहीं देख पाएगा। अंधे की तरह दीवार के, लकड़ी के सहारे चलने की क्रिया करेगा। उसी तरह ज्ञानावरणीय कर्म जब उदय में आयेगा तब उस जीव को पांच ज्ञानेन्द्रियों से विकल बनाएगा। स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय, श्रवणेन्द्रिय (कान) इन पांचो ज्ञानेन्द्रिय की विकलता पैदा करेगा। इनकी शक्तियां क्षीण कर देगा या नष्ट भी कर देता है। परिणाम यह आता है कि कोई जन्म से ही अन्धा बनता है, मूक-मूंगा बधिर-बहेरा, बनता है। किसी के कान ही नहीं बना है। किसी के होठ नही बने है। किसी को सारी चामड़ी पर कुष्ट रोग है। तो कीसी को खुजली है। कोई जन्म से ही मानसिक रोगी बनते है। बुद्धी नहीं मिलती या बुद्धि भारी कम मिलती है। जिसके कारण या तो पढ़ाई में लगता ही नहीं है या पढ़ाई से जी उठ जाता है। पढ़ने की रूचि ही नहीं होती। या पढ़े तो समझ में ही नही आता या समझ में थोड़ा भी आता है तो याद नहीं रहता। ज्ञानावरणीय कर्म के कारण स्मृति-स्मरणशक्ति-यादशक्ति नष्ट हो जाती है। मिलती ही नहीं। कईयों को एक अक्षर याद भी नहीं रहता। कईयों का दिमाग काम ही नहीं करता। दिमाग का विकास ही नहीं होता। अविकसित दिमाग और बुद्धि मानसिक विकलता है। कई मूर्ख तथा पागल बनते हैं। कई मुख रोगी तथा देह रोगी बनते है। जिस डाल पर बैठा हो उसी डाल को काट रहा हो ऐसी मूर्खता देखने को मिलती है। या कालान्तर में ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो ऐसे रोग उत्पन्न होते हैं। मनुष्य लड़खड़ाता है, या बिस्तर में पड़ा रहता है। बेशुद्धि भी जीवनमें आती है। बेभान अवस्था में पड़ रहता है किं कर्तव्य मूढ बन जाता है। विवेक दशा नष्ट हो जाती है। अविवेकी निरर्थक प्रलाप करने

वाला बनता है। इस तरह ज्ञानावरणीय कर्म के उदय में आने से ऐसी विचित्र दशा बनती है। बड़ी भारी दुःखी तथा दयनीय स्थिति पैदा होती है।

पुस्तकादि जलाने का परिणाम :-

एक परिवार के बच्चे स्कूल पढ़ने जाते थे । बच्चे स्वभाव से शरारती होते हैं। पढ़ाई करने के बजाय शरारत की होगी । और जब शिक्षक ने पूछने पर कुछ भी नहीं आया तब शिक्षक ने थोड़ी सी पिटाई की । बच्चे रोते-रोते घर आएं। मां ने देखा बच्चे रो क्यों रहे हैं? पूछने पर पता चला कि शिक्षक ने मारा है, अतः रो रहे हैं। मां को बड़ा गुस्सा आया-तेरा भला हो! बच्चे मेरे, मुझे प्यारे, और शिक्षक मारने वाला कौन होता है? यह नहीं चलेगा। इतना कहते हुए मां ने बच्चों के हाथ से कॉपी-पुस्तक-पाटी-पेन सब लेकर रसोई घर में जलती सिगड़ी में डालकर जला दिया और बच्चों को कहा बैठ जाओ घरमें, खुशी से खेलो, बस कल से स्कूल जाना ही नहीं। कुछ भी पढ़ना ही नहीं। छोड़ दो पढ़ना। खेलो-कूदो-मजा करो। यह सब कुछ चल ही रहा था कि पतिदेव घर में आए। उन्होने यह देखा, उन्हें बड़ा भारी दुःख हुआ। पत्नी से कहा- अरे ! तूंने ये क्या कर दिया? पुस्तकें जला दी । कॉपी-पाटी सब जला दिया। अब बच्चे पढ़ेंगे कहां से? और मास्तर ने मार भी दिया तो क्या हो गया। उस कहावत को याद करो- ''सोटी वागे चमचम तो विद्या आवे रूमझूम''। हल्की सी लगा भी दी तो कौन सा बुरा कर दिया। ऐसे ही पढ़ेंगे ।

पत्नी ने कहा - नहीं यह नहीं चलेगा। बच्चें मेरे हैं, दूसरे को मारने का अधिकार नहीं है।

पति - अरे हां ! बच्चे तो तेरे ही रहेंगे। यूं तो पढ़ाई के लिए मारना भी पड़ता है। तो विद्वान बनेंगे।

पत्नी - नहीं यह नहीं चलेगा। तो फिर आप ही घर में पढ़ाओ। बच्चें कल से स्कूल नहीं जाएंगे।

पति - अरे ! राम-राम ! मैं ही घर में पढ़ाने बैठ जाऊंगा तो पैसा कमाने कौन जाएगा? फिर रोटी कहां से खाएंगे? इसलिए स्कूल जाने दे। पढ़ने दे। नहीं तो मूर्ख रह जाएंगे। फिर भविष्य में इन्हें अनपढ़ देखकर कोई कन्या नहीं देगा । शादी नहीं होगी। हमारे लिए जिंदगी भर दुःख रहेगा।

आखिर पत्नी नहीं मानी। बच्चों को स्कूल नहीं जाने दिया। पढ़ने नहीं दिया। देखते ही देखते १५-२० वर्ष बीत गए। बच्चे अनपढ़ गवार रह गये। अब शादी की बात आई। कोई कन्या नहीं दे रहा था। पति ने पत्नी से कहा ले-देख, अब सीर पर हाथ रखकर रोती रह! बच्चें मुर्ख रहे है अब क्या हालत होगी?

पत्नी - तुम जानो और तुम्हारे बच्चे जाने। मैं क्या करूं? दोष तुम्हारा है तुमने

क्यों नहीं पढ़ाया ?

पति – अरे! तू मेरे उपर दोषारोपण करती है ? मै ने तो पढ़ाने के लिए बहुत कहा था। परंतु तु जिद्द पर रही, तु ने पढ़ने नहीं दिया। पुस्तके कॉपीयां सब जला दी थी, और अब मुझे सुना रही है... पगली कहीं की।

पत्नी – पागल तुम .... और पागल तुम्हारा बाप ! मुझे पगली कहने वाले तुम कौन ? तुम जानो तुम्हारा नसीब जाने । मैं क्या करू ? मेरा क्या कसुर है। गाली गलौच शुरू हो गई। पत्नी बड़ी विचित्र झगडालू थी उसिने गालीयों की बरसात बरसाई। पति को गुस्सा आया। यह सब कुछ बर्दाश्त नहीं कर सका। पति ने पास में पड़ा हुआ पत्थर उठाया और पत्नि के सिर पर मारा, सिर फूट गया। खून की धारा बहने लगी। पत्नी मर गई। दूसरे जन्म में (पत्नी का जीव) वह गुणमंजरी नामक कन्या के रूप में किसी के घर में जन्मी। गत जन्म की ज्ञान तथा ज्ञानोपकरण–पाटी–पुस्तक–कॉपी आदि जलाने का परिणाम यह आया कि आज इस जन्म में वह जन्म से गूँगी–बहरी बनी। यह बांधे हुए ज्ञानावरणीय कर्म की भारी सजा थी। उसी तरह पति का जीव भी दूसरे जन्म में किसी के घर में पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ । वरदत्त कुमार नाम रखा गया । वह भी जन्म जात गूंगा–बहरा। दोनों बड़े हुए, शादी कहां से हो ? जन्म जात निरक्षर भट्टाचार्य रहे। इस तरह बांधे हुए ज्ञानावरणीय कर्म का भारी उदय जब सामने आता है तब सजा कैसी मिलती है ? आप जानते ही है कि पाप की सजा बड़ी भारी होती है, और कर्म की गति न्यारी होती है।

ज्ञानावरणीय कर्म का परिणाम :–

ज्ञान की आशातना, ज्ञानी की आशातना, ज्ञानोपकरण पुस्तकादि साधनों का इतना अनादर करना आदि अशुभ पाप प्रवृत्ति करने से यही सजा सामने आती है । बांधे हुए ज्ञानावरणीय कर्म जब उदय में आते है तब उसकी सजा ठीक वैसी ही मिलती है। ज्ञान प्राप्त नहीं होता। बुद्धि पूरी अच्छी नहीं मिलती। ज्ञानेन्द्रियां पूरी प्राप्त नहीं होती। आंख से अन्धे हों, या आंखे कमजोर हों, आंख से पूरा साफ दिखाई न दे। या आंखों के विविध रोग उत्पन्न हो, या कानापन मिले। इस तरह आंखो की विकलता इस ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से प्राप्त होती है। उसी तरह मुख रोग होते है। मुख से पुरा बोला ही न जाय, तोतडा–बोबडा बने, अक्षर पूरे उच्चारित न हो, या सर्वथा बोल ही न सके वैसा गूंगा हो जाय, या टेढ़ा–मेढ़ा मुह मिले। या कर्ण रोगी हो। कानों से साफ सुनाई न दे, या बहरापन जन्म से मिले या बाद में आवे। ज्ञान तंतु पूरे खीले ही न हो, स्मरण शक्ति का अभाव होता है। पढ़ा हुआ याद ही न रहे, सुना–देखा हुआ याद न आवे। बुद्धि काम ही न करें। पढ़ने में रुची ही न लगें, पढ़ाई की ईच्छा ही न हो। पढ़े तो निंद आवे, सिर दर्द करने लगे। पढ़ा हुआ सब भुल जाय,

यादशक्ति बिल्कुल न हो, या चंचल वृत्ति वाला बनता है। अनपढ़ ही रह जाय। या थोड़ा पढ़कर आगे न पढ़ शके। मन्दमति बनता है। मानसिक रोगी बनता है। दिमाग से विकल बनता है। मूर्ख-पागल बनता है। अविचारी कार्य करने वाला बनता है। अज्ञानी बुद्धु बनता है। किं कर्तव्यमूढ़ बनता है। अविवेकी होता है। जिससे सारासार, हेय-झेय उपादेय का विवेक नहीं रहता। पांचो ज्ञानेन्द्रियां कम ज्यादा विकल प्राप्त होती है। शरीर के अंगोपांगादि पूर्ण संपूर्ण नहीं मिलते। सावयव सर्वांग सम्पन्न नहीं बनता। न्यूनाधिक अंगोपांग से कुरूप भद्दा बनता है। लोक में निंदनीय बनता है। विद्या चढ़े ही नहीं। अशिक्षित एवं असभ्य वर्तन वाला बनता है। कर्कश खराब भाषा बोलने वाला बनता है। गाली-गलौच की गंदी भाषा बोलने वाला होता है। ज्ञान-ज्ञानी के प्रति अविनयी-अनादर वृत्ति वाला बनता है। इस प्रकार ज्ञान-ज्ञानी तथा ज्ञानापकरण आदि की घोर आशातना पूर्वक अशुभ पाप वृत्ति तथा प्रवृत्ति से उपार्जित किये हुए ज्ञानावरणीय कर्म के उदय में आने से अन्ध-मूक-बधिर आदि के रूप में दुःख सामने आता है। जीव वैसा बनता है। किये हुए कर्मानुसार फल भोगता है।

पांच ज्ञान के पांच ज्ञानावरणीय कर्म :-

आत्मा अनन्त ज्ञानमय है, जहां-जहां आत्मा है वहां-वहां ज्ञान निश्चित है भले ही वह अल्प या अधिक प्रमाण में हो। पर आत्मा ज्ञानमय है। ज्ञान रहित नहीं है। परन्तु ज्ञान-ज्ञानी तथा ज्ञानोपकरण की आशातना-विराधना करके जीव ने खुद ने जो ज्ञानावरणीय कर्म उपार्जन किये हुए होते हैं उसके परिणाम स्वरूप आत्मा का ज्ञान गुण ढ़क जाता है, दब जाता हैं। जिसके कारण ज्ञान गुण प्रकट नहीं होता है। पांच प्रकार के ज्ञान है तो पांचो प्रकार के कर्म है। अतः कर्म किसी अलग स्वतंत्र नाम से नहीं पहचाने जाते परन्तु आत्मा के उन गुणों के आच्छादक आवरक के रूप में ही पहचाने जाते हैं।

(१) मतिज्ञान का आवरक - मतिज्ञानावरणीय कर्म।

(२) श्रुतज्ञान का आवरक - श्रुतज्ञानावरणीय कर्म।

(३) अवधिज्ञान का आवरक - अवधिज्ञानावरणीय कर्म।

(४) मनःपर्यवज्ञान का आवरक - मनःपर्यवज्ञानावरणीय कर्म।

(५) केवलज्ञान का आवरक - केवलज्ञानावरणीय कर्म।

इस तरह पांच ही ज्ञान के प्रकार है अतः पांचों ज्ञान के आवरक-आच्छादक (ढ़कनेवाले) का कार्य करते हैं। ये पांचो ही ज्ञानावरणीय कर्म अपने अपने ाान को ढ़कने का कार्य करते हैं। चित्र में बताए अनुसार आत्मा जो कि अनंत ज्ञानवान है उस पर पांच आवरण रूप परदे चारों तरफ से डाले जाय। जैसे एक तेज

लाइट के गोले पर यदि पांच परदे डाल दिये जाय तो उन परदों में से कितना प्रकाश बाहर निकलेगा ? ठीक उसी तरह आत्मा के अनंत ज्ञान गुण को इन पांच परदों (आवरणों) ने ढक दिया है, अब कितना ज्ञान (प्रकाश) उन परदों (आवरणों) के बाहर निकलेगा ? अल्प अंश मात्र ही निकल पायेगा। जो परदे जितने जाडे मोटे होंगे वह ज्ञान (प्रकाश) उतना ही ज्यादा सर्वथा ढक जाएगा, दब जाएगा। अतः आज हमारा अवधिज्ञान-अवधिज्ञानावरणीय कर्म से सर्वथा दब ही गया हैं। परिणाम स्वरूप हमें यहां बैठे हुए मन और इन्द्रियों की मदद के बिना दूर सुदूर का कुछ भी दिखाई नहीं देता। उसी तरह मनः पर्यवज्ञान भी मनः पर्यवज्ञानावरणीय कर्म से सर्वथा दब चुका है, ढ़क ही गया है। जिसके कारण आज हम किसी के मन की बातें अंश मात्र भी जान नहीं पाते हैं। कौन क्या सोच रहा है ? कौन किसके बारे में क्या विचार कर रहा है ? इत्यादि हम कुछ भी नहीं जान पा रहे हैं। उसी तरह आज हमारा केवलज्ञान जो आत्मा में पड़ा है वह भी केवलज्ञानावरणीय कर्म से सर्वथा ढ़क गया है। सर्वथा दब चुका है। जिसके कारण आज हम अनंत ब्रह्माण्ड के अनंत द्रव्यों को, उनके अनंत धर्मों को तथा अनंत पर्यायों को यहां बैठै नहीं जान सकते। नहीं समज सकते। अतः यह प्रत्यक्ष अनुभव से निश्चत हो गया कि आज हमारे में ये तीनों आवरणीय कर्म पूरे उदय में है। चूंकि बांधे हुए है ये कर्म शास्त्र में सर्वघाती प्रकृति के रूपमें गिने गए हैं। जिन्होंने इन कर्मों का सर्वथा क्षय कर दिया हो उन्हें वे ज्ञान संपूर्ण रूप से प्रकट होते हैं। सब कुछ साफ साफ दिखाई देता है। जानकारी में आता है। परंतु कर्म के उदय वाले को अंश मात्र भी नहीं दिखाई देता।

मतिज्ञानावरणीय कर्म मतिज्ञान को ढकता है, तथाप्रकार के पाप करके ज्ञान-ज्ञानी तथा ज्ञानोपकरण की जो भी आशातना विराधना की हो उससे जो मतिज्ञानावरणीय कर्म बांधा हो, उसके उदय में आने से मतिज्ञान का क्षयोपशम नहीं बढ़ता। मति की मंदता मिलती है। ज्ञानेंन्द्रियां पूरी नहीं मिलती या कमजोर मिलती है। ज्ञानेन्द्रियां पूरा काम नहीं करती। स्मरण शक्ति नहीं बढ़ेगी। पढ़ने की भी रूची न होवे। और पढ़े तो याद न रहे। इत्यादि कई प्रकार के मतिज्ञानावरणीय कर्म के उदय होते है। जितने मतिज्ञान के प्रकार है उतने ही मतिज्ञानावरणीय कर्म के प्रकार होंगे। निश्चित ही है कि उपार्जन किया हुआ मतिज्ञानावरणीय कर्म उदय में आने पर उस प्रकार का मतिज्ञान ढक जायेगा। अतः मतिज्ञान के कुल भेद ३४० है तो ३४० प्रकार मतिज्ञानावरणीय कर्म भी बनेगा। तथा जो इनमें से जो जीव जीतने कर्म बांधेगा वह उतने प्रकार से मति ज्ञान का आवरण अनुभव करेगा। उदाहरणार्थ स्पर्शेन्द्रियावग्रह मतिज्ञान, श्रवणेन्द्रिय धारणा मतिज्ञान, बहुविध धारणा घ्राणेन्द्रिय मतिज्ञान, वैनायिकी बुध्दि मतिज्ञान आदि मतिज्ञान के ३४० भेद इस तरह होते हैं। जिसे संक्षेप

में निम्न तालिका से समज सकते है :-

मतिज्ञान के ३४० भेद की तालिका

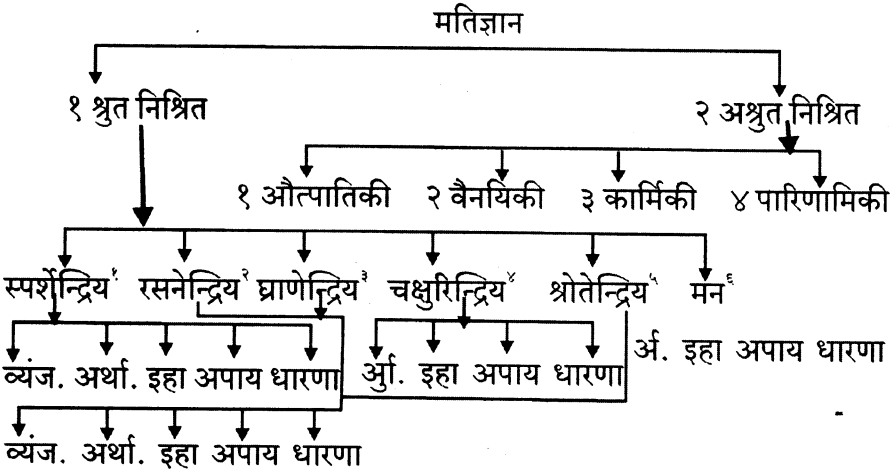

$$6 \times 4 = 24 + 4 = 28 \times 12 = 336 + 4 = 340$$

बारह इस प्रकार है - (१) बहु, (२) अबहु, (३) बहुविध, (४) अबहुविध, (५) क्षिप्र, (६) अक्षिप्र, (७) अनिश्रित, (८) निश्रित, (९) असंदिग्ध, (१०) संदिग्ध, (११) ध्रुव, (१२) अध्रुव । ५ इन्द्रियां तथा १ मन = ६, ६ के अर्थावग्रह - इहा - अपाय - धारणादि मिलाकर ६ ४ = २४, + ४ व्यंजनावग्रह = २८, बहु - अबहु आदि १२ अतः २८ १२ = ३३६ + अश्रुत निश्रित के ४ भेद बुध्दि के मिलाकर = ३४० भेद होते हैं ।

इस तरह मतिज्ञान के ३४० भेद कुल होते है, उन प्रत्येक पर आवरण आने से उतने ही (३४०) भेद मतिज्ञानावरणीय कर्म के होते हैं । ज्ञान क्षयोपशम के आधार पर उदय में आयेगा और कर्म के उदय से ढक जायेगा ।

"श्रुतं मति पूर्वकं" सूत्र के नियमानुसार श्रुत ज्ञान भी मतिज्ञान पूर्वक ही होता है, चूंकि श्रुतज्ञान पढ़ने, लिखने, श्रवण करने, विचारने आदि में पांचो इन्द्रियां तथा मन तो वे ही उपयोग में आते हैं जो कि मतिज्ञान में प्रयोग में आते हैं, अतः श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक ही होता है, इसलिए मतिज्ञान के क्षयोपशम के साथ श्रुतज्ञान का भी क्षयोपशम बढ़ेगा । इस तरह ये दोनों साथ रहते है, परंतु यह भी है कि मतिज्ञानावरणीय कर्म बढेगा तो श्रुतज्ञानावरणीय कर्म भी बढ़ेगा । श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होते हुए भी उसके अपने स्वतंत्र प्रकार है । श्रुतज्ञान के १४ एवं २० भेद भी होते हैं, जो पहले दर्शाये गए है । उतने ही उनके आच्छादक-आवरक श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के भेद होते हैं । श्रुत-शास्त्रादि की विराधना, ज्ञान-ज्ञानी तथा ज्ञानोपकरण की

आशातना तथा विराधना से जीव तथाप्रकार का श्रुतज्ञान कर्म उपार्जन करता है। इस संबंधीत एक रसिक दृष्टांत इस प्रकार है।

१२ घडी के १२ वर्ष हुए –

अच्छे अच्छे ज्ञानी विव्दान भी किस तरह भारी ज्ञानावरणीय कर्म बांध लेते हैं उसका एक प्रसंग इस प्रकार है– पाटलीपुत्र नगर में दो भाईयों ने आर्हती दीक्षा ग्रहण की। जैन साधु बने। एब भाई की बुद्धि बड़ी तेज थी अतः ज्ञान अच्छा चढ़ता था। क्षयोपशम काफी अच्छा होने के कारण अभ्यास में रूचि अच्छी रहती थी। काफी पढ़ते गए। कुछ वर्षों में अच्छे विद्वान बन गए। उनके ५०० शिष्य हो गए। गुरू महाराज ने आचार्य पद से विभूषित किया। बहुश्रुत ज्ञानी गीतार्थ बने। दूसरी तरफ दूसरा भाई मन्दमति था। ज्ञानाभ्यास की रूचि ही नहीं जगति थी। आहार–पानी गोचरी लाकर खा–पीकर मस्त सोता रहता था। प्रमादी जीवन बन गया था।

आचार्यश्री की समझाने की कला एवं ज्ञान की उपस्थिति तथा स्मरण शक्ति काफी अच्छी थी। परिणाम स्वरूप कई अन्य जिज्ञासु लोग भी समझने के लिए आते थे। प्रश्न पूछते थे। सूरिजी अच्छी तरह समझाने थे। शिष्यों तथा जिज्ञासुओं को बहुत ही अच्छा संतोष मिलता है। अन्य संप्रदाय एवं समुदाय के जिज्ञासु भी आते थे। इस तरह सूरिजी का सारा दिन पठन – पाठन एवं प्रश्नोत्तरी में ही बीत जाता था। यहां तक कि गोचरी एवं नींद के लिए भी पर्याप्त समय नहीं मिल पाता था। सूरिजी दिन भर थके–थके रहते थे। दूसरी तरफ दूसरे भाई महाराज खा–पीकर मस्त रहते थे। न कोई चिन्ता थी और न ही कोई चिन्तन था। कहा है कि **''निद्रा या कलहेनविनोदेन च कालो गच्छति मूर्खाणाम्''**। मूर्ख मनुष्यों का काल या तो नींद में बीतता है या कलह–कंकास से बीतता है या विनोद – हंसी – मजाँक में बीतता है। जब कि विव्दानों का काल – **''ज्ञान–ध्यान–चिन्तनेन कालो गच्छति धीमतानाम्''** ज्ञान–ध्यान और शास्त्र सिध्दांत के चिन्तन में बुध्दिमान विव्दानों का काल बीतता है। इस तरह दोनों भाई महाराजों का काल व्यतीत हो रहा था।

सज्जन का संग जल्दी लगता है या दुर्जन संगत में रंग जल्दी लगता है ? यह जगत् में प्रत्यक्ष अनुभव की बात है। सज्जन या संत समागम का सत्संग जितना जल्दी रंग नहीं लगता उससे भी ज्यादा दुर्जन का संग रंग जल्दी लगता है। ऐसा ही हुआ पढ़े लिखे विव्दान ज्ञानी गीतार्थ आचार्य महाराज अपने भाई को देखकर विचार करने लगे–ओ हो ! ये देखो–कितना मस्त है ? खा–पीकर आराम से सुख–चैन से सोता हुआ कितना सुखी है ? है कोई चिन्ता या है कोई चिन्तन ? देखो कितना

अलमस्त है? कितना मोटा तगड़ा है? अरे रे ! और मैं कितना दुबला-पतला हूँ? मैं कितना दुःखी हुँ? न तो पूरा खाने-पीने का समय मिलता है, और न ही सोने के लिए पर्याप्त समय मिलता है। क्या करूं? कितना दुःख है? पर यह सब किस कारण है? अरे... रे...! मैं खूब ज्यादा पढ़ा हूं इसके कारण है। अरे... रे..! काश ! अच्छा होता कि मैं भी पढ़ा ही नहीं होता । "मूर्खत्वं हि सखे ममापि रुचित..." । यह एक श्लोक आचार्य श्री के स्मृति पटल पर आया, और सोचने लगे ऐसा मूर्खपना मुझे भी मिले । मैं भी मेरे भाई की तरह खा-पीकर मस्त रहूं । इस तरह अच्छे विद्वान को भी दुर्मति सूझी...और अपने इस निर्णय को आचरण में लाने के लिए सुबह सुबह आचार्यश्री जंगल जाने के बहाने उपाश्रय से अकेले ही निकल गए । गांव के बाहर दूर एक नदी के किनारे गए। निपट कर वहां समीप में चल रहे एक महोत्सव को देखने गए।

नदी किनारे ग्रामीण लोगों का वसन्तोत्सव इन्द्र महोत्सव चल रहा था। हजारों लोग गावों से आए थे। साथ में फल-नैवेद्य लाए थे। मध्य में गड़े एक लम्बे स्तंभ को सजाया गया था। उस पर फल-नैवेद्य चढाकर, ढोल बजाते हुए उस स्तंभ के इर्द-गिर्द चारों तरफ घूमते थे- नाचते थे। इस तरह सुबह से लेकर शाम तक सारा दिन नाचते रहे। आचार्यश्री भी उन्हें देखकर प्रसन्न थे। सोचते थे- वाह ! अनपढ़ होत हुए भी ये कितने खुश है। इस तरह स्वयं दिनभर सोचते रहे। सूर्यास्त होते ही सभी गाँव वाले फल-नैवद्य को प्रसाद रूप से लेकर खा-पीकर घर लौट गए। वहां कोई भी नहीं था। उस स्तंभ के ऊपर कौआ आकर बैठा और काँव-काँव चिल्लाने लगा।

वह दृश्य देख रहे आचार्य के मन में आश्चर्यकारी परिवर्तन आया। सोचते ही रह गए। अरे ! अभी थोड़ी देर पहले इस स्तंभ की कितनी कींमत थी ? क्या मान सम्मान था? औरे अब सब चले गए, कोई नहीं है तो अकेले इस स्तंभ को कौन पूछता है? कौआ काँव-काँव करता है। अकेला एक होते हुए इस स्तंभ की शोभा हजारों लोगों से थी। उसी तरह मेरी कींमत कब तक थी? मुझे आचार्य कौन कहता था? मुझे बडा कौन मानते थे? अरे... हो! ५०० शिष्य मुझे आचार्य गुरूदेव कहते थे। मुझे पूजते थे। आखिर क्यों? मेरे में ज्ञान है, विद्वता है, अतः पूजते थे, मान-सम्मान देते थे। आज मैं अकेला यहां आया हूँ। अब मुझे आचार्य कौन कहेगा? **"विद्वान सर्वत्र पूज्यते"** की कहावत उन्हें याद आई ! मैं विद्वता के कारण पूजनीय था । अतः मेरी नहीं ज्ञान की महिमा अपरंपार है। अरे रे... ! मुझे ऐसे खराब विचार क्यों आए ? मैं क्षमा चाहता हूँ... मिच्छामिदुक्कडं कहते हुए वे पुनः शाम को उपाश्रय आए। पुनः शिष्यों को पढाने में लीन हो गए। ज्ञान-ध्यान स्वाध्याय चिन्तन एवं प्रश्नोत्तरी में लीन हो गए। काल बीतता गया । आयुष्य समाप्त हुआ। निर्मल चारित्र के आधार पर स्वर्ग में गए।

स्वर्ग से च्युत होकर वे इसी धरती पर एक ग्वाला के घर पुत्र रूप से जन्मे। युवावस्था में साधु संत महात्माओं का समागम हुआ। सत्संग का रंग लगा। मुनि महात्मा के वैराग्योपदेश से वासित मन वाले हुए। शुभ दिन मुनिमहात्मा के पास प्रवृज्या स्वीकार कर साधु बने। गुरू महाराज के पास पाठ लेकर अच्छी तरह पढने लगे। क्षयोपशम और शक्ति इतनी अच्छी थी कि रोज के ५०-१०० श्लोक कंठस्थ करना उनके लिए खेल की बात थी। खूब होशियार बुद्धिमान एवं तेज स्मृति वाले तेजस्वी थे। पढते ही गए। पूर्व जन्म के ज्ञान का क्षयोपशम और संस्कार काफी अच्छे उदय में आए परिणाम स्वरूप काफी अच्छी तरह पढ़ते गए।

कर्म के उदय की स्थिती :-

पूर्व जन्म में आचार्य महाराज के भव में १ दिन में जो भारी ज्ञानावरणीय कर्म उपार्जित किया था, वह आज इस जन्म में उदय आया। कर्म उदय में आते ही यहां पाठ करने में एकाएक फरक पड़ गया। गुरुजी ने रोज की भांति पाठ दिया परन्तु पाठ हो नहीं पाया। स्मृति काम ही नहीं कर रही थी। १ दिन बीता, गुरुजी ने पूछा, पाठ हो गया? शिष्य ने कहा : जी नहीं। २ दिन बीते, ३ दिन बीते। पाठ याद नहीं हुआ। बुद्धि के ऊपर ज्ञानावरणीय कर्म के बादल छा गए। कर्म उदय में आने के कारण यह स्थिति खड़ी हो गई। ३-४ दिन बीतने के बाद गुरु महाराज समझ गए कि भारी ज्ञानावरणीय कर्म उदय में आया हो, ऐसा लगता है, अतः गुरुदेवने कहा, हे शिष्य ! तुम आयंबिल की तपश्चर्या निरन्तर करते हुए इस कर्म को खपाओ,और साथ ही ज्ञान की उपासना भी करते जाओ, निरन्तर पाठ भी करते जाओ। जिससे ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होगा और ज्ञान बढेगा। शिष्य ने यह बात स्वीकार की। गुरुजी ने पाठ दिया- ''मा रूष मा तुष'' बस पाठ के इस सारभूत तत्त्व को याद करते जाओ। साथ ही गुरुजी ने अर्थ भी समझाया ''मा रूष = किसी पर भी रोष (द्वेष) न करो, मा तुष = किसी पर भी तुष-तोष (राग) नहीं करना।'' जैन शासन एवं मोक्ष मार्ग का यही एक मात्र सार है कि राग-द्वेष न करना। वितराग बनने के लिए राग द्वेष नहीं करना चाहिए। राग द्वेष ही कर्म के कारण है, एवं भाव कर्म है। यह बात शिष्य के दिमाग में बैठ गई। शिष्य ने इस पाठ को मन्त्रवत् समझकर पाठ करना प्रारम्भ किया। लेकिन कर्म का उदय बहुत भारी होने से ''मा रूष-मा तुष'' इतने शब्द भी सही याद नहीं हो रहे थे। इसके बजाय माष-तुष ऐसा पाठ याद हो रहा था अर्थात् ''मा रूष-मा तुष'' इन शब्दों में से 'रू' और 'मा' ये अक्षर भूल जाते थे। अतः माष-तुष मुंह से निकलता था। श्रुतज्ञान के १४ या २० भेदों में अक्षर श्रुत, पद श्रुत आदि के जो भेद बताए गए हैं, उन्हीं के ऊपर श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण आ जाने से अक्षर, पद, सूत्र, अर्थ याद नहीं रहते हैं, विस्मृत हो जाते हैं। कितनों को

अर्थ याद रहता है तो सूत्र याद नहीं रहता। इससे उल्टा कितनों को सूत्र याद रहता है तो अर्थ याद नहीं रहता । इसी तरह कितनों को अक्षर या शब्द कहने पर भी पूरा पद या श्लोक याद नहीं आता । कितनों को पूरा पद याद आने पर भी अर्थ याद नहीं आता। कितनों को उसी पद का यह अर्थ है यह निश्चयपूर्वक याद नहीं आता। सूत्र किसी का और अर्थ किसी का ऐसा भ्रांतिपूर्वक याद आता है। कितनों की स्मरणशक्ति तेज होती है अतः उन्हें सूत्र या पद आदि याद रहते हैं। परंतु समझशक्ति कम होने से अर्थ समझ में नहीं आता। ठीक इससे विपरीत कितनों की समझशक्ति तेज होने से अर्थ, भावार्थ आदि अच्छी तरह समझ में आते हैं। परंतु सूत्र या पद उनको याद नहीं रहते, दिमाग में नहीं बैठते।

यह सारा मति-श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का नाटक है। प्रस्तुत प्रसंग में शिष्य कि भी यही स्थिति थी । उन्हें गुरु के द्वारा बताया हुआ अर्थ याद रह गया । परंतु सुत्र-पाठ याद नहिं रहता था। परिणाम यह आया कि शिष्य के मूंह से सतत "माष-तुष", "माष-तुष" ऐसे ही शब्द निकलते थे। गुरुजी को पाठ सुनाते समय ऐसे ही बोलते थे । फिर से गुरुजी रहे हुए दो अक्षर 'रू' और 'मा' पुनः बैठाकर "मा रूष-मा तुष" ऐसा पाठ सिखाते थे। परंतु कमनसीब शिष्य को ज्ञानावरणीय कर्म के कारण इतना भी याद नहीं रहता था। और "माष-तुष", "माष-तुष" इस तरह रटते थे।

भारी कर्म उदय में होने पर भी शिष्य निराश नहीं होते थे। किसी भी तरह पाठ करने का भाव रखते थे-इसलिए गोचरी-पानी आदि कार्यो में आते-जाते हुए निरन्तर पाठ याद करते रहते थे। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इन दो शब्दों को पाठ करने के लिए शिष्य ने बारह वर्ष बिताए। साथ ही साथ कर्म क्षय हेतु बारह वर्ष तक आयंबिल की तपश्चर्या जारी रखी।

भिक्षा के समय आहार पानी लेने के लिए जाते समय भी सतत "माष-तुष", "माष-तुष" ऐसा रटते जाते थे। गृहस्थ लोक भी उनके मुह से निकलते हुए पाठ के शब्दों के आधार पर माषतुष नाम से पुकारने लगे। परिणाम स्वरूप महाराज का नाम ही माषतुष मुनि पड़ गया। लोक माषतुष मुनि आये, माषतुष मुनि आये ऐसा कहते थे। माष-तुष का एक ऐसा विचित्र अर्थ भी लोगों ने निकाला कि माष अर्थात् उडिद्, तुष अर्थात उसके छिलके अतः माष तुष अर्थात् उडिद के छिलके वाली दाल ऐसा लोगों ने समझकर महाराज को भिक्षा में उडिद की दाल वहेराना शुरू किया और दूसरी तरफ महाराज "माष-तुष" ही रटते जाते थे इसलिए लोगों को भी ऐसा लगता था कि महाराज को उडिद की दाल ही पसन्द है। इसलिए वहेराते थे।

परंतु यह महाराज को अभिप्रेत नहीं था। उडिद की दाल उनके स्वास्थ्य

के लिए प्रतिकूल थी। फिर भी निस्पृह साधु थे। अतः तपोभाव में स्थिर रहकर इच्छा निवृत्ति पूर्वक भिक्षा ग्रहण करते थे। लोगों की तरफ से मान-अपमान भी सहन करते थे। एक ही धून थी कि मैं किसी तरह कर्मों का क्षय करूं । इस हेतु से ''मा रूष-मा तुष'' पाठ याद न होते हुए भी अर्थ जो स्मृति में सहि बैठा हुआ था उस अर्थ को अपने लक्ष्य में सन्मुख रखकर अर्थ के आधार पर आत्मा को समझाते थे। हे आत्मन् ! तुझे न तो किसी पर राग करना है, न किसी पर द्वेष करना है। यही पाठ का सही अर्थ है। सूत्र से पाठ याद नहीं है परंतु अर्थ से पाठ विस्मृत भी नहीं है। महात्मा ने अर्थानुसारी जीवन ही बना दिया था। पाठ का अर्थ केवल स्मृति में याद रखना ही नहीं होता है, परंतु जीवन में आचरण करना होता है। क्योंकि पोथी पढ़ने मात्र से पण्डित नहीं कहे जाते हैं, परंतु सिद्धांत का सही आचरण करने वाले पण्डित कहलाते हैं, अतः महात्मा ने आचरण पर ज्यादा भार देकर सूत्र के अर्थ को जीवन में चरितार्थ कर दिया था। इसलिए वे महात्मा सदा निस्पृह, निर्मोही, निर्ममत्व, निर्लोभी, निरीह भाव वाले बनकर रहते थे। राग भी नहीं करना है और द्वेष भी नहीं करना है। अतः राग द्वेष रहित वीतराग बनना है। इस लक्ष्य से मान-अपमान को भी सहन करते थे। राग-द्वेष के निमित्तों से बचकर दूर रहते थे।

मन के अध्यवसायों की इतनी ऊंची भूमिका पर पहुंच चुके थे कि उन्हें मान-अपमान की असर नहीं होती थी। अपनी चेतना को पूरी समता में स्थिर रख पाते थे। एक दिन की बात थी कि भिक्षा में उडिद और उडिद की दाल मिली। इस निमित्त से महात्माजी गहरे ध्यान में उतर गए। विचार करने लगे कि यह उडिद क्या है? और छिलका क्या है? ओ हो ! अन्दर से उडिद (माष) तो सफेद है और सिर्फ बहार से आवरण-छिलका (तुष) ही काला है। वैसे ही अन्दर से आत्मा अनन्त गुणवान शुद्ध स्वच्छ निर्मल है। परंतु बहार से आए हुए कर्म के काले आवरणों ने आत्मा को मलीन कर दिया है। ओ हो ! आत्मा में ज्ञानादि गुण तो मूलभूत सत्ता में पड़े ही है, परंतु कर्म के आवरण जो बहार से आये हुए है, उनको ही हराना चाहिए। जो बहार से आये है उनको बहार निकालना है और जो अन्दर स्थित है उन्हें अन्दर से प्रकट करना है ध्यान की इस धारा में महात्मा शुक्ल ध्यान की कोटी में पहुंच गये। और क्षपक श्रेणी पर आरूढ हुए । कर्मों का क्षय होने लगा। जैसे प्रचण्ड आग में घास तीव्रता से जलकर भस्म होती है वैसे ही क्षणभर में ढेर सारे कर्म भी नष्ट होते गए। ध्यानानल की अग्नि की प्रचण्ड ज्वालाओं में जनम-जनम के कर्म नष्ट होते गए। और देखते ही देखते महात्मा को केवलज्ञान-अनन्तज्ञान प्राप्त हुआ। महात्मा अल्पज्ञ से अनंतज्ञानी-सर्वज्ञ बने। ज्ञान की आशातना से जो ज्ञानावरणीय कर्म बांधा था उसी का क्षय ज्ञान की तीव्र उपासना से अनन्तज्ञानी बनें। अतः ज्ञानावरणीय

कर्म का क्षय करने के लिए ज्ञान-ज्ञानी उपासना ही सही मार्ग है।

ज्ञानाचार की उपासना :-

जैन दर्शन के अन्दर मुख्य रूप से पाँच आचार बताए गये हैं। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार ये पाँच आचार आत्मा के ही मूलभूत ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य- इन्हीं पाँच गुणों की उपासना के आचार है। स्वगुणोपासना आत्मिक धर्म है। स्व = आत्मा, गुण = ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्यादि, उपासना = साधना या आचार प्रणाली। अतः आत्म गुणों की उपासना करना यह आचार धर्म है। पाँच प्रकार के आत्मिक गुणों की पाँच आचारों की प्रक्रिया से उपासना की जाती है। प्रस्तुत विषयमें ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय या क्षयोपशम करने के लिए ज्ञानाचार की उपासना करना यह आचार धर्म है। शास्त्र के अंदर ८ प्रकार के ज्ञानाचार बताए गए हैं -

काले विणये बहुमाणे, उवहाणे तह य अनिन्हवणे ।
वंजण अत्थ तदुभए, अट्ठविहो नाणमायारो ।।

(१) काले - अर्थात् योग्य काल में पाठादि करना, अध्ययन-अध्यापन करना।

(२) विणये - विनयपूर्वक। पाठदाता, ज्ञानीगुरु, विद्यागुरु, धर्मगुरु आदि से शिष्टता-नम्रता पूर्वक पाठादि ग्रहण करना ।

(३) बहुमाणे - बहुमानपूर्वक। ज्ञान-ज्ञानी-ज्ञानोपकरणादि का आदरपूर्वक बहुमान -सम्मान करना। बाह्य और आभ्यन्तर उभय रूप से इनके प्रति सद्भाव एवं प्रीति रखना। अध्ययन-अध्यापन उभय में भावोल्लास एवं उत्साह-उमंगपूर्वक रुचि रखना।

(४) उवहाणे - उपधानपूर्वक । आगम शास्त्रादि के अध्ययन के लिए योग्यता प्राप्त करने के हेतु से जो विशिष्ट तप-क्रियादि किया जाता है उसे उपधान कहते हैं। गुरु के सामीप्य में रहकर विशिष्ट तप एवं क्रिया पूर्वक ऐसे उपधान तथा योगोद्वहन करते हुए गुरुगम से शास्त्रादि पढ़ना यह उपधान ज्ञानाचार है।

(५) अनिण्हवणे - अनिह्नवन। गुरु, ज्ञान और सिद्धान्तादि का अपलाप न करना। 'नि+ह्नु' धातु का अर्थ छिपाना ऐसा होता है। भाव में निह्नवन शब्द बना। निह्नवन अर्थात् छिपाना-अपलाप करना। यह दोष है। इसका उल्टा अनिह्नवन अर्थात् अशठपने से निर्मायिक भाव से सिद्धान्त आदि न छिपाना यह पाँचवा ज्ञानाचार है।

(६) वंजण - व्यंजन। व्यङजयते अनेन अर्थः इति व्यंजनम् । अर्थात् जिसमें अर्थ प्रकट होता है, वे व्यंजन कहलाते हैं। वर्णमाला के क, ख, ग, ङ आदि सभी अक्षर व्यंजन कहलाते हैं, जिनसे शब्द बनते हैं। अतः शब्द शुद्धि अर्थात् व्यंजन शुद्धि यह छट्ठा ज्ञानाचार है।

(७) अत्थ - अर्थ-शब्दार्थ। शब्द का अर्थ कहलाता है। अर्थ से ज्ञान सही समझना-यह अर्थ ज्ञानाचार है। जैसे सुवर्ण का अर्थ सोना ही करना चाहिए।
(८) तदुभय - शब्द+अर्थ। शब्द और अर्थ दोनों का ज्ञान होना, यह तदुभय ज्ञानाचार है। इस शब्द-पद एवं सूत्र का जो अर्थ होता है वही करना तथा शब्द-पद-सूत्र-श्लोकादि के साथ साथ अर्थ का भी सही ज्ञान रखना, इसे तदुभय ज्ञानाचार कहते हैं।

इस तरह ८ प्रकार के ज्ञानाचार बताए गए हैं। उपरोक्त बताए गए ज्ञानाचार के आठों नियमों के पालन करने से ज्ञान की उपासना होती है, जिससे ज्ञानावरणीय कर्म नहीं बंधते हैं। ठीक इससे विपरीत आचार के पालन न करने से अर्थात् अतिचारों का सेवन करने से ज्ञानावरणीय कर्म बंधता है, क्योंकि आचार धर्म सही उपासना है, जबकि अतिचार सेवन विपरीत प्रवृत्ति अर्थात् विराधना है। ज्ञानाचार कर्म क्षयकारक है। ज्ञानातिचार कर्म बंधकारक है। ज्ञानाचार के विपरीत ज्ञानातिचार इस प्रकार है :-

योग्य काल में न पढ़ते हुए अयोग्य काल में पढ़ना। उल्कापात, ग्रहणकाल, वृष्टिकाल, प्रसूति तथा मृत्यु आदि के सूतक काल में एवं मासिक धर्म आदि के समय में शास्त्रादि का ज्ञान सम्पादन करना वर्ज्य है। ये काल ज्ञानोपार्जन के लिए अशुभ-अयोग्य है, अतः इसे ''असज्झाय काल''- अस्वाध्याय काल कहते हैं। इसी तरह अनध्याय आदि के दिन तथा अस्वाध्याय आदि का काल छोड़ देना चाहिए। यदि ऐसे अयोग्य काल में स्वाध्याय आदि करते हैं। तो ज्ञानातिचार दोष लगता है। अतः योग्य उचित काल में ही ज्ञान साधना करनी चाहिए।

अविनयपूर्वक पढ़ने से भी ज्ञानातिचार का दोष लगता है। ज्ञानदाता ज्ञानी का, शास्त्र-ग्रंथ-पुस्तकादि ज्ञानोपकरण का विनय तथा सम्मान न करने से ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है। इसलिए प्राचीन शिक्षा पद्धति में ज्ञानदाता, गुरु एवं शास्त्र-ग्रंथ-ज्ञानोपकरण आदि का पूर्ण विनय एवं सम्मान किया जाता था। जबकि वर्तमान शिक्षा पद्धति में विनय एवं सम्मान आदि की काफी ज्यादा उपेक्षा देखी जाती है। परिणाम स्वरूप विद्यार्थी में शिक्षक के प्रति कोई सम्मान नहीं है। इसी तरह शिक्षको में विद्यार्थीओं के प्रति कोई सद्भाव नहीं है। जिसके कारण शिक्षा जगत में विद्यार्थी एवं शिक्षकों के बीच संघर्ष जारी है। यह आधुनिक शिक्षा प्रणाली की सबसे बड़ी क्षति है। अविनय एवं अपमान आदि ज्ञानातिचार है। जो कि कर्म बंधन में कारण है। इतिहास में ऐसे भी उदाहरण है कि मगध के अधिपति सम्राट राजा श्रेणिक जैसे ने एक चोर के पास विद्या सीखने के लिए उसे राज्य सिंहासन पर बैठाकर स्वयं नम्रतापूर्वक नीचे बैठकर अंजलीबद्ध विनम्र भाव से निवेदन करके विद्या ग्रहण

की थी। विनयाचार के सेवन पूर्वक विद्या ग्रहण करने से वैनयिकी बुद्धि निर्माण होती है। जबकि अविनय के अतिचार सेवन से मनुष्य उद्धत्त-उन्मत एवं अविनयी बनता है। इसीलिए ज्ञान-ज्ञानी एवं ज्ञानोपकरण का अविनय, अपमान आदि करने से ज्ञानावरणीय कर्म बंधता है।

उपधान एवं योगोद्वहनपूर्वक गुरु सामीप्य में रहकर गुरुगम से शास्त्रादि का ज्ञान सम्पादन करना यह ज्ञानाचार है। जबकि इससे विपरित स्वयं शास्त्रादि के मनमाने अर्थ करना यह ज्ञानातिचार है। शास्त्रादि का मनमाने अर्थ करने से बहुत बड़ा अनर्थ होता है। ऐसा करने वाला ज्ञानावरणीय कर्म बांधता है।

गुरु को छोड़कर अन्य से पाठ लेना-पढ़ना एवं अपने गुरु को छिपाकर अन्य को गुरु कहना यह भी ज्ञानातिचार है।

श्लोक-स्तोत्र-पद-सूत्रादि पढ़ते-लिखते समय मात्रा तथा अनुस्वार आदि कम अधिक नहीं करने चाहिए। वर्णमाला के सीमित अक्षरों से बने हुए शब्दों में अनुस्वार एवं मात्रा का भी फरक करने से अनर्थ हो जाता है। उदाहरणार्थ-मास और मांस, शस्त्र और शास्त्र ऐसे शब्दों में अनुस्वार और मात्रा के लगाने और न लगाने से कितना अन्तर होता है यह स्पष्ट समझ में आता है। इसलिए व्यंजन-उच्चार तथा शब्द आदि सही रूप में प्रयोग में लाने चाहिए तथा अर्थ भी सही करना चाहिए यह ज्ञानाचार धर्म है। ठीक इससे विपरीत व्यंजन-शब्दपद आदि गलत लिखने या उनके उच्चारण गलत करने से तथा अर्थ विपरीत करने से ज्ञानातिचार दोष लगता है। जिससे ज्ञानावरणीय कर्म बंधता है। ज्ञान-ज्ञानी एवं ज्ञानोपकरण की आशातना भी ज्ञानावरणीय कर्म बंधाती है। पैर लगने से, थूंक लगने से, तथा मळ-मूत्र साफ करने से इत्यादि अनेक प्रकारों से ज्ञान की आशातना होती है। ज्ञानी के प्रति द्वेष-मत्सर एवं ईर्ष्या आदि नहीं करनी चाहिए, ज्ञानी की आज्ञा की अवज्ञा भी नहीं करनी चाहिए। ज्ञान रुचि वाले, पढ़ने-पढ़ाने वाले के बीच विघ्न भी नहीं डालना चाहिए, ज्ञानियों की हँसी-मजाक भी नहीं उड़ानी चाहिए, विद्वानों की खिल्लियाँ उड़ाने से भी मनुष्य अपने आपको ज्ञानावरणीय कर्म से भारी करता है। परिणाम स्वरुप ऐसे अतिचार के सेवन से जन्म-जन्मांतर में अज्ञानी बनता है। ज्ञानगम्य विषयों पर अश्रद्धा-अविश्वास करना भी अतिचार-दोष है। किसी को तुतलाता देखकर उसकी हँसी उड़ाना, किसी गूंगे-बहरे को देखकर हँसी-मजाक उड़ाना भी ज्ञानातिचार दोष है। इस प्रकार ऐसे अनेक ज्ञानातिचार दोष हैं जिनके सेवन से ज्ञानावरणीय कर्म बंधता है तथा जीव जन्म-जन्मांतर में उनकी सजा भोगता है। अतः समझदार इन्सान को ऐसे ज्ञानातिचार दोषों का सेवन नहीं करना चाहिए।

श्रुत मद ज्ञानातिचार :-

श्रुत अर्थात् शास्त्र-आगम-ग्रन्थादि। सभी जीव को अपने अपने क्षयोपशम के आधार पर शास्त्रादि का ज्ञान प्राप्त होता है। मनुष्य को चाहिए कि अपने ज्ञान का कभी अभिमान न करें। अभिमान किसी भी क्षेत्र में नुकशानकारक ही होता है। कर्म शास्त्र का नियम है कि जिस विषय का अभिमान किया जाता है वही वस्तु उससे ठीक विपरीत मिलती है। जीवन में अभिमान के कई क्षेत्र बताये है। जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, श्रुत, ऐश्वर्य आदि अनेक प्रकारों के अभिमान में श्रुत का भी अभिमान एक प्रकार का है। मुझे बहुत आता है, मैं सब कुछ जानता हूँ, मेरे से इस जगत में कुछ भी अन्जाना नहीं है, यह मेरे बांए हाथ का खेल है, ऐसे तो सैंकड़ो विषय मेरी जेब में भरें पड़े है इत्यादि शेखचल्ली के काल्पनिक विचार मानव मन की - अभिमान की मात्रा को प्रकट करते हैं। शास्त्रकार महर्षि कहते है कि ऐसा श्रुतमद-अभिमान भी ज्ञानी को सेवन नहीं करना चाहिए चूंकि श्रुत-ज्ञान का अभिमान करने से ज्ञानावरणीय कर्म बंधता ही है तथा साथ साथ नीच गोत्र कर्म का भी बंध होता है। नीच गोत्र बांधकर आगामी भवों में जीव नीच-हल्के कुल में जन्म लेता है।

इस विषय में एक दृष्टांत महान कामविजेता चौदह पूर्वधर महापुरुष स्थुलिभद्रस्वामी का दिया गया है। १४ पूर्वधारी महान गीतार्थ ज्ञानी भगवंत श्री भद्रबाहुस्वामी महाराज के पास पूज्य स्थुलिभद्रस्वामीजी पढते थे। दश पूर्वों का अध्ययन कर चुके थे। एक बार स्वध्यायार्थ समीपस्थ स्थान में बैठे थे कि उनकी सेणा, वेणा, रेणा आदि सात बहन साध्वियां उन्हें वंदना करने गई। भाई स्थुलिभद्रस्वामी को ऐसा विचार आया कि इतना पढ़ा लिखा मैं भी कुछ हूं अतः बहनों को ऐसा कुछ चमत्कार दिखाऊँ, ऐसा सोचकर उन्हों ने सिंह का रूप धारण किया। बहनों ने आते ही सिंह देखा और घबड़ा गई । दौड़ती हुई बहनें आचार्य भद्रबाहुस्वामी के पास गई और निवेदन किया कि हे भगवंत ! हमारे भाई महाराज स्थुलिभद्रजी को सिंह खा गया हो ऐसा लगता है। महान ज्ञानी भद्रबाहुस्वामी ने इस बात का रहस्यार्थ जान लिया और बहनों को पुनः वंदना करने के लिए जाने की आज्ञा दी। बहनें गई और वंदना करके लौट गई। जब स्थुलिभद्रजी आगामी पाठ के लिए आचार्यश्री के पास पधारे तब आचार्यश्री ने कहा तुमने श्रुत का अभिमान किया है। तुम्हें ज्ञान का अजीर्ण हो गया है। अतः अब आगे के पूर्वों का ज्ञान तुम नहीं पा सकोगे। अभिमान की कक्षा यह ज्ञान की पात्रता नहीं है। ऐसा निर्णय करके आचार्यश्री ने आगे के ४ पूर्वों का अध्यापन नहीं कराया। यद्यपि स्थुलिभद्रजी ने क्षमा याचना की, पश्चाताप व्यक्त किया श्री संघ ने भी काफी विनंती की फिर भी आचार्यजी ने अर्थ से नहीं पढ़ाया। इस तरह मिले हुए ज्ञान का अभिमान करने से

कितना नुकशान होता है? यह इस प्रसंग से समझना चाहिए। अतः श्रुत मद यह दोष है। ज्ञानावरणीय कर्म बंधाने में कारण है।

कर्माधीन बुद्धि और परिश्रमाधीन विद्या :-

कर्म शास्त्र यह कहता है कि "**बुद्धिः कर्माधीना विद्या च परिश्रमाधीना**" अर्थात् बुद्धि कर्म के आधीन है और विद्या परिश्रम के आधीन मिलती है। संसार अनंत जीवों से भरा पडा है यद्यपि जीव मात्र ज्ञानवान है, परंतु सभी का ज्ञान एक समान-सरीखा नहीं है अर्थात् ज्ञान की मात्रा कम ज्यादा है। इसका एक ही कारण है कि सभी जीवों के द्वारा जन्म-जन्मांतर में उपार्जित ज्ञानावरणीय कर्म कम-ज्यादा है। जिन जीवों का ज्ञानावरणीय कर्म प्रमाण से ज्यादा है उन्हें बुद्धि कम मिलती है और जिन जीवों के ज्ञानावरणीय कर्म का प्रमाण कम है उन्हें बुद्धि अधिक मिलती है। अतः बुद्धि का प्रमाण ज्ञानावरणीय कर्म के प्रमाण पर आधारित है। इसलिए बुद्धि को कर्माधीन कहा है। अतः स्वोपार्जित कर्मानुसार जीवों को अल्प अधिक बुद्धि मिलती है। समस्त संसार इस सिद्धांत का प्रत्यक्ष प्रमाण है। एक मां के चार पुत्रों में भी बुद्धि एक सरीखी नहीं होती है, तथा एक मां के जुड़वा सन्तानों में भी बुद्धि एक सरीखी नहीं होती है। "मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्नाः" यह कहावत जग प्रसिद्ध है अर्थात् सभी लोगों की बुद्धियां भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। एक ही कक्षा में पचास से सौ विद्यार्थी पढ़ते हैं। पढ़ाने वाले शिक्षक सभी को समान रूप से अध्याय समझाते हैं फिर भी किसी की समझ में आता है, किसी की समझ में नहीं आता है, कोई जल्दी समझता है कोई बिल्कुल समझ नहीं सकता है, कोई एक बार में समझ जाता है, कोई अनेक बार समझाने पर भी समझ नहीं सकता है, यह बुद्धि की न्यूनाधिकता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। जो कि कर्म के आधीन है। प्रत्येक जीव अपने ज्ञानावरणीय कर्मानुसार बुद्धि प्राप्त करता है, परंतु परिश्रम के आधार पर ज्ञान संपादन करता है, बुद्धि कम होने पर भी यदि अधिक परिश्रम करेगा तो भी ज्ञान प्राप्त कर लेगा, अन्तर इतना ही रहेगा कि तेज बुद्धि वाला जिस ज्ञान को १० मिनिट में समझ लेगा उसी ज्ञान को अल्प बुद्धि वाला शायद परिश्रम के आधार पर १० घंटे या १० दिन में समझ पायेगा। इसलिए विद्या परिश्रम के आधार पर प्राप्त होती है। अतः अल्प बुद्धि वाले को भी परिश्रम के आधार पर ज्ञान प्राप्त होता है इसलिए बुद्धि कर्म के आधीन और ज्ञान परिश्रम के आधीन है। यह कर्मसत्ता का सिद्धांत सही लगता है, बुद्धि को ही ज्ञान कहते हैं। अतः बुद्धि ज्ञान से भिन्न स्वतंत्र नहीं है। मति, स्मृति, चिंता, संज्ञा, अभिनवबोध आदि बुद्धि के ही पर्यायवाची शब्द है। मतिज्ञान के ३४० भेद आगे दिखाये गये है। उनमें से जितने भेदों का मतिज्ञानावरणीय कर्म बाँधा होगा उतने भेदों का मतिज्ञान नहीं होगा, अर्थात् आच्छादित रहेगा और जिन भेदों का

मतिज्ञानावरणीय कर्म नहीं बाँधा होगा उन प्रकारों का ज्ञान जीवों में प्रकट रहेगा। शास्त्रों में प्रगल्भ प्रतिभा सम्पन्न एवं महान बुद्धिशाली, बुद्धिनिधान कई महापुरुषों के दृष्टांत आते हैं। आर्य वज्रस्वामी, हेमचन्द्राचार्य, महा महोपाध्याय यशोविजयजी महाराज, बुद्धिनिधान महाअमात्य अभयकुमार एवं रोहककुमार आदि के दृष्टांत है।

असाधारण बुद्धिमान महापुरुष :–

आर्य वज्रस्वामी – श्रेष्ठिपुत्र धनगिरि और सुनंदा का पुत्र वज्रकुमार बाल्यवय में ही विरक्त भाव वाले बनें। पिता धनगिरि की दीक्षा के बाद दो–तीन साल की आयु का बालक वज्रकुमार भी पूर्व जन्म के ज्ञान–वैराग्य के संस्कार से बचपन में ही विरक्त बना । चारित्र प्राप्ति के हेतु से बालक ने रोना शुरू किया। माता सुनंदा उसके अति रूदन से उब गई थी। एक दिन पति साधु धनगिरि के भिक्षा के लिए घर आने पर सुनंदा ने बालक को दे दिया। मुनि महाराज बालक को लेकर उपाश्रय आये एवं गुरु महाराज को अर्पण कर दिया। साधु बनाने के लिए अपरिपक्व काल होने से गुरु महाराज ने साध्वियों के उपाश्रय के शय्यातर को सौंप दिया। झुले में सुलाए गए बालक को साध्वियों के बीच रखकर शय्यातर मालकिन अपने कार्यों में लग जाती थी। शास्त्रों का अध्ययन करती साध्वियां जब जोर से पाठ करती थी तब झुले में रहा हुआ बालक वज्रकुमार बड़े गौर से एवं ध्यान से सुनता था। पूर्व जन्म के क्षयोपशमानुसार मिली हुई बड़ी तेज बुद्धि के कारण बालक को झुले में सुनते–सुनते ही कई शास्त्र याद हो गए। इस तरह दो तीन साल बीत चुके, बालक को अनेक शास्त्र याद हो गए। ६ वर्ष की आयु में राजदरबार में हुए न्यायानुसार आचार्यश्री ने वज्रकुमार को दीक्षा देकर साधु मुनिराज वज्रस्वामी बनाए । आचार्यश्री अपने अनेक बड़े–बड़े साधुओंको शास्त्रों का पाठ समझाते थे। एक दिन पाठ के समय आचार्यश्री को शौच के लिए जंगल जाना पसा एसे समय बालमुनि वज्रस्वामी गुरु के स्थान पर बैठ गए और बिना शास्त्र देखे ही बड़े–बड़े साधुओं को पढ़ाने तथा समझाने लगे। उपाश्रय के द्वार पर आये हुए गुरु महाराज ने यह दृश्य देखा तथा बालमुनि के मुंह से शास्त्रों के पाठ सुनकर आश्चर्यचकित रह गए। आगे वज्रस्वामी को वाचक पद से विभुषित किया। बाल्यवय में ही कितनी असाधारण बुद्धि–मति थी, उसका यह उदाहरण है।

हेमचंद्राचार्य म. – गुजरात के धंधुका गाँव के मोढ ज्ञाति के वणिक पिता चाचिंग और माता पाहिनी देवी के पुत्र चांगदेव बचपन से ही प्रगल्भ बुद्धि वाले थे। एक बार की बात है कि माता पुत्र को लेकर जिन मंदिर दर्शन करने गई थी। माता मंदिर से दर्शन कर रही थी इतने में बालक पास में उपाश्रय में जाकर आचार्यश्री की गद्दी पर बैठ गया , मानों प्रवचन देने की मुद्रा में अभिनय करने लगा। इतने में मंदिर से

दर्शन करके आचार्य महाराज श्री देवचंद्रसूरीश्वरजी उपाश्रय में पधारें। दूर से ही एक छोटे बालक को अपनी गद्दी पर बैठे हुए देखकर आचार्यश्री को बड़े आश्चर्य के साथ संतोष भी हुआ। अपनी गादी के भावी वारसदार पट्टधर का अनुमान करके मनमें संतोष व्यक्त किया। इसी बीच माता पाहिनी देवी मंदिर से दर्शन करके बाहर निकली हुई बालक को ढुंढती हुई उपाश्रय में आई। पूज्य आचार्यश्री को स्तब्ध खड़े हुए एवं बालक को गद्दी पर बैठा हुआ देखकर माताजी भी आश्चर्यचकित रह गई। शीघ्रता से दौडकर बालक को लेने गई इतने में आचार्य महाराज ने माताजी से बालक को न उठाने की विनंती की और कहा कि हे देवी ! इस बालक को शासन के लिए अर्पण कर दो। मैं तुम्हारे पास शासन के लिए इस बालक की याचना करता हूं। यदि यह बालक घर में रहेगा तो पढ़ लिख कर व्यापार करके तुम्हारे एक परिवार का भरणपोषण करेगा, परंतु यह बालक शासन को अर्पण कर दो तो एक महान त्यागी विद्वान बनकर हजारों लाखों का कल्याण करेगा। माताजी ने निर्मोह भाव से बालक को गुरु चरणों में अर्पण किया। बाल्यवय में ही बालक को दीक्षा देकर मुनि सोमचंद्रविजय नाम रखा। एक शिल्पी जैसे पत्थर को घड़ते हुए प्रतिमा का आकार देता है जो जगत वंदनीय, पूजनीय बनती है, वैसे ही आचार्यश्री ने न्याय, व्याकरण, साहित्य आदि शास्त्रों का अभ्यास कराके मुनि सोमचंद्रविजय को ठोस विद्वान बनाए। प्रगल्भ बुद्धि प्रतिभा संपन्न एवं आश्चर्यकारी तर्क शक्ति से मुनिवर ने हजारों लाखों श्लोक कंठस्थ करके भारी ज्ञान संपादन किया। सरस्वती देवी प्रसन्न हुई और मानो उनकी जीभ पर वास करने लगी। आगे बढ़कर हजारों श्लोकों की नयी रचना करके न्याय व्याकरण काव्य आदि के शास्त्रों की रचना करके हेमचन्द्राचार्य के नामसे जग प्रसिद्ध बनें। कहा जाता है कि आचार्यश्री ने करीब साडे तीन करोड श्लोकों की रचना की थी। उनके रचित "सिद्धहेम शब्दानुशासन" जैसे महाकाय व्याकरण ग्रंथ का गुजरात के राजा सिद्धराज जयसिंह ने हाथी की अंबाडी पर जुलूस निकालकर सन्मान किया था। उसी तरह कुमारपाल भूपाल ने उनके रचित योगशास्त्र ग्रंथ की शोभा यात्रा निकाली थी। स्वबुद्धि से स्फुरित ज्ञान की नयी स्फुरणाओं को आचार्यश्री सात सौ लेखकों के पास लिखवाते थे। राजा कुमारपाल ने लेखकों और ताड़पत्रों की व्यवस्था की थी, परंतु कहा जाता है कि ताड़पत्र और भोजपत्र कम पड़ते थे लेकिन आचार्यश्री का ज्ञान समुद्र की लहरों की तरह उमडता था। कितना अद्‌भुत ज्ञान का क्षयोपशम था। सचमुच वे कलिकाल सर्वज्ञ के रूप में अमर बनें।

१४४४ ग्रन्थों के रचयिता आचार्य हरिभद्रसुरि – ५० वर्ष की आयु में ब्राह्मण हरिभद्र पुरोहित ने चमत्कारिक निमित्त से जैन दिक्षा ग्रहण की, एक छोटी बाल साध्वी के अभ्यास किये जाते श्लोक को सुनकर उनका मन ज्ञान की गहराई में

चला गया। आचार्य श्री के पास श्लोकार्थ समझकर सर्वस्व समर्पित करके उनके शिष्य रूप में साधु बन गए। बड़ी आयु में भी सर्व धर्म-दर्शनों का परिशीलन करके उन्होंने न्यायादि के उच्च कोटि के ग्रंथ लिखे। ज्ञान की इस साधना में उन्होंने करीब १४४४ नये ग्रन्थों की रचना की, ऐसे महापुरुष ज्ञानाकाश में अद्वितीय सूर्य समान तेजस्वी बनें।

महा महोपाध्याय यशोविजयजी महाराज – एक माता अपने बालक को लेकर रोज जिन मंदिर दर्शन करने जाती थी, दर्शन करके पास के उपाश्रय में गुरु महाराज के पास भक्तामर स्तोत्र का स्मरण करती थी। माता ने ऐसा नियम बनाया था कि भक्तामर स्तोत्र का स्मरण करके ही मुंह में पानी डालना। नियम की कसौटी होती है। एक दिन काफी तेज वर्षा हुई, वर्षा रूकी ही नहीं और माता मन्दिर जा न सकी। योगानुयोग बरसती हुई तेज बारिश में ५-७ दिन बीत गए। माता के सातों दिन उपवास ही हुए। बालक ने पूछा मां! तू क्यों कुछ खाती नहिं है? माता ने कहा बेटा तूं छोटा है। तूं इसकी चिन्ता मत कर, तुझे समझ नहीं पड़ेगी। बालक ने हठ पकड़ी और कारण जानने की कोशिश की, तब माता ने कहा, मेरा नियम है कि भक्तामर का पाठ सुनकर ही पानी पीना। कई दिनों से तेज बारिश होने के कारण भक्तामर सुन नहीं सकी इसलिए मैं नियम का पालन करती हुई कुछ भी नहीं खाती-पीती। बालक ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा-मां ! यदि ऐसा था तो मुझे इतने दिन से क्यों नहीं कहा? इसमें कौन सी बड़ी बात थी भक्तामर स्तोत्र मैं ही सुना देता। इतना कहकर बालक ने भक्तामर स्तोत्र बोलना शुरू कर दिया माता हाथ जोड़कर भावपूर्वक सुनने लगी। पारणा करके माता बालक की अद्भूत स्मरण शक्ति पर विस्मय प्रगट करने लगी। भक्तामर स्तोत्र सुनने के लिए मेरे साथ आता था, और सुनने मात्र से इसे सारा स्तोत्र याद रह गया। दूसरे दिन गुरु महाराज के पास जाकर सारी घटना सुनाई। गुरु महाराज ने कहा, माताजी ! ऐसे बालक को शासन के लिए अर्पित कर दो, यह पढ-लिखकर महान् विद्वान बनेगा, जगत् का कल्याण करेगा। ठीक वैसा ही हुआ।

अल्पवय में साधुत्व स्वीकार कर ज्ञानोपार्जन में तल्लीन बन गए। विद्वानों के धाम काशी नगरी में पहुंचे और अगाध ज्ञान प्राप्त किया। सत्रहवी शताब्दी के इन महामहोपाध्याय यशोविजयजी महाराज ने काशी नरेश की राज्यसभा में हजारों दिग्गज ब्राह्मणों की सभा में शास्त्रार्थ किया। वर्णमाला के ४ वर्ग के ओष्ठ्य अक्षरों का तथा त वर्ग के दन्तय अक्षरों का उच्चारण न करने की शरत से शास्त्रार्थ किया एवं सिद्धांत विजेता बनकर महामहोपाध्याय की पदवी प्राप्त की। अपनी अगाध तर्क शक्ति अनेक तर्कयुक्त न्यायादि ग्रन्थों का आविष्कार किया। इस तरह ज्ञान के क्षेत्र में बेजोड़ प्रतिभा सम्पन्न महापुरुष बने।

इस तरह इतिहास में दृष्टिपात करने से ऐसे अनेक महान् पुरुषों के दृष्टांत दृष्टिपथ में आते हैं जिनकी गजब की बुद्धि प्रतिभा हमारे लिए बुद्धि की परे की बात हो जाती है। शून्य में से सर्जन करने की उनकी सर्जनात्मक शक्ति थी। जबकि आज हमारी सर्जनात्मक शक्तियां नहीं है। आज हम अनुकरणवृत्ति वाले रह गए हैं। हम उन महापुरुषों के लिखे हुए शास्त्रों को पढ़ भी नहीं पाते हैं, अतः ऐसा लगता है कि आज हमारी बुद्धि उनकी तुलना में रत्ती भर भी नहीं है। बुद्धि का बौद्धिक विकास करने के लिए ज्ञानाचार की उपासना करनी पड़ती है। जैसे चाकू को घिसकर तेज बनाई जाती है वैसे ही शास्त्रों की कसोटी पर बुद्धि को घिसकर तेज बनाई जाती है। यदि मिली हुई बुद्धि का सदुपयोग न किया जाय तो पड़े हुए लोहे को जिस तरह जंक लग जाता है उसी तरह ज्ञान की उपासना करने से मिली हुई बुद्धि को जंक लगना है। पड़ी-पड़ी बुद्धि नष्ट हो जाती है। जिस तरह एक पहलवान प्रतिदिन व्यायाम करता है, अनेक प्रकार की कसरत करता है, और शरीर सौष्ठव बनाकर हृष्ट-पुष्ट बनता है, यह तो शारीरिक कसरत हुई उसी तरह बुद्धि की भी कसरत करनी चाहिए, बुद्धि की कसरत शास्त्रीय सिद्धांतो के पठन-पाठन एवं चिन्तन मनन से होती है। अतः बुद्धि को जंक न लगे इसलिए प्रतिदिन शास्त्र सिद्धांत-स्वाध्याय-चिन्तन मनन आदि करना चाहिए। आसन व्यायाम और आहार आदि जिस तरह शारीरिक कमजोरी को हटाकर शक्ति प्रदान करता है उसी तरह ज्ञान-ध्यान-स्वध्याय-चिन्तन मनन अध्ययन अध्यापन आदि ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करके ज्ञान शक्ति बढ़ाता है। उपरोक्त नियमानुसार यदि हमें सहि या अच्छी तेज या कुशाग्र बुद्धि मिले, ऐसी इच्छा हो तो वर्तमान में ही ज्ञानार्जन के लिए सहि दिशा में प्रयत्न करना चाहिए अर्थात् सम्यग्ज्ञान उपार्जन करने की दिशा में बुद्धि लगानी चाहिए।

बुद्धि का सदुपयोग :-

जगत् में सभी वस्तुओ का उपयोग होता है। धन सम्पति, शक्ति तथा बुद्धि का भी उपयोग किया जाता है। उपयोग दोनों तरीकों से होता है। सदुपयोग, दुरुपयोग। मिली हुई शक्ति, सम्पति एवं बुद्धि का सहि दिशा में सहि उपयोग करना सदुपयोग कहलाता है। ठिक इससे विपरीत उल्टी-दिशा में शक्ति, सम्पति एवं बुद्धि का विपरित उपयोग करना दुरुपयोग कहलाता है। निरर्थक गप-सप लगाने में बुद्धि का विपरीत उपयोग करना यह बुद्धि का दुरुपयोग है। इसी तरह हसी-मजाक में, किसी को सताने में कुतर्क-वितर्को से तत्त्वों की खिल्लियां उड़ाने में, सत्य का अपलाप करके असत्य को सिद्ध करने में, तथा झूठे को सच्चा बनाने में एवं सच्चे को झूठा करने में, असत् को सत् करने में, अभाव को भाव करने में जिसका अस्तित्व नहीं है उसको साबित करने में और जिसका अस्तित्व है उसको असत् करने में,

इत्यादि कई तरीकों से बुद्धि का दुरुपयोग किया जाता है। यह प्रवृत्ति भी ज्ञानावरणीय कर्म बंधाती है, अतः हमें चाहिए कि बुद्धि का सदुपयोग सही दिशा में ही करना चाहिए, जैसे कि सर्वज्ञोपदिष्ट तत्त्वों का सम्यग् ज्ञान उपार्जन करने में, तदनुरूप अध्ययन अध्यापन, चिन्तन-मनन, पठन-पाठन आदि करने में तथा सही श्रद्धा निर्माण करने में, जीवादि नौ तत्त्वो के चिंतन में, शास्त्रीय विषयों की मीमांसा करने में तथा सत्य को सत्य सिद्ध करने में एवं असत्य को असत्य सिद्ध करने में तथा सत्य की खोज करने में एवं सत्य सिद्धांतो को जीवन में चरितार्थ करने में आदि कार्यो में बुद्धि का उपयोग करना ही बुद्धि का सदुपयोग है। धन, सम्पत्ति और शक्ति का सदुपयोग यद्यपि आसान है। फिर भी सदुपयोग करनें वालों की प्रतिशत संख्या अल्प है, जबकि बुद्धि का सदुपयोग मुश्किल है। अतः सदुपयोग करने वालों की प्रतिशत संख्या भी काफी कम है। सम्प्रति बुद्धिजीवियों का काल गिना जाता है। परंतु उनका बुद्धि विलास में ही समय व्यतीत होता है। आचार धर्म को महत्त्व न देने वाली वर्तमान बुद्धिजीवी पीढ़ी आचार-विहिन बनती जा रही है। यह लाभप्रद नहीं है। अतः मिली हुई बुद्धि का दुरुपयोग करने से जीव ज्ञानावरणीय कर्म बांधकर अज्ञान दुःख को भोगता है तथा बुद्धि का सदुपयोग करके ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम करके जीव ज्ञान सुख पाता है।

स्वमति एवं शास्त्रमति :-

शास्त्र एक महान अगाध महासागर है, जिसका कोई अन्त नहीं है। समुद्र में जिस तरह अनेक रत्न रहते हैं, वैसे ही शास्त्र के सागर में अनेक तत्त्व रहते हैं। शास्त्र एक ज्ञान का खजाना है जो तत्त्वों से परिपूर्ण है। इस खजाने में से कितने भी तत्त्व निकाले जाय फिर भी कभी समाप्त नहीं होता है। दुसरी तरफ हमारी मति-बुद्धि अगाध नहीं है, सीमित-परिमित है, मर्यादित है। अब प्रश्न यह उठता है कि परिमित बुद्धि में ज्ञान का अगाध समुद्र कैसे समाविष्ट करें? जैसे छोटे कुएँ में समुद्र को कैसे समाया जाय? वैसे ही अगाध एवं अमाप शास्त्र के महासागर को हमारी कूप सदृश बुद्धि में कैसे समाया जा सकता है? जब स्वमति में शास्त्र की बातें नहीं बैठती है या समझ में नहीं आती है तब लोग शास्त्र झूठे हैं, गलत हैं, कपोल कल्पित हैं, ऐसा कहकर शास्त्रों को उड़ाने की बालीश कोशिश करते हैं, यह मिथ्याभाव है। ऐसा क्यों नही सोचते कि मेरी बुद्धि अल्प है, सम्भव है मेरी बुद्धि काम नहीं कर रही हो, अतः मैं समझ नहीं पा रहा हूँ, परंतु शास्त्र एवं सिद्धान्त सही है, ऐसा विचार करना सम्यग् श्रद्धा का भाव है, लेकिन ऐसे भाव वाले कम है। स्वमति अर्थात् अपनी बुद्धि में बैठे तो शास्त्र सही और अपनी बुद्धि में न बैठे तो शास्त्र गलत है ऐसा कहना भी अपराध है, उचित नहीं है, क्योंकि ज्ञानावरणीय कर्म की प्रचुरता के कारण हमें बुद्धि अल्प

मिली हो जिससे हम शास्त्र के सिद्धान्त को समझ न पाये इसमें हमारी भूल है, न कि शास्त्र की। **''नाचन न जाने आंगन टेढ़ा''** जैसी बात करनी उचित नहीं है, यदि संसार में सर्वेक्षण करने लगे तो यह दिखाई देगा कि ज्ञानावरणीय कर्म के उदयवाले जीव अधिक है, जबकि ज्ञान के क्षयोपशम वाले जीव अल्प है। हमारे जैसे जीवों का विचार किया जाय तो भी सभी का ज्ञानावरणीय कर्म अनन्तगुना है, जबकि ज्ञान उसके अनन्तवें भाग का ही है, अर्थात् सभी जीवों में ज्ञान के उदय की अपेक्षा ज्ञानावरणीय कर्म का उदय अनन्तगुना है। अनन्तगुने ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के सामने अनन्तवें भाग का ज्ञान किस हिसाब में है? भूतकाल में भी यही स्थिति थी कि ज्ञानावरणीय कर्म के उदयवाले जीवों की संख्या ही ज्यादा थी और ज्ञान के उदयवाले जीवों की संख्या अल्प थी यही स्थिति वर्तमान में है और भावी में रहेगी। कभी भी ज्ञानियों की संख्या अज्ञानियों से बढ़ी नहीं है।

अब जो ज्ञानी है उनमें भी एक ही विषय के पूर्ण ज्ञानी या अनेक विषयों के पूर्ण ज्ञानी या अनन्त विषयों के संपूर्ण ज्ञानी है? आज एक विषय के ही पूर्ण ज्ञानी नहीं है तो अनेक विषयों के ही पूर्ण ज्ञानी की तो बात ही कहां रही? संसार में अनन्त वस्तुए है। अतः ज्ञान भी अनन्त वस्तु विषयक होगा। इतना ही नहीं वस्तु अनन्त धर्मात्मक है एक-एक वस्तु की अनन्त पर्याय हो चूकी है, क्योंकि वस्तु स्वयं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होने से पर्यायों में परिवर्तन होती ही रहती है। एक वस्तु के अनन्त पर्यायों को जानने के लिए या अनन्त वस्तुओं के अनन्त पर्यायों को जानने के लिए अनन्त वस्तुविषयक ज्ञान आवश्यक है। हमारे जैसे अल्प ज्ञानी एक ही वस्तु विषयक ज्ञान को भी पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं कर सकते हैं तो अनन्त वस्तुविषयक अनन्त ज्ञान की बात कहां रही? यह तो अनन्त ज्ञानी के लिए ही संभव है। अतः अनन्तज्ञानी बनकर ही अनन्त ज्ञान की अन्तिम सीमा को जान सकेंगे। सूर्य का प्रकाश होने पर भी उलुक यदि नहीं देख पाता है तो इसमें सूर्य का दोष नहीं अपितु उलुक का ही दोष है, ठीक उसी तरह अनन्त ज्ञानी की बातों को अल्पज्ञानी नहीं समझ पाता है, इसमें अल्पज्ञानी में ज्ञान की अपूर्णता का दोष है। अतः हमें स्वमति पर आधारित न रहकर शास्त्रमति पर आधारित रहना चाहिए। ''शास्त्र चक्षुषा पश्यति'' शास्त्र ही है आँखे जिसकी उसी से देखता है वही शास्त्रवेत्ता कहलाता है। इसलिए हमें भी हमारी बुद्धि शास्त्रीय अर्थात् शास्त्रानुसारी बनानी चाहिए।

श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के भेद :-

आत्मा के गुणों पर आए आवरण का ही नाम 'कर्म' है। अतः जितने आत्मगुण है उतने ही कर्म है। जितने आत्मा के ज्ञानादि गुणों के भेद है उतने ही ज्ञानादि के आवरक-आच्छादक कर्मों के भेद बनेंगे। गत चौथे प्रवचन में पांचो ज्ञानों

के भेद दर्शाए गए हैं। अब यहां पर उन्हीं ज्ञान के भेदों के आवरक कर्मों के भेद देखने है। यहां प्रस्तुत सन्दर्भ में श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के भेद देखने है। श्रुतज्ञान के १४ या २० भेद होते हैं। अतः श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के भी उतने ही १४ या २० भेद बनेंगे। जिन-जिन तरीकों से श्रुतज्ञान उदय मेंआता है उन उन प्रकारों से श्रुतज्ञानावरणीय कर्म भी उदय में आता हैं। अतः अक्षरश्रुत, अनक्षरश्रुत आदि जो १४ प्रकार श्रुतज्ञान के है उन सबके आगे ''ज्ञानावरणीय'' शब्द जोड़ देनें पर वे ही श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के भेद बन जायेंगे। उदाहरणार्थ १)अक्षर श्रुतज्ञानावरणीय कर्म २) अनक्षर श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म ३) संज्ञि श्रुतज्ञानावरणीय कर्म ४)असंज्ञि श्रुतज्ञानावरणीय कर्म ५) सम्यक्श्रुतज्ञानावरणीय कर्म ६) मिथ्यादृष्टि श्रुतज्ञानावरणीय कर्म ७) सादि श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म ८) अनादि श्रुतज्ञानावरणीय कर्म ९) सपर्यवसित श्रुतज्ञानावरणीय कर्म १०) अपर्यवसित श्रुतज्ञानावरणीय कर्म ११) गमिक श्रुतज्ञानावरणीय कर्म १२) अगमिक श्रुतज्ञानावरणीय कर्म १३) अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञानावरणीय कर्म १४) अंगबाह्य श्रुतज्ञानावरणीय कर्म। इस प्रकार ये श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के १४ प्रकार हुए, अर्थात् अक्षरादि श्रुत ज्ञान के भेद से जो अक्षरादि का बोध होता था वह बोध अक्षर श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के कारण नहीं होगा। इसी तरह सभी चौदह प्रकारों के श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के कारण उस प्रकार के श्रुत का बोध नहीं होगा यह समझना चाहिए। बोध न कराना यह श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का कार्य है।

यह तो हुई १४ भेदों की बात। उसी तरह २० भेदों का स्वरूप भी ऐसा ही है। श्रुत ज्ञान के २० भेद के आच्छादक २० प्रकार के श्रुतज्ञानावरणीय कर्म इस प्रकार है - १) पर्याय श्रुतज्ञानावरणीय कर्म २) पर्याय समास श्रुतज्ञानावरणीय कर्म ३) अक्षर श्रुतज्ञानावरणीय कर्म ४) अक्षर समास श्रुतज्ञानावरणीय कर्म) ५) पद श्रुत श्रुतज्ञानावरणीय कर्म ६) पद स. श्रुतज्ञानावरणीय कर्म ७) संघात श्रुतज्ञानावरणीय कर्म ८) संघात स. श्रुतज्ञानावरणीय कर्म ९) प्रतिपत्ति श्रुतज्ञानावरणीय कर्म १०) प्रतिप्रत्ति स. श्रुतज्ञानावरणीय कर्म ११) अनुयोग श्रुतज्ञानावरणीय कर्म १२) अनुयोग श्रुतज्ञानावरणीय कर्म १३) प्राभृत-प्राभृत श्रुतज्ञानावरणीय कर्म १४) प्राभृत-प्राभृत स. श्रुतज्ञानावरणीय कर्म १५) प्राभृत श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म १६) प्राभृत स. श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म १७) वस्तु श्रुतज्ञानावरणीय कर्म १८) वस्तु स. श्रुतज्ञानावरणीय कर्म १९) पूर्व श्रुतज्ञानावरणीय कर्म २०) पूर्व समास श्रुतज्ञानावरणीय कर्म। इस तरह ये श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के २० भेद बनते हैं। ये कर्म उन उन प्रकार से होने वाले श्रुतज्ञान के बोध को रोकते है, अर्थात् अक्षर से या पद से जो बोध होता था वह बोध उसी के आवरणीय कर्म के कारण नहीं होगा। माषतुष मुनि के विषय में यही हुआ। पद श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म के उदय में आने के कारण एक पद भी सही रूप से पाठ

नहीं हो पाया। अतः वे हमेंशा ''मा रूष-मा तुष' के स्थान पर माष तुष ही पाठ करते रहे। ऐसा भी सभी प्रकार के बीसों भेदों के कर्म उदय में आने से उन-उन तरीकों से होने वाले श्रुत का बोध नहीं होता है। उदाहरणार्थ आज हमारे में पूर्व एवं पूर्व समास श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का उदय पडा हुआ होने के कारण एक पूर्व का या सभी पूर्वों का ज्ञान उदय में नहीं है। उस पूर्व के विषयों का सर्वथा अज्ञान ही उदय में है। इसी तरह अन्य भेदों के विषय में समझना चाहिए। यदि तथाप्रकार के भेद का श्रुतज्ञानावरणीय कर्म उदय में नही होगा, या बंधा हुआ नहीं होगा, या सत्ता में ही पड़ा नहीं होगा तो उस प्रकार के श्रुत का बोध अवश्य होगा अन्यथा इससे विपरीत यदि तथाप्रकार का श्रुतज्ञानावरणीय कर्म बंधा हुआ होगा और उदय में आया होगा तो उस प्रकार के श्रुत का बोध नहीं होगा। इन्द्रभूति गौतम को वेद पद के एक श्लोक का अर्थ करते समय एक अक्षर 'न' किस तरफ लगाना यह भ्रम हो गया और 'न' को पीछले अंतिम चरण के साथ लगाकर अर्थ करने से 'आत्मा नहीं है' ऐसा-अर्थ निकाला। आगे चलकर यही अर्थ उनके दिमाग में शंका का स्थान ले लेता है और उनकी वैसी मान्यता बन जाती है कि आत्मा नहीं है। एक अक्षर के भी सही ज्ञान की आवश्यकता रहती है। अक्षर श्रुत ज्ञान से अक्षर का भी सही बोध होता है और अक्षर श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के उदय के कारण उतना भी सही बोध नहीं हो पाता विपरीत हो जाता है क्योंकि ज्ञानावरणीय कर्म अज्ञान की तरफ अग्रेसर करता है। ज्ञान को ढ़कना और अज्ञान को सामने लाना यह ज्ञानावरणीय कर्म का कार्य है। अतः ऐसे ज्ञानावरणीय कर्म को बांधने से बचना चाहिए।

शास्त्र पोथी बेचने चला :-

आज धर्मशास्त्र की किंमत कितनी है? उसका महत्त्व कितना है? धर्मशास्त्र के प्रति हमें आदर कितना है? आज घरों में सजावट और दिखावे का प्रदर्शन चला है, उसमें २५-३० लाख का फ्लेट या बंगला, और उसमें २-३ लाख का फर्नीचर होना चाहिये तथा उसके शो केस में १-२ लाख के कलाकृत्ति के चित्रादि होने चाहिए । ऐसी हवा चल पड़ी है। धर्मशास्त्र की पोथियों से शो बिगड़ता है। उससे कीड़े पड़ जाते हैं और फर्नीचर बिगड़ जाता है। मेहमान आने पर हमारे घर की शोभा की प्रशंसा नहीं करते हैं। इत्यादि हेतुओं को आगे करके धर्मशास्त्रों की पोथियां या प्राचीन धर्मग्रंथ बाजारों में सस्ते भाव से बेच दिए जाते हैं। रद्दी वालों को दे दिए जाते हैं। यह कितना ज्ञान के प्रति अनादर है? उसके स्थान पर अश्लील गंदा एवं फिल्मी दुनिया का सस्ता साहित्य लाकर सजाते हैं। इसी में घर तथा घरवालों की शोभा बढती है। सोचिए ! यह विचारणीय प्रश्न है कि नहीं? कितनी सोचनीय बात है? अब क्या परिणाम आएगा? ज्ञानोपासना हुई कि ज्ञान की आशातना हुई?

ज्ञानावरणीय कर्म उपार्जन करने का भावी में क्या परिणाम आएगा?

एक बार की बात है एक निर्धन ब्राह्मण ने अपनी कुलदेवी की उपासना की। देवी प्रकट हुई। ब्राह्मण ने याचना की, देवी! कुछ भी दो, थोड़ी धन सम्पत्ति दो, सुवर्ण मुद्राएं दो, मेरी आर्थिक स्थिति बहुत खराब है। क्या करूं? देवी ने कहा – अरे विप्र ! तेरे भाग्य में कुछ भी नहीं है। मैं कहां से दूं? भाग्य बिल्कुल खाली है, मैं क्या करूं? ब्राह्मण ने कहा, देवी ! नहीं...नहीं...आप देवी हो, दैवी शक्ति संपन्न हो, आप अवश्य दे सकते हो। देवी ने कहा... अरे ! देने वाला भी भाग्य-पुण्य बल देखकर देता है। तेरे अशुभ कर्मों में दुःख-दारिद्रय-दौर्भाग्य ही लिखा है। अतः मैं क्या करुं? सोचिए – देने वाला भी आपके भाग्य या पुण्य बल को देखकर देता है। याचक ब्राह्मण ने हठाग्रह किया और देवी से देने के लिए आग्रह किया। देवी ने कहा- ठीक है- ले जा यह एक शास्त्र-पोथी है, इसे तू ५०० रुपये में बेचना। बेचारा ब्राह्मण देवी की बात मानकर शास्त्र-पोथी लेकर बेचने चला।

शायद उस शास्त्र पोथी को पढ़कर ज्ञान उपार्जन कर लिया होता तो कई कीमती बातें और उच्च कक्षा की चीजें उसमें लिखी हुई थी। अनेक सिद्धान्तों का निचोड़ प्रतिपादन था। पढ़कर विद्वान बना होता तो सर्वत्र पूजनीय बनता । दूसरों को पढ़ाकर अपनी आजीविका का वर्षों तक निर्वाह कर सकता था। परंतु वह पोथी को न खोलता हुआ सिर्फ बेचने हेतु से गांव-गांव घूमता था। सच ही कहा है कि –

जहा खरो चंदन भारवाही, भारस्स भागी नहु चन्दणस्स।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो, नाणस्स भागी न हु सुग्गईए ।।

गधा जिस तरह चंदन के काष्ठ को पीठ पर उठा कर चलता है परंतु वह चंदन की सुगंध का अनुभव नहीं कर पाता हैं सिर्फ काष्ठ के भार को ही वहन करने वाला बनता है। ठीक उसी तरह चारित्र-आचरण रहित सिर्फ ज्ञान इकट्ठा करनेवाला ज्ञानी भी ज्ञान का भी भागी कहलाता है परंतु सद्गति का भागीदार नहीं बन पाता। यह सार है। ब्राह्मण बेचारा शास्त्र-पोथी खोलकर एक सुवाक्य भी नहीं पढ़ पाता था परंतु पोथी को उठाकर गांव-गांव घूमता रहता था। बेचने के लिए सबको दिखाता रहता था। उस काल की बात थी- ५०० रुपये देकर पोथी कौन खरीदे? १ वर्ष बीत गया। ब्राह्मण परेशान हो गया। अरे रे! देवी ने पोथी क्यों दी? देवी ने ही ५०० रुपये दे दिये होते तो भटकने की यह नौबत तो नहीं आती। आज भी बिना पढ़े पण्डित बनने की इच्छा वाले अनेक हैं। पढ़ना नहीं है, परिश्रम नहीं करना है परंतु किसी तरह उपाधि (डिग्री) हांसिल करनी है। विद्वान बनना नहीं है। विद्वान है ऐसा दिखावा करना है। यह सरस्वती का कितना उपहास है? बिना परिश्रम के विद्या उपार्जन न करते हुए भी विद्वता का दावा करना, विद्वान न होते हुए भी विद्वान है ऐसी कीर्ति, प्रशंसा प्राप्त

करना, मान-सम्मान-पुरस्कार एवं पद प्राप्त करना यह भगवती सरस्वती का कितना छल गिना जाएगा? परीक्षाओं को पास करने के ही हेतु से सिर्फ पढ़ना और वह भी किसी तरह परीक्षा पास करके उपाधि प्राप्त कर लेनी जिससे आजीविका चला सके। वर्तमान शिक्षा पद्धति का हेतु ज्ञानोपार्जन के बजाय अर्थोपार्जन रह गया है। Learning is only for Earning विद्या सिर्फ अर्थोपार्जन के लिए ही रह गई है। यह कितना निकृष्ट कक्षा का हेतु है। एक काल वह था जब विद्या दान से अर्थोपार्जन करना निकृष्ट कहलाता था। आज वह दूषण भूषण रूप में परिवर्तित हो गया है।

ब्राह्मण घूमता हुआ एक शहर में गया। बड़ी दूकान देखकर चढ़ा। मध्याह्न के समय पिता भोजन के लिए घर गये हुए थे और पुत्र दूकान की गद्दी पर बैठा हुआ था। ब्राह्मण ने शास्त्र-पोथी हाथ में देते हुए कहा, देवी ने दी है इत्यादि सारी बात बता दी। लड़के ने पोथी खोल कर २-४ पन्ने पलटे... देखा और पढ़ा । उसे बड़ी कींमती बातें लगी। सोनेरी सुवाक्य लगे। एक वाक्य भी जीवन में उतर जाँए तो जीवन पलट जाये। ऐसा लगते ही ५०० रुपये निकाल कर दे दिये। ब्राह्मण खुश होकर चला। पिताजी दुकान आये। एक पोथी के ५०० रुपये बेटे ने दिये यह सुनकर पिता आगबबूले हो गए। दो-चार चाँटें लगा दिये। मूर्ख कहीं का, निकल यहां से। एक पोथी के इतने रुपये दिये जाते हैं? ऐसा कहकर बाप ने बेटे को निकाल दिया। सोचिए! आज ५०० नहीं पांच हजार कपड़े के लिए दिये जा सकते हैं। बूट-चप्पल के लिए ४००-५०० दिये जा सकते हैं। साड़ी खरीदने के लिए १००० से २००० दिये जा सकते हैं, घर सजावट की वस्तु के लिए तथा बर्तन आदि के लिए दो-पांच हजार मामूली बात लगती है। सबके लिए दिये जा सकते हैं परंतु ज्ञान के लिए अच्छे धर्म शास्त्र-पुस्तक-प्रत के लिए खर्च नहीं किया जा सकता। धार्मिक पुस्तकें या अच्छा आदर्श साहित्य सस्ता या मुफ्त में चाहिए। जबकि गंदा साहित्य हजारों की कींमत चुका कर लाएंगे। धर्मशास्त्र, सत् साहित्य के प्रति आदर सद्भाव ही कहां है? आज कितनों के घर में आदर्श साहित्य है? कहा जाता है कि- Our Best Friends are our Best Books. अच्छी पुस्तकें हमारे अच्छे मित्र के स्थान पर है। एक मित्र जिस तरह कल्याण में निमित्त बन सकता है उसी तरह आदर्श ऊंचे साहित्य की एक पुस्तक शायद हमारे जीवन का ढांचा बदलने में काफी उपयोगी सिद्ध हो सकती है। यह समझकर उस लड़के ने शास्त्र-पोथी पढ़ी, उसके एक-दो वाक्य को जीवन में उतारकर वह जगत में महान बन गया।

ब्राह्मण जिसके भाग्य फूटे हुए थे, वह ५०० रुपये पाकर बहुत ही आनंदित होते हुए वहां से चला। उसके भाग्य में सम्पत्ति नहीं थी। शहर के बाहर उसे लुटेरे मिले, उन्होंने चाकू-बन्दुक दिखाकर ५०० रुपये लुट लिये। रोता-पछताता हाथ

मसलकर बेचारा घर गया। सिर पीटता रह गया। जहां भाग्य ही फूटे हो वहां कोई क्या कर सकता है? देवता आए तो भी क्या कर सकते हैं? वे देकर चले भी जाएं परंतु भाग्य में नहीं है तो टिके कहां से ? शास्त्र पोथी को पढ़कर ज्ञान उपार्जन कर लिया होता तो शायद वह ज्ञान उसके लिए कल्याणकारी जरूर सिद्ध होता। अतः आदर्श साहित्य सिर्फ सजावट के लिए नहीं होता है अध्ययन-अध्यापन, पठन-पाठन एवं चिंतन-मनन के लिए होता है।

आदर्श ज्ञान भण्डार :-

सैंकड़ों वर्षों पहले की बात है जबकि मुद्रण पद्धति विकसी ही नहीं थी। ऐसे समय में भी हमारे पूर्वज महापुरुषों ने अनेक शास्त्र लिखे। शून्य में से सर्जन किया। इतना ही नहीं लिखे हुए शास्त्र प्रतों की सैंकड़ों - हजारों प्रतियां तैयार करवाई और भारत भर के विविध क्षेत्रों-प्रदेशों में चारों तरफ भिजवाकर ज्ञान भण्डार निर्माण करवाए। एक साथ सातसौ-सातसौ लेखकों (लहीयों) को बैठाकर आचार्यश्री हेमचन्द्राचार्यजी लिखवाते थे और गुजरात की गद्दी का राजा कुमारपाल ताडपत्र तथा भोजपत्रों की व्यवस्था करता था। सारा खर्च राज्य कोष से होता था। इस तरह यन्त्रयुग न होते हुए भी हजारों प्रतियां हाथ से लिखकर (हस्तलिखित) अनेक देश-विदेशों में सैकड़ों ज्ञान भण्डार समृद्ध कराए। जैनाचार्यों की यह अनुपम ज्ञानसेवा थी। समूचे भारत देश के ज्ञान के खजाने की रक्षा-सुरक्षा एवं संवर्धन का कार्य करने में जैनाचार्यों एवं जैनों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है यह सभी को निःसंदेह स्वीकारना ही पड़ेगा। जैन शासन की अनुपम सेवा की है। ज्ञान की उपासना का यह भी एक सुंदर मार्ग है। अतः आज इतना समृद्ध ज्ञान का खजाना हमारे सामने उपस्थित हो सका है। यदि ऐसा ज्ञान तथा साहित्य नहीं मिला होता तो शायद क्या होता? इस संदर्भ में आठवीं शताब्दी के आचार्य श्री हरिभद्रसूरि महाराज के शब्द इस प्रकार हैं -

कत्थ अम्हारिसा पाणी, दूसमा दोस दूसिया ।
हा अणाहा कहं हुंता, न हुंतो जइ जिणागमो ।।

इस दूषम काल के दोष से दूषित ऐसे हमारे जैसे प्राणियों का क्या होता यदि जिनेश्वर के आगम-जिनागम नहीं होते? सही बात है कि यदि ऐसे परम तारक सर्वज्ञ वीतराग भगवान के उपदेश स्वरूप जिनागम न होते, हमारे जैसों को पढ़ने के लिए नहीं मिले होते, तो आज हमारा क्या होता? हमारा ज्ञान कहां से बढ़ता? अज्ञान निवृत्ति कैसे होती? अतः अनंत उपकार मानते हैं आगम ग्रंथ निर्माण करने वाले महापुरुषों का तथा उसकी व्याख्या करने वाले उन्हें मुद्रित करने, करानेवालों का तथा उनकी रक्षा-सुरक्षा एवं संवर्धन करने-करानेवालों का जिसके कारण आज वे आगम ग्रंथ हमारे तक पहुंच सके, हमें प्राप्त हो सके। अतः ऐसे शास्त्र संग्रहालय-

ज्ञान भण्डरादि अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुए हैं। यह भी ज्ञानाचार की उपासना है।

पुस्तकालय-वांचनालय :-

जैसे लोग पानी की प्याऊ लगाते हैं और प्यासों को पानी पिलाकर पुण्योपार्जन करते हैं। पानी जैसे जीवन का आवश्यक एवं उपयोगी अंग है ठीक वैसे ही ज्ञान-पिपासा का शमन करने के लिए साहित्य भी अत्यंत उपयोगी एवं अनिवार्य साधन है। पानी की प्याऊ की तरह ज्ञान की प्याऊ के रूप में पुस्तकालय-वांचनालय भी अनिवार्य रूप से उपयोगी साधन है। जिससे वाचक की जिज्ञासा-ज्ञान पिपासा संतोषी जा सकती है। आदर्श उच्च विचारधारा वाले सत्साहित्य का संचय तथाप्रकार के पुस्तकालय-वांचनालय में होना चाहिए। आर्थिक दृष्टि से समाज का प्रत्येक मानव संपन्न नहीं हो सकता है। दूसरी तरफ साहित्य मुद्रण आदि भी महंगा होता जा रहा है। सर्व प्रकार का साहित्य खरीदना या बसाना यह सब के वश की बात भी नहीं रह गई है। ऐसी स्थिति में उच्च कक्षा के आदर्श साहित्य से समाज के लोक वंचित न रह जाय अतः पुस्तकालय-वांचनालय अत्यंत उपयोगी है। ये सही अर्थ में ज्ञान मंदिर के रूप में उपयोगी है। प्रत्येक व्यक्ति पुस्तकों को प्राप्त कर सके, पढ़ सके। क्योंकि चिंतन के लिए सही खुराक मिलने से, अच्छी विचारधारा मिलने से सम्भव है दुर्जन-सज्जन बन जाय, अनेकों की विचारधारा में परिवर्तन आ सकता है। साहित्य एक अच्छे कल्याण मित्र की तरह उपकार करता है। अतः ऐसे पुस्तकालय-वांचनालय ज्ञान-मंदिर के रूप में निर्माण करके जन-जन तक उच्च ज्ञान पहुँचना यह ज्ञान की सुंदर सेवा है। समाज का तथा देश एवं व्यक्ति का उद्धार करने का यह एक उत्तम विकल्प है।

साहित्य मुद्रण एवं प्रचार :-

साहित्य समाज का दर्पण है। समाज का प्रतिबिंब साहित्य रूपी दर्पण में पड़ता है। सामाजिक दूषणों को दूर करने के लिए सत् साहित्य का प्रचार-प्रसार करना ही चाहिए। उसके लिए साहित्य का मुद्रण कराना यह भी ज्ञानाचार की उपासना है। शर्त यही कि वह साहित्य उच्च कक्षा का हो। हल्का न हो। सात्विक विचारधारा की पुष्टि करनेवाला हो सच ही कहा है कि - 'सा विद्या या विमुक्तये' विद्या वही है जो मुक्ति के लिये हो। 'ज्ञानस्य फलं विरति' ज्ञान का फल यही है कि वह विरति को प्राप्त करावे। विरति अर्थात् पाप की निवृत्ति। यदि ज्ञान पाप की निवृत्ति न करावे तो क्या फायदा ? उमास्वाति महाराज ने तत्त्वार्थाधिगम सूत्र की आद्यकारिकाओं की प्रथम कारिका में कहा है कि -

सम्यग्दर्शनशुद्धं यो ज्ञानं विरतिमेव चाप्नोति।
दुःख निमित्तमपिदं तेन सुलब्धं भवति जन्म ।।

सम्यग् दर्शन अर्थात् सच्ची श्रद्धा से युक्त ऐसा जो ज्ञान वह यदि विरति (पाप निवृत्ति) को प्राप्त करावे तो दुःख से प्राप्त हो सके ऐसा यह मनुष्य जन्म भी सुलब्ध-सुलभ हो सकता है।अतः शक्कर मिश्रित दूध जिस तरह मधुर बनता है उसी तरह ज्ञान भी सम्यग् दर्शन-सच्ची श्रद्धा से युक्त हो तो ही उपादेय एवं उपकारी बनता है। अन्यथा मिथ्या ज्ञान घातक बनता है। इसीलिए ज्ञान के विषय में सम्यग् ज्ञान की महत्ता है। सम्यग् शास्त्रों का पुस्तकों का मुद्रण कराना, मुद्रण में उचित सहयोग प्रदान करके प्रचार-प्रसार करना-करवाना यह भी ज्ञानाचार की उपासना है। ज्ञान योग की साधना है।

सम्यग् ज्ञान एवं मिथ्याज्ञान :-

सच्ची श्रद्धा पूर्वक सही ज्ञान जो हो उसे सम्यग् ज्ञान कहते हैं। अर्थात् जीवादि तत्त्वों के यथार्थ-वास्तविक ज्ञान को सम्यग् ज्ञान कहते हैं। परंतु यह वास्तविकता, यथार्थता या सत्यता स्वनिर्मित या कल्पित नहीं होनी चाहिए। अपितु सर्वज्ञोपदिष्ट वस्तुगत वास्तविकता होनी चाहिए, परंतु जैसी वस्तु है वैसा स्वरूप हमें कहना चाहिए। इसीलिए कहा है कि Right is might but might may not be Right जो सत्य है वही मेरा है परंतु जो मेरा है वह सत्य नहीं भी हो सकता है। सम्यग् दृष्टि के विचार ऐसे होने चाहिए। हम वस्तु को सही न्याय दे सकें इसलिए सम्यग् दर्शन एवं सम्यग् ज्ञान की पूरी आवश्यकता रहती है। जीव तत्त्व हो या मोक्ष तत्त्व हो किसी भी तत्त्व का वही स्वरूप हमें मानना या जानना चाहिए जो सर्वज्ञोपदिष्ट हो, सर्वज्ञ कथित शास्त्र निर्दिष्ट हो, न कि स्वकपोल कल्पित हो, या स्वमति की नीपज न हो। तभी ही वह ज्ञान सम्यग् ज्ञान कहलाएगा। इसीलिए आगम शास्त्र में सम्यग् दर्शन की व्याख्या बताते हुए कहा है कि - **'जं जिणेहिं पवेइयं तमेव निःसंकं सच्चं'** जो सर्वज्ञ ऐसे जिनेश्वर भगवंतो के द्वारा प्ररूपित किया गया हो वही शंका रहित सत्य है। ऐसी मान्यता रखनी यह सम्यग् दर्शन-सच्ची श्रद्धा है। सम्यग् दर्शन से तत्त्व के वास्तविक स्वरूप की श्रद्धा निर्माण होती है। जिस तरह दूध में शक्कर डालने से दूध मीठा मधूर बनता है उसी तरह सम्यग् दर्शन के मिलने से ज्ञान भी सम्यग् सही बनता है। अन्यथा ज्ञान मिथ्याज्ञान के रूप में ही रहता है। अतः शास्त्रकार महर्षि यहां तक कहते हैं कि सम्यग् दृष्टि साधक यदि मिथ्याशास्त्र भी पढ़ता है तो वे उसे सम्यग् रूप में ही परिणमते हैं। उसके सम्यग् दर्शन की वृद्धि में ही सहायक बनता है। क्योंकि दृष्टि सम्यग् है अतः वह ज्ञान भी सम्यग् रूप में ही परिणत होगा। ठीक इससे विपरीत मिथ्यादृष्टि यदि सम्यग् शास्त्र भी पढ़ता है तो उसकी मिथ्यादृष्टि ही रहेगी क्योंकि प्रथम जब तक दृष्टि श्रद्धायुक्त नहीं बनती हैं। वहां तक उसे सम्यग् शास्त्र भी लाभकर्ता सिद्ध नहीं हो सकते हैं। अतः पहले दृष्टिसुधार

आवश्यक है। यह दृष्टि चाक्षुष या चक्षु-दृष्टि से सम्बध नहीं रखती। यह आंतरदृष्टि से सम्बन्धित है। अतः सम्यग् दृष्टि यह आंतर दृष्टि है, सच्ची श्रद्धा है, तत्त्वों की वास्तविकता एवं यथार्थता को स्वीकारने की मान्यता है। इसी सम्यग् दृष्टि से युक्त ज्ञान भी सम्यग् ज्ञान बनता है। ठीक इससे विपरीत मिथ्या दृष्टि का ज्ञान भी मिथ्या ज्ञान या विपरीत ज्ञान कहलाता है। मिथ्यादृष्टि का ज्ञान अज्ञानरूप होता है। अतः सम्यग् दर्शन एवं ज्ञान आत्मा के लिए साधक एवं सहायक होते हैं जबकि मिथ्याज्ञान बाधक एवं हानिकारक होता है। अतः साधक को सम्यग् दर्शन एवं सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करना ही चाहिए।

सर्वज्ञोपदिष्ट ज्ञान-सम्यग् ज्ञान :-

सर्वज्ञोपदिष्ट ज्ञान को ही सम्यग् ज्ञान क्यों कहा जाय? क्यों नहीं अन्य किसी के द्वारा उपदिष्ट ज्ञान को सम्यग् ज्ञान कहा जाय? यह प्रश्न यहां उचित है। अतः विचार किया जाना चाहिए। छद्मस्थ अर्थात् अपूर्ण ज्ञानी एवं रागी-द्वेषी सत्य का चरम स्वरूप नहीं बता सकता इसलिए सत्य की चरम सीमा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मूल स्त्रोत सर्वज्ञ-केवलज्ञानी (पूर्णज्ञानी) तथा वीतरागी का होना अनिवार्य है। वे ही आवश्यक है। एक तरफ जो वीतरागी है उसके लिए असत्य बोलने का कोई कारण ही नहीं है। क्योंकि असत्य राग-द्वेष के कारण ही बोला जाता है। राग के घर में माया तथा लोभ गिने जाते हैं तथा क्रोध और मान ये दोनों द्वेष के अंतर्गत गिने जाते हैं। अतः ये चारों क्रोध-मान-माया तथा लोभ कषाय के रूप में है इन्हीं के कारण मनुष्य असत्य का सेवन करता है। उसी तरह भय तथा हास्य भी असत्य सेवन में कारण है। ये सभी रागी-द्वेषी में ही होते है। इन राग द्वेष का सर्वथा क्षय करके जो वीतरागी-वीतद्वेषी हो जाता है उसमें क्रोधादि कषायों की तथा भय-हास्यादि राग-द्वेष की अंश मात्र भी मात्रा नहीं रहती। अतः वे वीतरागी कहलाते हैं। ऐसे वीतरागी के लिए असत्य बोलने का तनिक भी प्रयोजन नहीं रहता। अतः उनके लिए असत्य बोलना सम्भव भी नहीं है।

एक तरफ तो वीतरागता प्राप्त कर चुके हैं और दूसरी तरफ सर्वज्ञता (पूर्णज्ञान) भी प्राप्त कर चुके हैं। अब किसी विषय का ज्ञान शेष नहीं रहता है। समस्त ब्रह्माण्ड के लोकालोक के अनंत पदार्थों का अनंत वस्तु विषयक ज्ञान प्राप्त हो चुका है। वीतरागता की प्राप्ति के कारण असत्य बोलने का कोई कारण या प्रयोजन ही नहीं रहा है। तथा सर्वज्ञता की प्राप्ति के कारण असत्य प्रतिपादन का कोई विषय ही नहीं रहा है। किस विषय में असत्य बोलें? क्योंकि जगत के सभी अनंत विषयों का ज्ञान संपूर्ण परिपूर्ण है। किसी भी विषय का या एक भी विषय का ज्ञान अधूरा अपूर्ण नहीं है तो फिर किस विषय में असत्य बोलें? असत्य प्रतिपादन में

अज्ञान भी प्रबल कारण है। तथा सर्वज्ञ केवली में सर्वथा अज्ञान की संपूर्ण निवृत्ति ही हो चुकी है। अज्ञान का अंश भी नहीं रहा है तो फिर असत्य किस विषय में बोलें? तथा वीतरागता प्राप्त होने के कारण असत्य किसलिए-क्यों बोलें? इसीलिए जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी एवं वीतराग है उनके कथन (वचन) पर ही संपूर्ण श्रद्धा रखनी सम्यग् दर्शन (श्रद्धा) है। अतः सर्वज्ञोपदिष्ट तत्त्व का ज्ञान ही सम्यग् ज्ञान है। यह निर्विवाद सत्य है। इसलिए ठीक ही कहा कि है - **'जं जं जिणेहिं पवेइयं तमेव निःसंकं सच्चं'। 'जो जो सर्वज्ञ और वीतराग ऐसे जिनेश्वर भगवंतो ने प्रतिपादित किया है वही शंका रहित रूपसे सत्य है।'** ऐसा मानना या स्वीकारना ही सम्यग् दर्शन है। सम्यग् दर्शन युक्त ज्ञान ही सम्यग् ज्ञान कहलाता है यही सत्य ज्ञान कहा जाता है।

सर्वज्ञोपदिष्ट श्रुत- 'शास्त्र' :-

शास्त्र ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। क्योंकि श्रुत का अर्थ सुना हुआ। किससे सुना हुआ? ऐसा प्रश्न जरूर उठता है क्या मेरे और आपके द्वारा सुना हुआ शास्त्र कहलाएगा? नहीं। तो फिर श्रुत से शास्त्र अर्थ कैसे लिया जाय? उत्तर में कहते हैं कि जिनको वीतरागता और केवलज्ञान (अनंतज्ञान) प्राप्त हो चुका हो ऐसे सर्वज्ञ भगवान से सुना हुआ कथन या उपदेश ही श्रुत कहलाता है। सर्वज्ञ केवली भगवान समवसरण में बिराजमान होकर अर्थ रूप से जो उपदेश देते हैं उसे उनके प्रमुख शिष्य गणधर भगवान सूत्र रूप में रचना करते हैं। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि-

अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गुंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्य हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तए ।।आ.नि.।।

अर्थात् अरिहंत भगवान अर्थ से देशना देते हैं और निपुण ऐसे गणधर भगवान उस देशना को सुनकर शासन के हितार्थ उसे सूत्र बद्ध रूप से गुंथते हैं। वही श्रुतज्ञान के रूप में प्रवृत्त होता है। गुरु शिष्य की परम्परा में वह श्रुतज्ञान दीर्घ काल तक चलता रहता है। गुरु शिष्य को कंठस्थ कराते रहते थे और शिष्य उस श्रुतज्ञान को मुखोद्गत रखते थे। शिष्य गुरु से पूछते थे कि भगवान ने क्या बताया है? और गुरु कहते थे कि भगवान ने इस प्रकार बताया है। जैसा कि आगमों का अवलोकन करने से उपरोक्त बात सही अर्थ में देखी जा सकती है। सुधर्मास्वामी और जम्बूस्वामी दोनों गुरु शिष्य थे। शिष्य जम्बूस्वामी गुरु से पूछते थे कि - **'तेणं भगवया किं अक्खायं?'** उन भगवान ने क्या कहा है? गुरु सुधर्मास्वामी प्रत्युत्तर में कहते थे कि - **'तेणं भगवया एवं अक्खायं'** उन भगवान ने ऐसा कहा है। इससे यह स्पष्ट दिखाई देता है कि सर्वज्ञ केवली भगवान से ही सुना हुआ ज्ञान गुरु शिष्य की परम्परा में चलता रहता है। कुछ काल तक प्रबल स्मरण शक्ति के आधार पर सारा ही श्रुतज्ञान स्मृति पटल पर ही अंकित रहा। परंतु स्मृति की न्यूनाधिकता के

कारण कालान्तर में जाकर वही श्रुतज्ञान ग्रंथ रूप में अंकित हुआ। ग्रंथाकार श्रुतज्ञान को ही शास्त्र नाम दिया गया है। उसे ही आगम शास्त्र भी कहते हैं। अतः आज हमारे पास जितने भी शास्त्र है। उन सभी पर सर्वज्ञ केवलज्ञानी की मुहर लगी हुई है। जैसे किसी निर्मित वस्तु पर Mad in India: आदि की लगी हुई छाप से वस्तु कहां की है यह पता चलता है, ठीक वैसे ही श्रुतज्ञान के शास्त्रों पर सर्वज्ञ केवलज्ञानी भगवान की मुहर लगी हुई है अतः शास्त्रों का मूल स्त्रोत सर्वज्ञ केवलज्ञानी भगवान है। इसलिए शास्त्र या श्रुतज्ञान सर्वज्ञोपदिष्ट कहा जाता है।

सर्वज्ञसदृश-श्रुतकेवली...

जैसे अनंतज्ञान से केवलज्ञानी सर्वज्ञ कहलाते हैं, वैसे ही समस्त श्रुतज्ञान हा सूक्ष्मतम अवलोकन करने वाले श्रुतकेवली के रूप में गिने जाते हैं। सर्वज्ञ केवलज्ञानी भगवान ने अपने अनंतज्ञान से पदार्थ का जो स्वरूप बताया है, वैसा ही स्वरूप श्रुतकेवली अपने श्रुतज्ञान के आधार पर बता सकते हैं क्योंकि श्रुतकेवली भी परोक्ष रूप से सर्वज्ञ की बात को ही कहते हैं। सर्वज्ञ केवलज्ञानी द्वारा उपदिष्ट जो श्रुतज्ञान परम्परा में चलता हुआ श्रुतकेवली के पास आया है, उसी श्रुतज्ञान के आधार पर श्रुतकेवली केवलज्ञानी जैसी ही प्ररुपणा कर सकते हैं। इस विषय में एक दृष्टांत शास्त्रों में आया है।

एक बार स्वर्गाधिपति इन्द्र महाराज महाविदेह क्षेत्र में गये। जहां सीमंधरस्वामी भगवान समवसरण में बिराजमान होकर देशना दे रहे थे। इन्द्र ने भी समवसरण में बैठकर प्रभु की देशना श्रवण की। देशना समाप्ति के बाद प्रभु से पूछकर निगोद का सूक्ष्म स्वरूप स्पष्ट रूप से समझा। जिज्ञासापूर्वक प्रभु से पूछा कि-हे भगवन् ! जैसा आपने निगोद का सूक्ष्मतम स्वरूप मुझें समझाया है क्या वैसा ही अभी भरतक्षेत्र में कोई समझा सकता है? क्योंकि वर्तमान में भरतक्षेत्र में कोई केवलज्ञानी नहीं है। उत्तर में सीमंधरस्वामी भगवान ने इन्द्र से कहा - हे इन्द्र! भरतक्षेत्र में वर्तमान में आर्य कालकसूरि (कालकाचार्य) श्रुतज्ञान के आधार पर मेरे जैसा ही निगोद का स्वरूप समझा सकेंगे।

यह सुनकर इन्द्र महाराज एक वृद्ध का रूप लेकर भरतक्षेत्र में आचार्य कालकसूरि के पास आये। परीक्षा करने हेतु से वृद्ध का रूप लेकर लकड़ी के सहारे झुककर चलते हुए और लम्बी श्वास के साथ आहें भरते हुए इन्द्र महाराजा आर्य कालकसूरि के पास आकर पूछने लगे-हे कृपालु ! मैं बहुत ही वृद्ध हूं, वृद्धावस्था से दुःखी भी हूं, अतः आप मेरी हस्तरेखा देखकर यह बताइये कि अब मेरा कितना आयुष्य शेष है? मेरे ऊपर बड़ी कृपा करिये, क्योंकि मैं अकेला हूं, मेरे पुत्रो ने घर से निकाल दिया है। इसलिए अब ऐसा लगता है कि आयुष्य जल्दी पूरा हो जाय तो

बहुत अच्छा । अतः कृपया हाथ देखकर बताइये कि कितना आयुष्य शेष है? कहिए भगवन् ! क्या पांच वर्ष? या दस वर्ष?

यह सुनकर गुरु महाराज ने कहा- इससे और ज्यादा ।

इन्द्र ने पूछा - क्या बीस वर्ष? या पचास वर्ष?

गुरु महाराज ने कहा- और ज्यादा-बहुत ज्यादा।

इन्द्र-अरे भगवन् ! बहुत वृद्ध हो गया हूँ। अब कितना जीना बाकी है?

आर्य कालकसूरि ने कहा - हे इन्द्र ! बार-बार क्या पूछते हो? आप तो स्वर्गाधिपति इन्द्र हो और २ सागरोपम में कुछ कम इतना आयुष्य शेष है।

बस, इतना सुनकर इन्द्र महाराज समझ गये कि महाराज ज्ञानी हैं, और मुझे सही अर्थ में पहचान गये हैं। इन्द्र ने अपना मूल स्वरूप बना लिया। हाथ जोड़कर इन्द्र ने कालकाचार्य से निगोद का सही सूक्ष्म स्वरूप पूछा। उत्तर में कालकसूरि ने निगोद का सही एवं शुद्ध स्वरूप बताया। यह सुनकर इन्द्र महाराज ने प्रसन्न होकर कहा कि- सीमंधरस्वामी भगवान की कही हुई हकीकत सत्य साबित हुई, बस इतना कहकर इन्द्र महाराज अपने स्थान पर चले गये।

यह है श्रुतकेवली का स्वरूप। सही बात है कि श्रुतज्ञानी अगाध श्रुतज्ञान का अवधारण करके केवलज्ञानी सर्वज्ञ जैसा स्वरूप प्रतिपादित कर सकते हैं क्योंकि सर्वज्ञ द्वारा ही उपदिष्ट श्रुतज्ञान परम्परा की विरासत के रूप में श्रुतज्ञानी को मिला है। सम्पूर्ण श्रुतज्ञान का मंथन करके श्रुतज्ञानी, श्रुतकेवली बनते हैं जो कि केवली न होते हुए भी केवली सदृश प्रतिपादन कर सकते हैं।

श्रुतज्ञान का क्षयोपशम :-

श्रुतज्ञान के ऊपर आये हुए कर्म के आवरण को श्रुतज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। यह श्रुतज्ञानावरणीय कर्म श्रुतज्ञान को ढक देता है जिससे श्रुत-शास्त्र का ज्ञान अल्प प्रमाण में रहता है। जिसका जितना श्रुतज्ञानावरणीय कर्म उदय में होगा उतना ही उसे श्रुत-शास्त्र का ज्ञान कम होगा। ठीक इसी तरह जिसका जितना श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम ज्यादा होगा उतना ही उसे श्रुतज्ञान अर्थात् शास्त्र का ज्ञान ज्यादा प्राप्त होगा। अतः शास्त्रज्ञान की न्यूनाधिकता का आधार श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम पर है। भूतकाल के इतिहास में ऐसे अनेक महापुरुषों के नाम स्वर्णाक्षरों से अंकित है, जो महान श्रुतज्ञानी, शास्त्रज्ञ एवं मर्मज्ञ कहे जाते थे। महान ज्ञानी गीतार्थ गिने जाते थे। उदाहरणार्थ - उमास्वाती महाराज, सिद्धसेन दिवाकरसूरि महाराज, हरिभद्रसूरि महाराज, हेमचन्द्राचार्य महाराज, वादिदेवसूरि महाराज आदि अनेक महापुरुषों के नाम इतिहास में प्रसिद्ध है। हेमचन्द्राचार्य महाराज को अगाध शास्त्रज्ञान के आधार पर कलिकाल सर्वज्ञ की उपाधि दी गई है अर्थात्

इस कलियुग के सर्वज्ञ तुल्य विद्वान माने जाते थे।

पाँच ज्ञानों में दूसरे क्रम पर स्थित यह श्रुतज्ञान भी अपना वैशिष्ट्य रखता है। परंतु इस पर आच्छादित श्रुतज्ञानावरणीय कर्म ने इसका प्रमाण घटा दिया है। विशेष रूप से श्रुत-शास्त्र, ज्ञान-ज्ञानी एवं ज्ञानोपकरण की आशातना से उपार्जित किया हुआ ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान को ढक देता है। परिणाम स्वरूप पुस्तक ग्रंथ एवं शास्त्रादि का ज्ञान नहीं बढ़ पाता है। एतदर्थ श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम अर्थात् नाश करने का लक्ष्य बनाना पड़ेगा, और उसके लिए श्रुतज्ञान की उपासना करनी पड़ेगी। श्रुतज्ञान की उपासना के लिए श्रुतज्ञान के बताये गये १४ या २० प्रकार का आलम्बन लेना पड़ेगा।

तीर्थंकर भगवंतो को जन्म से ही श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय हुआ रहता है। अतः वे जन्मतः ही पूर्ण श्रुतज्ञानी होते हैं। मति, श्रुत और अवधिज्ञान तीनों ही पूर्ण रूप से होने के कारण तीर्थंकर भगवान जन्म से तीन ज्ञान के स्वामी कहलाते हैं। इसलिए उन्हें बाल्यावस्था से ही पढ़ने आदि की आवश्यकता नहीं रहती आज हमारा श्रुतज्ञानावरणीय कर्म अधिक है और श्रुतज्ञान का प्रमाण अल्प है। फिर भी श्रुतज्ञान की उपासना की तरफ पुरुषार्थ का प्रमाण कम ही देखा जाता है। अतः श्रुत-शास्त्र आदि का ज्ञान बढ़ाने की इच्छा वाले को श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम करना ही एक मात्र विकल्प है और वह ज्ञान-ध्यान-स्वाध्यायादि श्रुतोपासना से ही सम्भव है। उसके लिए ज्ञानाचार की उपासना शास्त्रों में बताई गई है। जैसे किसी रोग की कोई औषधि होती है जो रोग को मिटाती है। वैसे ही ज्ञानाचार युक्त ज्ञानोपासना रूपी औषधि से श्रुतज्ञानावरणीय कर्म रूपी रोग मिटता है, शरीर में शक्ति की तरह आत्मा में ज्ञान का खजाना बढ़ता है। अतः ज्ञानाचारानुसारी ज्ञानोपासना ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय एवं क्षयोपशम करने के लिए औषधि तुल्य कार्य करती है। कल्पातीत देवलोक के अनुत्तर स्वर्ग एवं सर्वार्थसिद्ध विमान आदि के देवता आयुष्यभर शास्त्रीय विषयों के चिंतन-मनन में तल्लीन रहते हैं। अद्‌भूत ज्ञानोपासना करते हैं। वर्तमान में ज्ञानोपासना के बजाय ज्ञान की आशातना एवं विराधना का प्रमाण अधिक दृष्टिगोचर होता है जिसके फलस्वरूप शास्त्रज्ञानादि भी अल्प प्रमाण में ही दिखाई देता है।

अभयदेवसूरि की श्रुतोपासना :-

नवांगी वृत्तिकार प्रसिद्ध आचार्य महाराजश्री अभयदेवसूरिजी हुए हैं। जिन्होंने अपने आयुष्यकाल में ४५ आगमों में प्रमुख जो ११ अंगसूत्र कहे जाते हैं। उनमें से ९ अंगसूत्र की वृत्तियाँ बनाई हैं। अतः वे नवांगी वृत्तिकार कहे जाते हैं। मूल अंगसूत्र जो कि अर्धमागधी भाषा में सारगर्भित स्वरूप में थे, उनका भावार्थ स्पष्ट

करने के लिए पूज्यश्री ने संस्कृत भाषा में विस्तार से टीकाएँ लिखी हैं। जिनमें कई पदार्थों का विस्तार से विवेचन किया है। लिखने में समय कम पड़ता था। इसलिए आचार्यश्री ने अपने भोजनकाल में से समय बचाने के लिए आयम्बिल की तपश्चर्या शुरु की। आयम्बिल में एक ही समय रूक्ष एवं निरस भोजन करने से दूसरा समय काफी बचता था। इस तरह समय बचाकर उन्होंने ९ अंगसूत्रों पर सारगर्भित, महत्त्वपूर्ण वृत्तियाँ लिखी। लिखते-लिखते करीब १२ वर्ष बीत गये। धाराप्रवाह बद्ध रूप से लिखते ही जा रहे थे। ऐसे समय में उन्हें अशाता वेदनीय कर्म जन्य रोग का उदय हुआ। फिर भी रोग की चिन्ता किये बिना लिखते ही गये। भावी पीढ़ी के विद्वानों को यह ज्ञान प्राप्त हो इसलिए उन्होंने शास्त्रों की बहुत बड़ी सेवा की है।

वर्तमान ४५ आगम शास्त्र :-

अंगसूत्र उपांगसूत्र पयन्ना छेदसूत्र मूलसूत्र अनुयोगव्दार तथा नन्दिसूत्र

11 + 12 +10 + 6 + 4 + 2 = 45

अग्यार अंग उपांग बार, दश पयन्ना जाणिये।
छ छेद ग्रंथ पसत्थ सत्था, मूल चार वखाणिये।।
अनुयोगव्दार उदार नन्दिसूत्र जिनमत गाइये,
वृत्ति-चूर्णी-भाष्य पिस्तालीश आगम ध्याइये।।

आगम अर्थात् पवित्र धर्मशास्त्र / गणधर भगवंतो व्दारा रचित व्दादशांगी एवं १४ पूर्व आदि में से वर्तमान में ४५ आगम ही शेष रहे हैं। जिनकी संख्या ऊपर बताई गई है। यद्यपि अंगसूत्रो की संख्या १२ थी परंतु कालान्तर में बारहवें अंगसूत्र 'दृष्टिवाद' के विच्छेद होने से वर्तमान में ११ ही प्रसिध्द एवं प्रचलित है। इनमें भगवान महावीरस्वामी का मुख्य उपदेश संग्रहीत है। यही जैन शासन में ज्ञान का अपूर्व खजाना गिना जाता है। इतिहास में इन आगमों पर अनेक वृत्तियां, चूर्णीयाँ, भाष्य एवं टीकाएँ लिखी गई है। अनेक महापुरुषों ने शास्त्र सेवा का यह महान् कार्य किया है। पूज्य शीलांकाचार्य ने प्रथम दो अंगसूत्र-आचारांग एवं सूत्रकृतांग की टीकाएँ लिखी थी। तथा शेष ९ अंगसूत्रों की टीका लिखने का श्रेय पूज्य अभयदेवसूरिजी महाराज को जाता है। इस तरह यह श्रुतज्ञान या शास्त्रज्ञान एक अगाध महासागर है। जिस तरह महासागर की सीमा का कोई अंत नहीं हैं उसी तरह श्रुत-शास्त्र रूपी महासागर का भी कोई अंत नहीं हैं। जैसे गोताखोर लोग समुद्र में डुबकियाँ लगाकर मोती या रत्न निकाल सकते हैं वैसे ही अगाध श्रुतसागर में चिंतन की डुबकियाँ लगाकर महापुरुषों ने तत्त्व रूपी रत्न निकाले हैं। इस बात का प्रमाण स्तुतियों में प्रत्येक की तीसरी स्तुति जो आगम एवं श्रुत शास्त्रज्ञान के विषय की जाति है उससे पता चलता है। उदाहरणार्थ-

(१) ''कल्लाण कंदं'' नामक स्तुति में तीसरी ''निव्वाण मग्गे वरजाण कप्पं''

(२) ''संसारदावा'' की स्तुति में तीसरी स्तुति - 'बोधागादं सुपदपदवी नीरपूराभिरामं' इसमें श्रुतज्ञान की एक अगाध सागर के साथ तुलना की गई है। जिसके लिए 'सारंवीरा गमजल निधिं' इत्यादि शब्द प्रयोग किये गये।

(३) 'स्नातस्या' की स्तुति में तीसरी स्तुति -

''अर्हद्वक्त्रप्रसूतं गणधररचितं व्दादशांगं विशालं''

स्तुति में अरिहंत भगवान के मुख से निकली हुई वाणी और गणधर भगवंत द्वारा उसका जो गुंथन किया गया है वही द्वादशांगी आगम कहलाता है। इस तरह अनेक स्तुतियां देखने पर प्रत्येक की तीसरी स्तुति सदा ही आगम या श्रुत-शास्त्र सम्बन्धी होगी। जिनमें श्रुतज्ञान की प्रशस्ति मिलेगी।

प्रमाण का स्वरूप :-

प्रमाणशास्त्र में कई प्रमाणों का विचार किया गया है। जिसका संक्षिप्त स्वरूप निम्न तालिका में दर्शाया है।

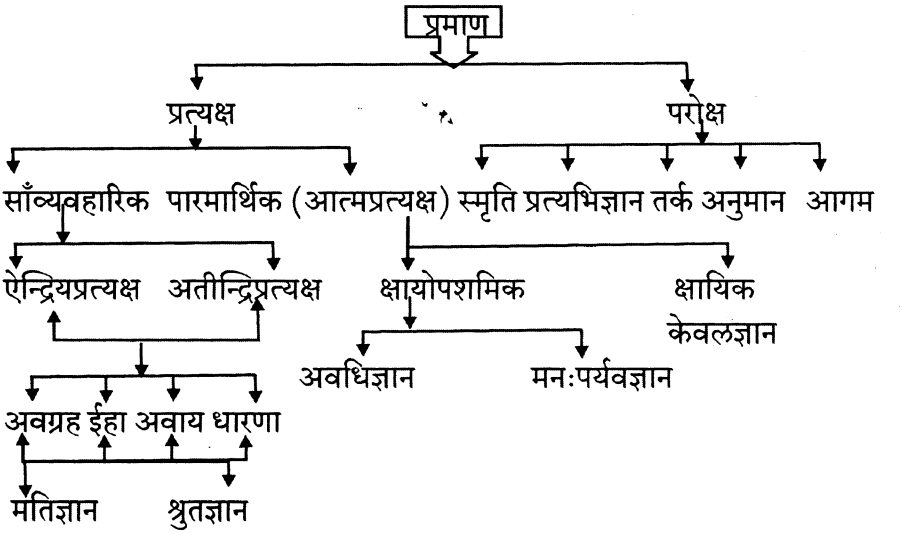

ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार से ज्ञान होता है। अतः इन दोनों को प्रमाण रूप गिना गया है। उपरोक्त तालिका में किये गये निर्देशानुसार प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद होते हैं। प्रत्यक्ष के साँव्यवहारिक और पारमार्थिक दो भेद होते हैं। साँव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है। अतः साँव्यवहारिक प्रत्यक्ष के ऐन्द्रियप्रत्यक्ष और अतीन्द्रियप्रत्यक्ष ये दो भेद बनते हैं। पांचों इन्द्रियां और छट्ठा अतीन्द्रिय-मन इन ६ से ये दो प्रत्यक्ष होते हैं। इन दोनों का ज्ञान १. अवग्रह २. ईहा ३. अपाय और ४. धारणा इन चार भेद से होता है।

इन्हीं चारों से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होता है। (जिनका विवेचन पहले किया गया है।) अतः मतिज्ञान और श्रुतज्ञान साँव्यवहारिक ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष एवं अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से उत्पन्न होते हैं।

प्रत्यक्ष का दूसरा भेद पारमार्थिक प्रत्यक्ष जो है उसे ही आत्मप्रत्यक्ष या नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष भी कह सकते हैं। क्योंकि यह बिना किसी इन्द्रियों की मदद से सीधे आत्मा से होता है एवं परमार्थ को जानता है अतः पारमार्थिकप्रत्यक्ष या आत्मप्रत्यक्ष कहा जाता है। परमार्थिक प्रत्यक्ष क्षयोपशमिक एवं क्षायिक के भेद से दो प्रकार का होता है। आत्मा के ऊपर जिन कर्मों का आवरण है उनका जितने अंश में क्षयोपशम एवं क्षय होगा उतने अंश में पारमार्थिक ज्ञान प्रकट होगा। जब उन-उन ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षयोपशम होगा तब अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान होगा। अतः क्षायोपशमिक पारमार्थिक प्रत्यक्ष के (१) अवधिज्ञान और (२) मनःपर्यवज्ञान ये दो भेद कहलात हैं। ये दोनों ज्ञान बिना किसी इन्द्रिय की मदद के सीधे आत्मा से ही होते हैं। अवधिज्ञान से आत्मा सीधे ही दूरस्थ रूपी पदार्थों का साक्षात्कार करती है। उसी तरह मनःपर्यवज्ञान से मन वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों अथवा विचारों को सीधे ही जान सकती है। पारमार्थिक क्षायिक प्रत्यक्ष सर्वथा घाती कर्मों के संपूर्ण क्षय से उत्पन्न होता हैं अतः उसे पूर्णज्ञान या केवलज्ञान कहते हैं। इसे ही अनंत ज्ञान भी कहते हैं। केवलज्ञान से सम्पूर्ण लोकालोक के अनंत पदार्थों का एवं उनके गुण व पर्यायों का भी एक साथ ज्ञान होता है। यह पारमार्थिक प्रत्यक्ष के क्षायिक केवलज्ञान का स्वरूप हुआ। बिना किसी इन्द्रिय की मदद से सीधे आत्मा से केवलज्ञान के द्वारा समस्त ब्रह्मांड के अनंत द्रव्य-गुण पर्यायों का एक साथ प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

परोक्षज्ञान का स्वरूप :-

उपरोक्त तालिका में बताये अनुसार परोक्ष प्रमाण के पांच भेद होते हैं। **'परोक्षं च स्मृति प्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमभेदात् पंच प्रकारम्।'** अर्थात् (१) स्मृति (स्मरण) (२) प्रत्यभिज्ञान (३) ऊह (तर्क) (४) अनुमान (५) आगम (शब्दप्रमाण) आदि पांच भेद परोक्ष प्रमाण के होते हैं।

(१) स्मृति (स्मरण) प्रमाण :- 'तत्र संस्कारप्रबोधसंभूतमनुभूतार्थ -विषयं तदित्याकारं वेदनं स्मृत्तिः'। संस्कार से उत्पन्न अनुभव किये हुए पदार्थ में 'वह है' इस प्रकार के स्मरण होने को स्मृति कहते हैं उदाहरणार्थ यह जिन प्रतिमा है।

(२) प्रत्यभिज्ञानप्रमाण :- 'अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वता-सामान्यादिगोचरं संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्। यथा तद् जातीय एवायं गोपिंडः, गोसदृशो गवयः, स एवायं जिनदत्त इत्यादि।' वर्तमान में किसी वस्तु

के अनुभव करने पर और भूतकाल में देखे हुए पदार्थ का स्मरण होने पर तिर्यग्सामान्य (वर्तमान कालवर्ती एक जाति के पदार्थों में रहने वाला सामान्य) और ऊर्ध्वतासामान्य (एक ही पदार्थ के क्रमवर्ती सम्पूर्ण पर्यायों में रहने वाला सामान्य) आदि को जानने वाले संकलनात्मक ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। उदाहरण दिया है कि (१) यह गोपिंड उसी जाति का है (२) यह गवय गौ (गाय) के समान है (३) यह वही जिनदत्त है। उपमान प्रमाण का जैन तार्किकों ने इसी प्रत्यभिज्ञानप्रमाण में समावेश किया है। अतः उपमान को अलग से स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना है परंतु प्रत्यभिज्ञान को ही प्रमाण माना है।

(३) ऊह (तर्क) प्रमाण :- उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकाली कलित साध्य-साधनसम्बन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहस्तर्कापरपर्यायः। यथा यावान् कश्चिद् धूमः। स सर्वो वह्नो सत्येव भवतीति तस्मिन्नसति असौ न भवत्येवेति वा। उपलंभ और अनुपलंभ से उत्पन्न, त्रिकाल कलित, साध्य साधन के सम्बन्ध आदि से होने वाले - 'इसके होने पर यह होता है,' इस प्रकार के ज्ञान को ऊह अथवा तर्क के नाम से प्रमाण रूप माना जाता है। उदाहरणार्थ - (१) अग्नि के होने पर ही धुम होता है, अग्नि के न होने पर धूम नहीं होता है।

(४) अनुमानप्रमाण :-अनुमानं द्विधा स्वार्थं परार्थं च। तज्ञान्यथा नुपपप्येकलक्षणहेतुग्रहणसंबंधस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम्। पक्षहेतु -वचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात्।

अनुमान के दो भेद होते हैं- (१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान।
(१) स्वार्थानुमान - अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु ग्रहण करने के सम्बन्ध के स्मरण पूर्वक साध्य के ज्ञान को स्वार्थानुमान कहते हैं।
(२) परार्थानुमान - पक्ष और हेतु कहकर दूसरे को साध्य का ज्ञान कराने को परार्थानुमान कहते हैं। परार्थानुमान को उपचार से अनुमान कहा गया है।

(५) आगम (शब्द) प्रमाण :- आप्तवचनादाविर्भूतमर्थ-संवेदनमागमः। 'उपचारादाप्तवचनं च' इति।

आप्त के वचन से पदार्थों का जो ज्ञान होता है उसे आगम या शब्द प्रमाण कहते हैं। ''आप्तस्तु यथार्थ वक्ता'' यथार्थ बोलने वाले को ही आप्त पुरुष कहते हैं। लौकिक और लोकोत्तर के भेद से आप्त पुरुष दो प्रकार के होते हैं। सर्वज्ञ लोकोत्तर आप्त महापुरुष के वचन को आगम कहते हैं। आगम प्रमाण से अनेक पदार्थों का ज्ञान होता हैं। इस तरह जैन दार्शनिकों ने स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, ऊह, अनुमान और आगम प्रमुख परोक्ष प्रमाण के पाँच प्रकार दर्शाये हैं। अन्य उपमान, अर्थापत्ति,

सम्भव, प्रातिभ, ऐतिह्य आदि प्रमाणों का उपरोक्त पांच में ही अंर्तभाव होता है। अतः इन्हें स्वतंत्र रूप से अलग गिनने की आवश्यकता नहीं है। सन्निकर्ष आदि को जड़ होने के कारण प्रमाण नहीं कहा जा सकता है । इस तरह यह ज्ञानोत्पत्ति प्रक्रिया में प्रमाण के स्वरूप का विवेचन किया है। आगमप्रमाण के आधार पर ही जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आश्रव-संवर, बंध-निर्जरा, लोक-परलोक, स्वर्ग-नरक, तथा मोक्षादि तत्त्वों का स्वरूप सही अर्थ में यथार्थ रूप से जान सकते हैं।

स्वसंवेद्य-ज्ञान :-

ज्ञान स्व संवेद्य कहा जाता है। संवेद्य अर्थात् अनुभूति। ज्ञान की अपनी अनुभूति अर्थात संवेदन स्वतःही होता है न कि स्वेतर संवेद्य । जिस तरह एक दीपक को देखने के लिए दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं होती है वैसे ही एक ज्ञान के लिए दूसरे अर्थात् स्व इतर अर्थात् अपने से भिन्न ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है। भिन्न ज्ञान की अपेक्षा मानने वाले भिन्न दर्शन है। परंतु जैन दर्शन ज्ञान को स्वसंवेद्य ही मानता है। इस विषय में ग्रीक दार्शनिक प्लूटो (Plato) का मत है कि - Knowledge is nothing but it is Intutional अर्थात् ज्ञान बाहर से नहीं आता परंतु अंदर से ही (आत्मा में से ही) उद्भव होता है ज्ञान आत्मा की नीपज है। ज्ञान आत्मा का झरना है। ज्ञान का मूल उद्गम स्त्रोत आत्मा ही है। ज्ञान और आत्मा गुण-गुणी भाव से अभेद स्वरूप है। ज्ञान गुण है और आत्मा द्रव्य है। द्रव्य अर्थात् गुणी है। गुण-गुणी में आधार-आधेय सम्बन्ध है अतः 'ज्ञानाधिकरणमात्मा' न कहकर जैन दर्शन ने 'ज्ञानमयोएवायमात्मा' अर्थात् आत्मा ज्ञानमय ही है। यदि ज्ञान का अधिकरण आत्मा को माने तो भेद सम्बन्ध आता है। जबकि यहाँ अभेद सम्बन्ध है। यह अभेद भाव दिखाने के लिए 'ज्ञानमयोएवायमात्मा' यह कहा गया है। यही वाक्य अभेद भाव को दिखाता है। अतः ज्ञानमय ही आत्मा है। ज्ञान से भिन्न नहीं है। जैसे सूर्य से सूर्य की किरणें भिन्न नहीं हैं तथा दीपक से दीपक का प्रकाश जिस तरह भिन्न नहीं है उसी तरह आत्मा से ज्ञान भिन्न नहीं है। यह अभिन्नता एवं अभेद दिखाने के लिए ज्ञानमय ही आत्मा कही गई है। अर्थात् आत्मा ज्ञान स्वरूप ही है। अतः आत्मा का ज्ञान स्वसंवेद्य ही है। स्वेतर संवेद्य नहीं है।

अवधिज्ञानावरणीय कर्म और अवधिज्ञान :-

प्रत्यक्ष के पारमार्थिक भेद में जो नोइन्द्रियप्रत्यक्ष अर्थात् आत्मप्रत्यक्ष की बात की गई है, उसमें क्षायोपशमिक पारमार्थिक प्रत्यक्ष के भेद में अवधिज्ञान गिना गया है। यहाँ अवधि शब्द से क्षेत्रीय मर्यादा ली गई है। समस्त ब्रह्मांड का क्षेत्र अनंत अमर्यादित है। इसके सीमित क्षेत्र की किसी निश्चित मर्यादा तक होने वाले ज्ञान को

अवधिज्ञान कहा गया है। इसका यह अर्थ है कि लोक परिमित क्षेत्र के स्वर्ग नरक आदि लोक या ऊर्ध्व अधोलोक के सीमित क्षेत्र की मर्यादा या अवधि तक के रूपी पुद्गल पदार्थों का साक्षात्कार होना यह अवधिज्ञान का स्वरूप है। यह ज्ञान आत्म-प्रत्यक्ष अर्थात् बिना किसी इन्द्रिय की मदद के सीधे आत्मा से होता है, अतः अवधिज्ञान में इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं होती है। तत्रस्थ अर्थात् उस-उस क्षेत्र की सीमा में रहे हुए रूपी पुद्गल पदार्थों को अवधिज्ञानी अपने स्थान पर रहे हुए ही प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं। (आगे अवधिज्ञान के स्वरूप एवं भेदों का वर्णन किया गया है अतः यहाँ पुनरावृत्ति नहीं करते हैं।)

अवधिज्ञानावरण ना, क्षय थी थया चिद्रूप ।
ते आवरण दहन भणी, ऊर्ध्व गति रूप धूप ।।

शुभवीरविजयजी महाराज चौंसठ प्रकारी पूजा के चौथी ढाल में उपरोक्त दोहे में अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से जो चिद्रुप हो चुके हैं उनकी धूप पूजा रूपी भक्ति करते हुए हम भी उस अवधिज्ञान के आवरण का क्षय कर सकें यह भाव रखा है।

मुख्य रूप से अवधिज्ञान के भवप्रत्ययिक और गुणप्रत्ययिक ये दो भेद किये गए हैं भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान स्वर्गस्थ देवताओं और नरक के नारकी जीवों को जन्मतः होता है। जिस तरह पक्षियों में जन्मतः उड़ने का स्वभाव होता है उसी तरह देवता और नारकी जीवों को जन्मतः अवधिज्ञान होता है। गुण प्रत्ययिक अवधिज्ञान जन्मतः नहीं होता है। यह मनुष्य और पशु-पक्षिओं को ही होता है। अतः गुण प्रत्ययिक अवधिज्ञान के अधिकारी मनुष्य और तिर्यंच गिने जाते हैं। गुण-प्रत्ययिक अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होता है। संसारी आत्मा के प्रत्येक गुणों पर कर्म के आवरण है। पांचों प्रकार के ज्ञान आत्मा के ज्ञान गुण के अंतर्गत है, अतः इन पांचों ज्ञान के उपर कर्म के आवरण भी लगे हुए हैं। अवधिज्ञान के आवरक कर्म को अवधिज्ञानावरणीय कर्म कहा जाता है। जैसे बादलों के हटने से सूर्य दिखाई देता है ठीक वैसे ही उन-उन कर्मों रूपी बादलों के हटने अर्थात् क्षय एवं क्षयोपशम से उस उस प्रकार के ढके हुए गुण प्रकट होते हैं। यहाँ पर अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से ही अवधिज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। विशेषावश्यक भाष्य के ५७५ वें श्लोक में यह दर्शाया है कि-

कर्म के जो उदय-क्षय-क्षयोपशम और-उपशम कहे गये हैं वे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव इन पांच के निमित्त को पाकर होता है। नन्दिसूत्र में कहा है कि **- कोह हेऊ खायोवसमियं? खायोवसमियं तयावरणिज्जाणं कम्माणं उदिण्णाणं खाणं अणदिण्णाणं उवसमेणं ओहिणाणं समुप्पज्जति। अहवा**

गुणपडिवण्णस्स अणगारस्स ओहिणाणं समुप्पज्जति।

अवधिज्ञान को क्षायोपशमिक पारमार्थिक भेद में गिना गया है। किस कारण क्षायोपशमिक में गिना है? इसके उत्तर में कहते हैं कि तदावरणीय अर्थात् अवधिज्ञानावरणीय कर्म के उदयावलिक में प्राप्त कर्म पुद्गल परमाणुओं के क्षय से और अनुदीर्ण अर्थात् उदय में न आते हुए कर्म का उपशमन करने से अर्थात् क्षयोपशम भाव से अवधिज्ञान प्रकट होता है। तथा तपादि गुण विशेष से कर्म का क्षयोपशम होने के कारण यह गुण प्रत्ययिक अवधिज्ञान कहा जाता है। 'संखाईयाओं खलु ओहिण्णास्स' भाष्य के आधार पर यद्यपि अवधिज्ञान के संख्यातीत भेद बताए गये हैं, परंतु मुख्य रूप से ६ भेद प्रचलित हैं।

अणुगामि-वड्ढमाणहीय, पडीवाईयर-विहा छहा ओही। (१) अनुगामि (२) अननुगामि (३) वर्धमान (४) हीयमान (५) प्रतिपाति (६) अप्रतिपाति इस तरह ये मुख्य भेद गिने गये हैं। अनुगामि के भी (१) अंतर्गत और मध्यगत ये दो भेद होते हैं।

जिस तरह अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान उत्पन्न होता है उसी तरह अवधिज्ञानावरणीय कर्म के उदय से अवधिज्ञान आच्छादित भी हो जाता है। तथाप्रकार की अशुभ प्रवृत्ति से ये गुण नष्ट भी हो जाता है। शास्त्र में एक प्रसंग ऐसा आता है कि-

एक मुनि महात्मा अपनी प्रतिलेखन की क्रिया (पडिलेहण) करके काजा (कचरा) निकाल रहे थे, उस काजे (कचरे) को इकट्ठा करके फैंकने (परठवने) के बाद इरियावही की क्रिया करते समय भाव की विशुद्धि से अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान प्रकट हुआ। महात्मा अवधिज्ञानी बने। अवधिज्ञान उत्पन्न होते ही बिना किसी इन्द्रिय की मदद से स्वर्ग-नरकादि दिखाई देने लगे। ऊर्ध्व क्षेत्र के देवलोक का पहला स्वर्ग दिखाई दिया। महात्मा ने देखा कि प्रथम स्वर्गाधिपति सौधर्मेन्द्र अपनी प्रियतमा इन्द्राणी को मना रहे थे। इन्द्राणी कुछ नाराज थी अतः इन्द्र उन्हें मना रहे थे। बड़े ही दीन भाव से विनंती करके मनाते हुए सौधर्मेन्द्र को देखकर क्षण भर में मुनि महात्मा को हंसी आ गई। कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े-खड़े महात्मा हंसने लगे। इस हंसने का परिणाम यह आया कि हास्य मोहनीय कर्म विशेष के कारण महात्मा का अवधिज्ञान चला गया। अर्थात् नष्ट हो गया। पुनः अवधि ज्ञानावरणीय कर्म का उदय हो गया। इससे यह समझ में आता है कि किसी तरह कर्म के क्षयोपशम से ज्ञान प्रकट होता है और कर्म के उदय से ज्ञान कैसे नष्ट होता है?

आनंद श्रावक को अवधिज्ञान :-

उपन्यो अवधिज्ञाननो, गुण जेहने अविकार।
वन्दना तेहने माहरी, श्वास मांहे सो वार ।।

विजय लक्ष्मीसूरि महाराज ने ज्ञानपंचमी के देववंदन में पांचों ज्ञानों का स्वरूप वर्णन करते हुए अवधिज्ञानी को नमस्कार करते हुए लिखा है कि- अवधिज्ञान का अविकारी गुण जिसे भी प्राप्त हुआ हो उस अवधिज्ञानी महात्मा को मेरी एक श्वास में सौ बार वंदना हो। ऐसा अवधिज्ञान भूतकाल में अनंतात्माओं को प्राप्त हो चुका है। आगमों के ११ अंगसूत्रों में सातवें अंगसूत्र 'उपासकदशांग सूत्र' में भगवान महावीर प्रभु के परम उपासक ऐसे दश श्रेष्ठ श्रावकों का वर्णन आता है। जिसमें आनंद श्रावक का सर्व प्रथम वर्णन है। गृहस्थ संसारी आनंद व्यापारी ने महावीर प्रभु के पास देश विरति धर्म योग्य श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किये। प्रतिवर्ष व्रतों की मर्यादा में संक्षिप्तीकरण करते-करते आनंद श्रावक सर्वथा निष्परिग्रही हो गया था और चावल का पानी आदि लेता था। इस तरह उपासकदशांग आगम में आनंद श्रावक के त्याग-तप का अनुपम वर्णन किया गया है। १४ वर्ष की अनुपम साधना करते करते आनंद श्रावक ने अंत में संथारा लेकर मात्र पैर फैला सके इतनी ही भूमि में संथारा करके अनशन कर लिया था। ऐसे परमोपासक आनंद श्रावक का भाव विशुद्धि के बल पर अवधिज्ञानावरणीय एवं अवधिदर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने से अवधिज्ञान एवं अवधिदर्शन प्राप्त हुआ। ऐसा ज्ञान होते ही आनंद श्रावक को काफी लम्बे-चौड़े क्षेत्र तक स्पष्ट दिखाई देने लगा। अवधिज्ञान से अवधिज्ञानी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कहां तक कितना जान सकते हैं व देख सकते हैं इस विषय में विस्तृत वर्णन नंदि सूत्र में तथा विशेषावश्यक भाष्य में किया गया है।

आनंदश्रावक को इस अवधिज्ञान-अवधिदर्शन से अनेक द्वीप समुद्रादि दिखाई देने लगे। योगानुयोग ऐसे समय श्री वीरप्रभु के आद्य गणधर अनंतलब्धि निधान श्री गौतम स्वामी पधारे। आनंद श्रावक ने भाव भरी वन्दना करते हुए विनंती की कि - हे भगवान् संस्तारक (संथारे) से बाहर भूमि का त्याग किया हुआ होने के कारण मैं बाहर पैर नहीं रखना चाहता अतः हे कृपालु! आप समीप पधारो ताकि मैं आपके चरण स्पर्श कर सकूं। गौतम स्वामी पधारे और आनंद श्रावक ने भावपूर्वक निवेदन किया कि हे कृपालु ! आपकी असीम कृपा से मुझे अवधिज्ञान-अवधिदर्शन प्राप्त हुआ है और इतने ऊपर देवलोक तक तथा अधो एवं तिर्छी दिशाओं में इतना-इतना दिखाई दे रहा है।

यह सुनते ही गौतम स्वामी ने कहा- हे आनंद ! गृहस्थाश्रम में श्रावक को इतनी सुदीर्घ अवधि तक का अवधिज्ञान नहीं हो सकता, अतः मृषावचन का 'मिच्छामिदुक्कडं' दे दीजिए।

आनंद श्रावक - हे कृपानाथ ! क्या महावीर प्रभु के शासन में सत्य वचन का

भी मिच्छामिदुक्कडं दिया जाता हैं?

गौतम स्वामी – नहीं–नहीं। मृषावचन का ही दिया जाता है।

आनंद श्रावक – हे कृपालु ! तो फिर मिच्छामिदुक्कडं मुझे देना चाहिए कि आपको?

गौतम स्वामी – आनंद ! इस विषय में मैं समवसमण में जाकर प्रभु को पूछ लेता हुं ।

इतना कहकर गौतमस्वामी समवसरण में गए और प्रदक्षिणा पूर्वक वंदना करके निवेदन किया कि – हे भवोदधितारक देवाधिदेव ! मिच्छामिदुक्कडं मुझे देना चाहिए या आनंद को?

अवधिज्ञान आणंद को, मिच्छामिदुक्कडं दिए गौतमस्वामी । :–

परमकरुणा के सागर श्री महावीर प्रभु ने फरमाया – गौतम ! मिच्छादुक्कडं तुम्हें देना चाहिए।

अत्यंत सरल स्वभावी विनम्र एवं नवनीत की तरह कोमल हृदयवाले गौतमस्वामी मध्याह्न की तेज धूप होते हुए भी गोचरी (आहार–पानी) एक तरफ रखकर यथाशीघ्र सीधे आनंद श्रावक को मिच्छामिदुक्कडं देने गए।

गौतमस्वामी – हे श्रावक श्रेष्ठ ! भूल मेरी है, अतः मैं मिच्छामिदुक्कडं देने के साथ क्षमायाचना करता हूँ। तुम्हारा कहना सही है तुम्हें हुआ अवधिज्ञान–अवधिदर्शन सही है।

कितनी अगाध सरलता थी? कितनी महान पापभिरुता थी? दोष शुद्धि की कितनी तत्परता थी? धन्य महामुनी लब्धिनिधान गौतमस्वामी।इस तरह गृहस्थाश्रमी अवस्था में श्रावक कक्षा में भी भावविशुद्धि एवं क्षयोपशम के आधार पर अवधिज्ञान अवधिदर्शन प्राप्त होता है।

मनःपर्यवज्ञान :–

पांच प्रकार के ज्ञानों में चार ज्ञान श्रावकावस्था में प्राप्त होने सुलभ है। परंतु चौथा मनःपर्यवज्ञान श्रावक की कक्षा में संसारी अवस्था में कदापि नहीं होता है। यह सिर्फ संसार के त्यागी विरक्त वैरागी छट्ठे–सातवें गुणस्थान के स्वामी साधु–महात्माओं को ही होता है।

श्री मनः पर्यव ज्ञान छे, गुण प्रत्ययी ए जाणो।
अप्रमादि ऋद्धिवंतने, होय संयम गुणठाणो।।
कोइक चारित्रवंतने, चढ़ते शुभ परिणामे ।

चौथा मनःपर्यवज्ञान भी गुणप्रत्ययिक है। संयम–चारित्र के जो दो गुणस्थानक है–छट्ठा प्रमत्त संयत और सातवां अप्रमत्त संयत। इन दो गुणस्थानक पर

रहे हुए अप्रमादि ऋद्धिवंत चारित्रधारी संयमी मुनि महात्मा को ही शुभ भाव के परिणामों में चढ़ते-चढ़ते ही होता है। मुनि वेषज विना रे, नवि उपजे दो भेदे नाण। अर्थात् साधु वेष के बिना यह दोनों भेद वाला मनःपर्यवज्ञान श्रावक को नहीं होता है। तीर्थंकर भगवान को भी जन्मतः मति-श्रुत और अवधि ३ ज्ञान ही होते हैं। चौथा मनःपर्यवज्ञान उन्हें भी नहीं होता है क्योंकि गृहस्थावस्था में संसारी होने के कारण। परंतु संसार छोड़ते ही और चारित्र स्वीकारते ही हो जाता है। यह बात स्तुति से स्पष्ट करते हुए कहा है कि-

प्रभुजी सर्व सामायिक उच्चरे, सिद्ध नमी मद वारीजी;
छद्मस्थ अवस्था रहे छे जिहां लगे, योगासन तप धारीजी।
चोथुं मनःपर्यव तव पामे, मनुज लोक विस्तारीजी;
ते प्रभु ने प्रणमो भवि प्राणी, विजयलक्ष्मी सुखकारीजी।।

इस स्तुति में पू. विजयलक्ष्मीसूरि महाराज कहते हैं- संसारी गृहस्थावस्था का त्याग करके सिद्ध भगवान को 'नमो सिद्धाणं' पद से नमस्कार करके, मद-मानादि का त्याग करके भगवान जब स्वयं सर्व विरति सामायिक अर्थात् सर्व सावद्य पाप से मुक्त होने स्वरूप यावत् जीवन काल पर्यन्त तक के साधुपने योग्य चारित्र धर्म स्वीकार करके अणगार साधु बनते हैं, और उस साधुपने में जहां तक छद्मस्थावस्था रहती है अर्थात् सर्वज्ञ केवलज्ञानी एवं वीतराग नहीं बन जाते हैं वहां तक योगासन में तपश्चर्या करते हुए रहते हैं। ऐसी दीक्षा ग्रहण करते समय तीर्थंकर भगवान को चौथा मनःपर्यवज्ञान प्राप्त होता है। ऐसे प्रभु को हे भवि प्राणी ! भाव पूर्वक प्रणाम करो।

अतः इससे यह सिद्ध होता है कि- चौथे मनःपर्यवज्ञान के अधिकारी एक मात्र संसार के त्यागी-वैरागी विरक्त तपस्वी चारित्रधारी साधु मुनि भगवंत ही होते है। यह ज्ञान गृहस्थाश्रमी संसारी अवस्था में प्राप्त नहीं होता है। एक मात्र सर्व विरति धर संयमी साधु को ही प्राप्त होता है। यदि गृहस्थाश्रमी संसारी अवस्था में होता तो तीर्थंकर भगवंतो को भी हो गया होता। वे भी जन्मतः या गृहस्थाश्रम से ही चतुर्ज्ञानी कहलाते, परंतु शास्त्रों में जन्मतः तीन ज्ञानी कहा है चतुर्ज्ञानी जन्मतः नहीं कहा है। शास्त्रों में अनेक चरित्र ग्रंथों में, अनेक महापुरुषों के जीवन चरित्र वर्णन में कहीं पर भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता है कि गृहस्थाश्रमी संसारी अवस्था में किसी को भी चौथा मनःपर्यव ज्ञान प्राप्त हुआ हो ऐसा एक भी दृष्टांत नहीं मिलता है। नंदि सूत्र आदि आगम ग्रंथों में भी यही स्पष्ट किया गया है कि- चौथा मनःपर्यव ज्ञान चारित्र धारी संयमी साधु को ही हो सकता है।-**''गोयमा ! इड्ढिपत्तअपमत्तसंजयसम्म-दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमग-गब्भवक्कंतियमणुस्साणं,उप्पज्जइ। (नन्दिसूत्र)**

हे गौतम ! ऋद्धि प्राप्त अप्रमत्त संयत अर्थात् जिनकल्पि सम्यग् दृष्टि, आहारादि षट् पर्याप्तियुक्त पर्याप्तनामकर्मवान् संख्येय वर्ष अर्थात् पूर्वकोटी वर्षायुष्य वाले उसमें भी १५ कर्मभूमि में उत्पन्न कर्म भूमिक्षेत्रज गर्भज मनुष्य ऐसे को ही चौथा मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है। इस तरह नन्दिसूत्र में कहा है।

यह चौथा मनःपर्यवज्ञान मनःपर्यवज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होता है। तथा इस कर्म का क्षयोपशम सर्वविरति चारित्र विशेष से एवं तपादि की साधना विशेष से होता है। तथाप्रकार के कर्मावरण के क्षयोपशम के बाद ही यह मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान का मुख्य कार्यक्षेत्र-संज्ञि पंचेन्द्रिय मनुष्य क्षेत्रस्थ जीवों के मनोगत भावों को जानने का होता है। इसी ज्ञान से किसी के मन के विचार जाने जा सकते हैं। अन्यथा नहीं। किसी भी संज्ञि पंचेन्द्रिय जीव जो कि ढाई द्विप परिमित मनुष्य क्षेत्र में उत्पन्न हुआ हो उसने अपने मन में जो भी कुछ चिंतन किया हो, सोचा हो उसके मनोगत भावों को मनःपर्यवज्ञानी जान सकते हैं प्रत्यक्ष जान लेते हैं और क्षण मात्र में ही कह सकते हैं कि आपने मन में जयपुरी लाल घडे के बारे में सोचा है।

भगवान महावीर प्रभु ने वैशाख सुदी ११ की तिथी के दिन समवसरण के प्रवेश द्वार पर वादविवादार्थ आए हुए ईन्द्रभूति गौतम आदि ११ विद्वान पंडितों को उनके मन की शंका का स्वरूप प्रकट करते हुए सहर्ष आमंत्रित किया। यह सुनकर गौतमादि सभी आश्चर्यचकित हो गय। अरे ! हमारे मन की शंका को कैसे जान गये? बस सारा अभिमान का पर्वत गिरकर चूर-चूर हो गया। वे सभी पंडित ठंडे हो गये। आगे फिर सर्वज्ञ प्रभु से शंका का समाधान करके तत्त्वों का सही स्वरूप समझ कर प्रभु के चरण कमल में शिष्यत्व-दासत्व स्वीकार करके उनके आजीवन शिष्य बने।

मनःपर्यवज्ञान का विस्तृतं वर्णन आगे किया गया है। पाठक गण विशेष ज्ञानवृद्धि के लिए नन्दिसूत्र तथा विशेषावश्यक भाष्यादि ग्रंथ अवश्य पढें। आज इस कलियुग के वर्तमान काल में काल के असर के नीचे हम सभी हैं। अतः आज ऐसा मनःपर्यवज्ञान किसी को भी नहीं है, और न ही किसी को प्राप्त होता है। यह विच्छेद गया हुआ है। इस सिद्धान्त को सही रूप से समझकर यदि कोई कहता है कि मुझे प्राप्त है, मुझे ऐसा ज्ञान है तो उसे मिथ्याभाषी समझना चाहिए।

एक लाख पीस्तालीश हजार, पांचशे एकाणु जाणीये।
मननाणी मुनिराज, चोवीश जिनना वखाणीये।।

चौवीस तीर्थंकर भगवंतों के कुल मिलाकर १,४५,५९१ एक लाख पैंतालीस हजार पांच सौ एक्यानवे मनःपर्यवज्ञानी मुनिराज है। यह संख्या ज्ञानपंचमी के देववंदन में लक्ष्मीसूरि महाराज ने बताई है। यह मनःपर्यवज्ञान होने वाले आत्मा

इसी भव में मोक्ष में जाते हैं। तद्भव मोक्षगामी कहलाते हैं।

ए गुण जेहने उपन्यो, सर्व विरति गुणठाण।
प्रणमु हितथी तेहना, चरण कमल चित्त आण ।।

सर्वविरति गुणस्थानक पर यह गुण जिसे भी प्रकट हुआ हो अर्थात् ऐसे स्वरूप का मनःपर्यवज्ञान जिसे भी प्राप्त हुआ हो उनके चरण-कमल का चित्त में ध्यान करके हित बुद्धि से प्रणाम करता हूं।

केवलज्ञान का स्वरूप वर्णन :-

यहां पर केवलज्ञान तथा केवलदर्शन की प्राप्ति कैसे होती है? इसकी प्रक्रिया क्या है? यह तथा केवली के स्वरूप का वर्णन करना है। पांचोंज्ञान में केवलज्ञान यह पाँचवा तथा अंतिम ज्ञान है। इतना ही नहीं, परंतु ज्ञान के क्षेत्र में यह अंतिम चरम सीमा का ज्ञान है। बस इसके बाद आगे ज्ञान-ज्ञेय की बात ही नहीं है। अतः ऐसे केवलज्ञानी ही चरम अंतिम कक्षा के ज्ञानी कहलाते हैं। यही ज्ञान की अंतिम सीमा का अंत है। केवलज्ञान की प्राप्ति होने के बाद ही कोई भगवान बनते हैं। तभी ही आत्मा परमात्मा बनती है। वर्तमान काल में केवलज्ञान तो क्या कवलज्ञान (खाने-पीने के ज्ञान) का भी पूरा ठिकाना नहीं है और भगवान बन बैठते हैं। अपने आप स्वयं भगवान बन जाते हैं। यह भगवद् स्वरूप की कितनी घोर आशातना है? कितना बड़ा मजाक है। संसार के रागी, पाप प्रवृत्ति के पुरस्कर्ता, भुक्तभोगी, विषय-वासना के कीड़े ऐसे रागी-द्वेषी अपने आपको स्वयं भगवान कहते हैं या कहलवाते हैं। यह शराबी के नशे की तरह एक प्रकार के पागलपन के सिवाय और क्या है? कम से कम भगवान बनने की प्रक्रिया को तो जानें, और भगवान का स्वरूप तो समझें। फिर उस दिशा में भूतकाल में हुए उन सर्वज्ञ महान् भगवानों के साथ तुलना करके तो सोचें। फिर आगे विचार करें। परंतु हाय इस कलियुग की अधमता की यह निशानी है कि वर्तमान काल में अधमकक्षा के हीन जीव भगवान बन बैठे हैं और मूढ लोग भी अज्ञानतावश उन्हें भगवान की तरह मानकर उनके पीछे नरक की खाई में गिरते जा रहे हैं। पाप करना यह भूल है, और भूल करे वह भगवान नहीं कहलाता तथा जो भगवान होते हैं वे भूल नहीं करता है। बस सामान्य मानवी इतनी सी छोटी बात को अच्छी तरह समझकर चले तो शायद वह ऐरे-गैरे-नत्थू-खैरे बन बैठे भगवानों या भागे हुए भगवानों से अपने आपको बचा सके।

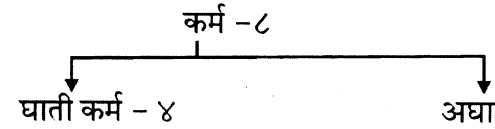

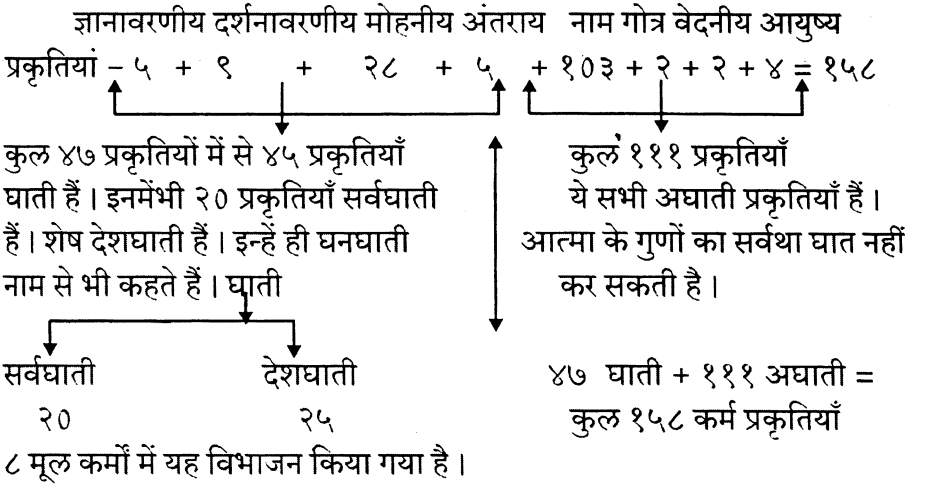

घाती कर्मों के क्षय से – केवलज्ञान :–

पाँच प्रकार के ज्ञानों में प्रथम के चार ज्ञान क्षयोपशम जन्य हैं। अतः वे क्षायोपशमिक कहलाते हैं। जबकि पाँचवां केवलज्ञान क्षायिक है। यह क्षयोपशम जन्य नहीं है। क्षयोपशम की प्रक्रिया में कर्म का सर्वथा क्षय नहीं होता है। कुछ अंश क्षय होता है और कर्म का कुछ उपशमन होता है। अतः उभय मिश्रित भाव का स्वरूप है क्षयोपशम। प्रथम के चार ज्ञानों में उस उस ज्ञानावरणीय कर्म से कुछ अंश का क्षय होता है तथा कुछ कर्मांश का उपशमन होता है अतः कुछ अंशो में ज्ञानावरणीय कर्म का अंश शेष रहता है। अतः वे ज्ञान सर्वांशग्राही नहीं है। जबकि पांचवें केवलज्ञान की प्रक्रिया ऐसी नहीं है। इसमें क्षयोपशम नहीं, परंतु सर्वांश का सर्वथा क्षय होता है। अतः केवलज्ञान क्षायिक है। यह क्षायिक भाव से प्रकट होता है। पहले के चार ज्ञान अपने–अपने आवश्यक ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट हो जाते हैं, जबकि केवलज्ञान के लिए ऐसा नहीं है कि यह सिर्फ केवलज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से ही प्रकट हो जाय नहीं। न सिर्फ केवलज्ञानावरणीय कर्म या न ही सिर्फ ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से यह होता है, अपितु चारों घाती कर्मों की सर्व प्रकृतियों का सर्वथा क्षय होना अभिप्रेत है। इतना इनमें अंतर हैं। अतः चार ज्ञान क्षायोपशमिक भाव जन्य है और पाँचवां केवलज्ञान क्षायिक भाव जन्य है। क्षायोपशमिक की प्रक्रिया में ज्ञान सर्वांश संपूर्णरूप से प्रकट नहीं होता है। अतः उस ज्ञान का ज्ञानावरणीय कर्म शेष रहता है, जबकि केवलज्ञान चारों घाती कर्मों के सर्वथा संपूर्ण रूप से क्षय होने के बाद ही क्षायिक भाव से उत्पन्न होता है। अतः केवलज्ञान की उत्पत्ति के बाद ज्ञानावरणीय कर्म का या चारों घाती कर्म की प्रकृतियों का अंश मात्र भी उदय या सत्ता नहीं रहती। वे सर्वथा क्षय अर्थात्

समूल नष्ट हो जाते हैं अतः केवलज्ञान पूर्ण-सम्पूर्ण रूप से सर्वग्राही, सर्वांशग्राही, सर्व द्रव्य गुण-पर्यायग्राही होता है। अतः इसे अनंत वस्तु विषयक ज्ञान कहते हैं। इसलिए यह अनंत ज्ञान के रूप में कहलाता है।

घाती कर्मों के क्षय की प्रक्रिया :-

मुख्यरुप से आत्मा के ज्ञानादि प्रमुख गुणों का घात करने वाले चार घाती कर्म हैं। इन घाती कर्मों के कारण आत्मा के ज्ञानादि गुण ढके हुए आच्छादित हैं, दबे हुए हैं। इन ज्ञानादि गुणोंको प्रकट करने के लिए इन्हीं घाती कर्मों का क्षय करना एक मात्र विकल्प है - (१) ज्ञानावरणीय (२) दर्शनावरणीय (३) मोहनीय और (४) अंतराय - ये चार घाती कर्म आत्मा का जितना नुकसान करते हैं, उतना अघाती कर्म नहीं करते है। इन चार घाती कर्मों के क्षय की प्रक्रिया में देखा जाय तो मोहनीय कर्म सबसे प्रबल है। इसे (King of Karma) कर्मों का राजा कहा जाता है। चार घाती कर्मों का क्रम देखने से ऐसा लगता है कि पहले ज्ञानावरणीय का क्षय करना पड़ेगा। इसके क्षय से जब पूरा ज्ञान प्रकट हो जायेगा तथा उस पूर्ण ज्ञान की मद्द से मोहनीय कर्म का क्षय कर सकेंगे। ऐसा ऊपरी दृष्टि से जरूर लगता है, परंतु वास्तव में ऐसा नहीं है। ज्ञानादि गुणों को दबाने में तथा ज्ञानावरणीय कर्म की लगाम अपने हाथ में रखने का कार्य भी मोहनीय कर्म करता है। अतः वाचक मुख्यजी उमास्वाति महाराज का कहना है कि मोहनीय कर्म का प्रथम क्षय करना होगा तब बाद में शेष तीन घाती कर्मों का भी क्षय हो जाएगा, और क्षय होते ही केवलज्ञानादि गुण प्रकट हो जायेंगे। अतः तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में दिया है कि -''**मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तराय क्षयाच्च केवलम्**'' मोहनीय कर्म के क्षय से तथा ज्ञानावरणीय,दर्शनावरणीय एवं अन्तराय कर्म के क्षय से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, अतः केवलज्ञानादि की प्राप्ति में मोहनीय का क्षय भी अनिवार्य है। उसमें भी सबसे पहले मोहनीय का क्षय होना जरूरी।

गुणस्थानकों की साधना में कर्म क्षय :-

जैसे-जैसे कर्मों का क्षय होता जाता है वैसे-वैसे आत्मा के आच्छादित गुणों का प्रकटीकरण होता जाता है। उन-उन गुणों को प्राप्त करती हुई आत्मा मोक्ष की दिशा में अग्रसर होती है। अतः उन-उन गुणों के स्थान पर आत्मा जहां जिस स्वरूप में स्थित होती है उन्हें गुणस्थान कहते हैं। ऐसे १४ गुणस्थान जैन दर्शन में बताए गए हैं। इसे ढहश थरू ष र्डीश्रींरींळेप या ढहश थरू ष र्हिश एारपलळरींळेप ष र्हिश र्डीश्र मोक्ष मार्ग या आत्मा का मार्ग कहते हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिए तथा प्रकार के गुणों को होना आवश्यक हैं। अतः गुणस्थानक को मोक्ष मार्ग बताया गया है। जिन गुणों को प्राप्त करती हुई आत्मा आगे बढती है ऐसे १४ गुणस्थान बताए गए हैं।

(इनका विस्तृत वर्णन योग्य स्थान पर करेंगे।) उनके नाम इस प्रकार है।- (१) मिथ्यात्व, (२) सास्वादन, (३) मिश्र, (४) अविरति सम्यग् दृष्टि, (५) देश विरति सम्यग् दृष्टि, (६) सर्व विरति प्रमत्त, (७) सर्व विरति अप्रमत्त, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्तिबादर, (१०) सूक्ष्मसंपराय, (११) उपशांतमोह, (१२) क्षीणमोह, (१३) सयोगी केवली, और (१४) अयोगी केवली।

कर्म क्षय और गुण प्राप्ति :-

इन १४ गुणस्थानकों की साधना में आगे चढ़ना तभी संभव है जब आत्मा उन-उन कर्मों का क्षय या क्षयोपशम करके आगे बढ़े। पहले गुणस्थान से १२ वें क्षीण मोह तक के सभी गुणस्थानों में एक मात्र मोहनीय कर्म का क्षयोपशम एवं क्षय करने की ही साधना है। मोहनीय कर्म के अवांतर भेद उनकी प्रकृतियों के आधार पर अनेक बताए गए हैं। उन प्रकृतियों का क्षय या क्षयोपशम करने से मोहनीय के वे आवरण हटते जाएंगे और आत्मा के गुण प्रकट जाएंगे। मिथ्यात्व हटते सम्यक्त्व होगा । कषायों की अवस्थाएं हटते निष्कषाय समता भाव प्रकट होगा। विषय वासना की वृत्ति हटते ही आत्मा निर्विकारी निर्वेदी बनेगी। हास्यादि हटते ही आत्मा शांत-स्थिर बनेगी। इस तरह अंत में सर्वथा मोहनीय कर्म का समूल संपूर्ण क्षय (नाश) हो जाने से 'वीतरागता' का महान गुण प्राप्त हो जाएगा। यह अंतिम प्रक्रिया बारहवें क्षीण मोह गुणस्थानक के अंत में होती है। वीतरागता की प्राप्ति यह बहुत बड़ी उपलब्धि है। वीतरागता की प्राप्ति और मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने के बाद शेष ३ घाती कर्मों का क्षय तो क्षय मात्र, पल भर में हो जाता है। ज्ञानावरणीय आदि तीनों का क्षय सर्वथा सम्पूर्ण रूप से हो जाता है।

(१) मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय से - वीतरागता गुण की प्राप्ति (२) ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय से अनंत ज्ञान गुण की प्राप्ति (३) दर्शनावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय से - अनंत दर्शन गुण की प्राप्ति (४) अंतराय कर्म के सर्वथा क्षय से- दानादि अनंतलब्धि-शक्तियों की प्राप्ति।

इस तरह केवलज्ञान यह आत्मा का अनंत ज्ञान गुण होते हुए भी सिर्फ एक ज्ञानावरणीय कर्म मात्र के ही क्षय से नहीं उत्पन्न होता है परंतु चारों घाती कर्मों के सर्वांश रूप से सम्पूर्ण प्रकार से सर्वथा क्षय होने से प्राप्त होता है। अतः वीतरागता, केवलज्ञान, केवलदर्शन, एवं अनंतलब्धिशक्ति ये चारों गुण जो कि अनंत स्वरूपात्मक हैं वे सभी प्रकट होते हैं। सिद्ध होते समय आठों कर्मों का क्षय होता है लेकिन केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए पहले चार कर्मों का क्षय होना आवश्यक है अतः चार मुख्य घाती कर्मों के क्षय होने से आधे सिद्ध तो यहीं हो गये, शेष चार कर्म जो कि अघाती हैं अतः उनको क्षय करने में ज्यादा परिश्रम नहीं होगा, जितना इन

चार घाती कर्मों को क्षय करने में लगता है।

यह अप्रतिपाती-अभेद ज्ञान है :-

'केवलमिगविहाणं' - यह केवलज्ञान अभेद रूप है, अर्थात् इसके कोई भेद नहीं बनते हैं। जैसे कि पहले के चार ज्ञानों के २८ (या ३४०), १४ या २०, ६ या २ इत्यादि भेद-प्रभेद होते हैं उसी तरह केवलज्ञान के कोई भेद-प्रभेद या प्रकार नहीं होते हैं। यह एकाकी, अकेला, अभेदस्वरूप, अनुपम एवं अद्वितीय है। न तो केवलज्ञान की उपमा किसी के साथ दी जा सकती है, अतः यह अनुपम है। न ही केवलज्ञान के जैसा दूसरा कोई ज्ञान है अतः इसे अद्वितीय ज्ञान कहा गया है। यह अनंतज्ञान है।

अप्रतिपाती-अनंत-शाश्वतज्ञान :-

प्रतिपाती अर्थात् उत्पन्न होकर पुनः नष्ट हो जाए, चला जाए वैसा। ठीक इसके विपरीत अप्रतिपाती = अ निषेधार्थक + प्रतिपाती = अर्थात् जिसका कभी नाश न हो, आकर पुनः चला न जाए वैसा। अतः अन्य ज्ञान प्रतिपाती है जबकि केवलज्ञान अप्रतिपाती अर्थात् एक बार प्राप्त होने बाद पुनः कभी भी न जाने वाला-शाश्वत अर्थात् सदाकाल ही रहनेवाला है। शाश्वत का अर्थ ही यह है कि सदा काल-अनंत काल तक रहने वाला। शाश्वत या अनंत कहने से या अप्रतिपाती कहने से केवलज्ञान की अविनाशीता सिद्ध होती है अतः इसे अविनाशी ज्ञान कहते हैं।

इसे अनंत ज्ञान कहने के दो प्रयोजन है। एक तो नहीं है अंत जिसका, (न अन्त = अनंत) ऐसा अनंत। अर्थात् एक बार यह ज्ञान हो जाने के बाद इसका पुनः अंत कभी नहीं होता अतः केवलज्ञान को अनंत ज्ञान कहते हैं। यह अनंत की कालवाची व्याख्या हुई। अतः काल की दृष्टि से किसी भी काल में केवलज्ञान का अंत (नाश) नहीं होता है इसलिए अनंतज्ञान कहलाता है। परंतु अनादि-अनंत नहीं, सादि-अनंत कहा जाएगा। अनादि से तो यह अर्थ होगा कि जिसकी आदि ही नहीं है ऐसा अनादि परंतु केवलज्ञान अनादि नहीं है। आत्मा अनादि-अनंत शाश्वत द्रव्य जरूर है। परंतु चार प्रकार के घनघाती कर्मों का क्षय आज सर्व प्रथम बार ही हुआ है और केवलज्ञान जीव ने पहली बार ही प्राप्त किया है अतः इसे अनादि न कहते हुए सादि कहा है। सादि अर्थात्- ''आदि सहितमिति सादि'' आदि के साथ जो उत्पन्न होता है वह सादि। अनादि-अनंत भूतकाल बीतने के बाद भी आत्मा ने जब सर्व प्रथम बार ही चारों घाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया है तब से ही उसकी आदि अर्थात् शुरुआर प्रारंभ है, पहले से नहीं, अतः केवलज्ञान सादि कहलाएगा। परंतु भाविकाल की दृष्टि से विचार करने पर उसका अंत कभी भी नहीं होता है अतः अनंत कहलाएगा। इन दोनों शब्दों एक साथ एकत्र करने पर केवलज्ञान

सादि अनंत कहलाता है।

अनंत की दूसरी व्याख्या में समस्त ब्रह्माण्ड स्वरूप लोकालोक के पदार्थ अनंत है, द्रव्य अनंत है, गुण अनंत है, तथा द्रव्यों की पर्यायें अनंत है, काल अनंत है। अनंत काल में एक-एक जीव या अजीव द्रव्य की अनंत-अनंत पर्यायें बदल चुकी है। इतना ही नहीं यहां तक कहा गया है कि - ''अनंत धर्मात्मकं वस्तु'' अर्थात् वस्तु अनंत धर्मवाली है। ऐसी वस्तुएं भी जगत में अनंत हैं। जीव भी अनंत हैं और एक-एक वस्तु के अनंत धर्मों को पहचानने के लिए अपेक्षाए भी अनंत है। जीव के अध्यवसाय-भाव तथा भवादि भी अनंत है इन सब अनंत की अनंतता को जाननेवाला सर्वज्ञ-केवलज्ञानी का ज्ञान भी अनंत ज्ञान है। अतः इस ज्ञान को अनंत ज्ञान कहते हैं। ऐसा अनंतज्ञान-केवलज्ञान प्राप्त करके तीर्थंकर भगवान देशना देते हैं। श्री विशेषावश्यक भाष्य में कहा है कि-

केवलाणेणऽत्थे, नाउं जे तत्थ पन्नवणजोग्गे।
ते भासइ तित्थयरो, वइ-जोगसुयं हवइ सेसं ।।८२९।।

(ऐसे) केवलज्ञान के द्वारा पदार्थ और अर्थ जानकर उसमें जो कहने योग्य है उसे ही तीर्थंकर भगवान (केवली-सर्वज्ञ) कहते हैं। यह बोलना उनके लिए वचन योग है, परंतु शेष सभी के लिए श्रुत स्वरूप है। अब विचार किया जाय कि ऐसे अनंत स्वरूप केवलज्ञान को प्राप्त करने वाले तीर्थंकर मृषावाद या असत्य वचन कैसे कहेंगे? जबकि एक तरफ राग-द्वेष-मोह-कषायादि का सर्वथा नाश हो गया है अर्थात असत्य या विपरीत कथन के जो कारण है राग-द्वेषादि उनका ही जब सर्वथा क्षय या नाश हो गया, तो फिर असत्य बोलेंगे कैसे? विपरीत कथन कैसे करेंगे? कारण के बिना कार्य कैसे बनेगा? क्योंकि असत्य सेवन के प्रमुख कारणों में क्रोध, मान, माया, लोभ तथा भय, हास्यादि गिने गये हैं। अब वे ही नहीं हैं अतः प्रभु वीतरागी है। पापकर्मादि संसक्त जितने भी दोषादि हैं उनका अभाव होने से कहा गया है कि - 'अष्टादश दोषवर्जितो जिनः' अठारह दोष रहित जिन भगवान होते हैं। अब दोषों के सर्वथा क्षय से उनसे आच्छादित जो गुण थे वे प्रकट हो गये हैं। राग-द्वेषादि दोष थे और वीतरागतादि गुण है। एक तरफ वीतरागता का महान् गुण प्रकट हो गया जो सर्व दोषों की निवृत्ति का सूचक और दूसरी तरफ सर्वज्ञता का गुण भी प्रकट हो गया, अर्थात् मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने से वीतरागता की प्राप्ति बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानक के अंत में तेरहवें गुणस्थानक में प्रवेश करते ही केवलज्ञानादि की प्राप्ति हो जाती है। शेष तीन घाती कर्म - (१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) अंतराय कर्म इन सबके क्षय हो जाने से अनंत केवलज्ञान, अनंत केवलदर्शन तथा अनंत दानादि लब्धियां एवं अनंत शक्ति आदि प्राप्त हो जाते हैं।

शुक्लध्यान में केवलज्ञान :–

ध्यान का वर्गीकरण

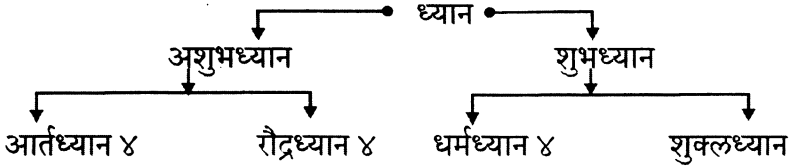

इस तरह ध्यान का विभाजन किया गया है। अशुभ के आर्त और रौद्र ध्यान की विचारधारा को छोड़कर आत्मा जब शुभ ध्यान में प्रवेश करती है, तब सर्वप्रथम धर्म-ध्यान में प्रवेश करती है। उसके चार चरणों में से गुजरती हुई आत्मा शुक्ल ध्यान में प्रवेश करती है। क्रमशः आगे बढ़ती हुई आत्मा ध्यान की विचारधारा को सूक्ष्म से सूक्ष्मतम करती जाती है। प्रत्येक ध्यान के चार-चार अवांतर भेद दर्शाये गये हैं। शुक्लध्यान के चार भेदों में प्रथम के दो भेद प्रसार करने के बाद तीसरे भेद में प्रवेश करते ही जीव को यहीं केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति हो जाती है। यहीं चारों घनघाती कर्मों का क्रमशः क्षय हो जाता है और आत्मा वीतरागीसर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जाती है। फिर तेरहवें गुणस्थानक – "सयोगी केवली" के पद आरूढ आत्मा वर्षों तक नहीं, सदा के लिए केवली-सर्वज्ञ ही रहती है।

भगवान महावीर स्वामी को-केवलज्ञान :–

चरम तीर्थपति परमात्मा महावीरस्वामी ने ३० वर्ष की यौवनावस्था में महाभिनिष्क्रमण करके चारित्र स्वीकार किया। आगारी-घरबारी में से अणगारी-साधु-त्यागी-तपस्वी बनें। एकाकी विहार करते हुए १२।। वर्षों तक घोर तपश्चर्या की एवं भारी उपसर्ग सहन किये। कठोर अप्रमत्त भाव की साधना के अंत में १२।। वर्ष की समाप्ति के अंतिम काल में वैशाख सुदी दशमी के दिन चौथे प्रहर की संध्या के समय शाल वृक्ष के नीचे गौदोहिकासनस्थ अवस्था में स्थिर बैठे एवं मनोयोग से शुक्लध्यान की अवस्था में चिंतन की धारा को प्रथम से दूसरे चरण में सूक्ष्म से सूक्ष्मतम करते जा रहे थे। क्षपकश्रेणी में आरूढ़ प्रभु कर्मों का सर्वथा क्षय करने की प्रक्रिया में लीन थे। उसी क्रम से मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय करके वीतरागता प्राप्त की। अब शुक्ल ध्यान के दूसरे चरण से तीसरे चरण की और अग्रसर होते ही शेष तीनों घाती कर्मों का क्षय होते ही महावीरस्वामी को अनंतवस्तुविषयक अनुपम अनंत केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हुआ। श्री वीरप्रभु केवली-सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बने

केवलज्ञान प्राप्ति की यही प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से भूतकाल में अनंत आत्माओं को केवलज्ञान प्राप्त हुआ है और भविष्य में भी इसी प्रक्रिया से गुजरते हुए ही केवलज्ञान प्राप्त होगा। अतः कैवल्य की प्राप्ति का यही एक मात्र राजमार्ग है। दूसरा विकल्प ही नहीं है। चाहे यह केवलज्ञान तीर्थंकर भगवान को हो या चाहे हमारे

जैसे सामान्य-साधारण व्यक्ति को हो, या किसी पुरुष को या चाहे किसी स्त्री को हो। जिस किसी को भी हो, परंतु होगा इसी राजमार्ग की प्रक्रिया से। अन्य विकल्प ही नहीं है।

स्त्रियों को भी केवलज्ञान हो सकता है :-

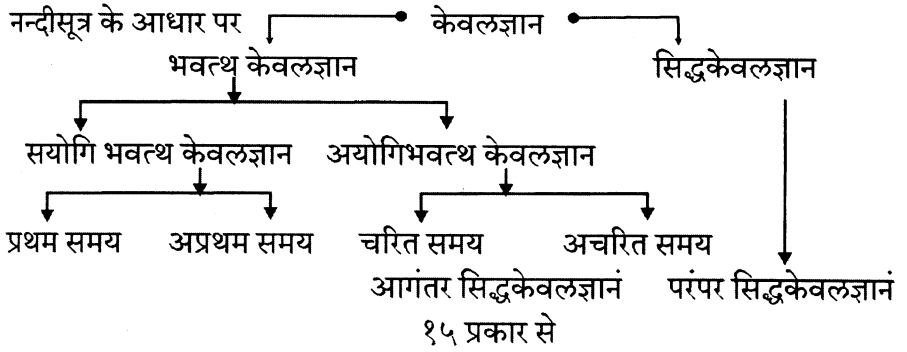

१५ प्रकार से

(१) तीर्थसिद्ध (२) अतीर्थसिध्द (३) तीर्थंकर सिध्द (४)अतीर्थंकर सिध्द (सामान्य केवली) (५) स्वयंबुध्द सिध्द (६) प्रत्येकबुध्द सिध्द (७) बुध्दबोधित सिध्द (८) स्त्रीलिंग सिध्द (९) पुरुषलिंग सिध्द (१०) नपुंसक लिंग सिध्द (११) स्वलिंग सिध्द (१२) अन्यलिंग सिध्द (१३) गृहलिंग सिध्द (१४) एक सिध्द और (१५) अनेक सिध्द।

जिण-अजिण-तिथऽतित्था, गिहि-अन्न-सलिंग-थी-नर-नपुंसा
पत्तेय-सयंबुधा, बुध्दबोहीय इक्कणिका य।। (नवतत्त्व)

- जीवविचार प्रकरण में "सिध्दा पनरस भेया" अर्थात् सिध्द १५ प्रकार से होते हैं। यह जो बात कही गई है वही नन्दीसूत्र आगम के उपरोक्त पाठ से समझी जाती है। अणन्तर सिध्द केवलज्ञान के भेद नन्दीसूत्र में तथा नवतत्त्व प्रकरण की उपरोक्त गाथा में गिनाए गए हैं, जिसमें ८ वें भेद पर स्त्रीलिंग सिध्द, ९ वें भेद में पुरुषलिंग सिध्द आदि भेद गिनाए हैं। यह शास्त्रीय प्रमाण है और भी अनेक शास्त्रों में प्रमाण मिलता है।

ज्ञान शरीर को नहीं, आत्मा को होता है : -

सामान्य तर्क बुध्दि के आधार पर भी सोचा जाय तो ज्ञान शरीर का गुण नहीं है, आत्मा का गुण है, अतः ज्ञान शरीर को नहीं, परंतु आत्मा को होता है। जो जिस द्रव्य का मूलभूत गुण है, वह उसी में आच्छन्न रहता है और आवरण के क्षय के बाद उसी में प्रकट होता है। शरीर पुद्गल जन्य पौद्गलिक है और पुद्गल के गुणों में वर्ण-गंध-रस-स्पर्शात्मक ही प्राधान्य रूप से रहते हैं। आत्मा जड़ नहीं है। पुद्गल

जन्य पौद्गलिक भी नहीं है। अतः आत्मा में वर्णादि के गुण रहने संभव नहीं है। आत्मा चेतन द्रव्य है। ज्ञानादि गुणवान् है अतः आत्मा में ही ज्ञानादि गुण मूलभूत रूप से रहेंगे और प्रकट होंगे।

आत्मा नामकर्मानुसार जिस किसी भी जाति या जन्म में जैसा भी कैसा शरीर धारण करे, चाहे वह एकेन्दिय का हो विकलेन्द्रिय का हो या पंचेन्द्रिय का हो, परंतु आत्मा के स्वरूप में कोई फरक नहीं पड़ता। शरीर तो आत्मा के रहने के लिए मात्र आधारभूत स्थान है। आत्मा आत्म स्वरूप के दृष्टिकोन से सभी एक सरीखी-एक समान है। चाहे महावीरस्वामी की आत्मा हो या चाहे हमारी आत्मा हो या चाहे हाथी-घोड़े-पशु-पक्षी की हो या चाहे कृमि-कीट-पतंग की हो, सभी की आत्मा आत्मद्रव्य के दृष्टिकोन से एक जैसी ही है; अतः चाहे स्त्री हो या पुरुष हो सभी की आत्मा के रूप में एक सरीखी है। आत्म स्वरूप में कोई भेद नहीं है। जो कुछ भेद है वह शरीर में है। शरीर नामकर्मनुसार बनता है। जिस जीव के जैसे नामकर्म हो, और अपने-अपने कर्मानुसार जिस जीव ने जैसा शरीर निर्माण किया हो, तदनुसार जीव को वैसा शरीर मिलता है। इस कर्मसत्ता के आधार पर एक आत्मा को स्त्री शरीर मिला है और एक जीव को पुरुष का शरीर मिला है। भेद मात्र शारीरिक है। स्त्री शरीर के अंगोपांग उसके योग्य और पुरुष के अंगोपांग भिन्न है। शरीर रचना का भेद या अंगोपांग का भेद, यह भेद कोई आत्म-स्वरूप में भेद निर्माण नहीं करता है। मोहनीय कर्म के वेद मोहनीय कर्मानुसार स्त्रीवेद-और पुरुषवेद आदि की अवस्था विशेष है। परंतु इससे आत्मा में कोई भेद नहीं पड़ता। आत्मा के ज्ञानादि गुण वे ही होते हैं तथा ज्ञानादि आत्मा के गुण हैं। अतः वे प्रकार के कर्मों के क्षय से जब प्रकट भी होंगे तब आत्मा में ही प्रकट होंगे-शरीर में नहीं। अतः ज्ञान के भेद में जब चार ज्ञान स्त्री को हो सकते हैं तो पांचवां केवलज्ञान भी स्त्री को होगा ही।

दूसरी बात यह भी है कि देह भेद और वेद के भेद भी कहां तक रहते हैं? आत्मा गुणस्थानों की श्रेणी में जब आगे बढ़ती है और क्षपकश्रेणी में ९ वें अनिवृत्ति बादर गुणस्थानक पर आने के बाद तो अथाग पुरुषार्थ से कर्मों का क्षय करती हुई आत्मा कषयों के साथ नोकषाय एवं वेद मोहनीय का भी क्षय करती है। अतः स्त्री वेद और पुरुष वेद ये सभी वेद मोहनीय नौवें अनिवृत्तिबादर गुणस्थानक पर नष्ट हो जाते हैं। उसके बाद स्त्री-पुरुष का भेद ज्ञान ही नहीं रहता और न ही वह देह भेद की दृष्टि या वेद की दृष्टि कुछ भी नहीं रहता। तथा केवलज्ञान तो तेरहवें सयोगी केवलीगुणस्थानक पर जाकर होता है। फिर स्त्री या पुरुष के देह का प्रश्न ही कहां रहा? सामान्य तौर पर आज भी देखने पर यह स्पष्ट दिखाई देता है कि कई स्त्रियां ज्ञानादि क्षेत्र में काफी आगे हैं। पुरुष के समकक्ष तो क्या उससे भी आगे के क्षेत्र भी

साध लिए हैं। अतः स्त्री को केवलज्ञान नहीं हो सकता और स्त्री मोक्ष में नहीं जा सकती, यह सब कपोल कल्पित मिथ्या बातें हैं। शास्त्र भी इस विषय में भूतकाल के कई प्रमाण देता है- ''थीसिद्धा चंदणा पमुहा'' स्त्री देह से सिद्ध बनने वालों में चंदना- (चंदनबाला) आदि कइयों के नाम है। भगवान महावीरस्वामी की प्रथम शिष्या चंदनबाला साध्वी केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में गई। ''अतित्थसिद्धा य मरुदेवी'' - अतीर्थ सिद्ध के भेद में मरुदेवी माता का नाम प्रमुख रूप से आता है। भगवान ऋषभदेव की माता मरुदेवी भी अनित्य एकत्व भावना का चिंतन करती हुई-इसी प्रक्रिया के राजमार्ग से क्षपकश्रेणि पर चढ़कर चारों घनघाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करके अंतर्मुहुर्त में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में गई।

वर्तमान चौवीशी के २४ भगवानों में १९ वें श्री मल्लीनाथ भगवान जो जन्म से मल्लीकुमारी के रूप में स्त्री देहधारी ही थे। कर्म संयोगवश देह स्त्री का मिला। परंतु संसार का त्याग करके दीक्षा लेकर कर्मक्षय की महान साधना करके इसी राजमार्ग की प्रक्रिया से चारों घाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करके तीर्थंकर बने। श्री मल्लीनाथ भगवान का चरित्र शास्त्रों में सर्वत्र बिना किसी मतभेद के एक सरीखा आता है। इस तरह शास्त्रों में स्त्री-देहधारी केवलज्ञान पाकर मोक्ष में जाने वाले एक-दो ही नहीं, सैकड़ों दृष्टान्त व नाम आते हैं।

चौबीस तीर्थंकर भगवंतों के अपने-अपने काल में उनके द्वारा स्थापित साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ में साध्वियों की संख्या साधुओं की अपेक्षा ज्यादा ही रही है। तथा सभी तीर्थंकर भगवंतों के परिवार में से कई साध्वियां केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में गई हैं। यह संख्या भी काफी बड़ी हैं। उपरोक्त शास्त्र प्रमाण देखने से यह सिद्ध होता है कि अनेक स्त्रियों ने तीर्थंकरों के शासन क्राल में चारित्र धर्म अंगीकार करके दीक्षा लेकर चारों घनघाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करके अंत में सर्वथा कर्मरहित होकर मोक्ष प्राप्त करके सिद्ध बने। संक्षेप में उपरोक्त वर्णन स्त्री के केवलज्ञान पाने के विषय में किया। विशेष जानने की जिज्ञासावालों के लिए रत्नाकरावतारिका, स्याद्वादमंजरी, शास्त्रवार्ता समुच्चय, सन्मतितर्क प्रकरण तथा कर्मग्रंथ आदि कई ग्रंथ उपलब्ध हैं, उनमें से पढ़कर जिज्ञासा संतुष्ट करनी चाहिए। अतः स्त्री का केवलज्ञान पाना और मोक्ष में जाना, स्त्री मुक्ति आदि तथा केवली भुक्ति आदि के विषय में आसानी से समझ में आ जाएंगे। सूर्यप्रकाशवत् एक बात तो स्पष्ट ही है कि केवलज्ञान आत्मा का विषय (गुण) है, शरीर का नहीं। शरीर को ज्ञान नहीं होता आत्मा को ही होता है। अतः केवलज्ञान को स्त्री शरीर या पुरुष शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा से संबंध है। और स्त्री हो या पुरुष सभी का आत्मद्रव्य स्वरूप एक जैसा ही है तथा गुण-

स्थानक की क्षपकश्रेणि में चढ़नेवाली सभी आत्माएं कर्मक्षय करती हुई तथाप्रकार के कर्मों का क्षय करती हुई एक सादृश्य अवस्था को प्राप्त कर लेती है और केवलज्ञान कर्मक्षय जन्य ही है, अतः क्षायिक अवस्था में ही प्राप्त होता है।

केवलज्ञान की प्राप्ति के प्रसंग :-

भरत चक्रवर्ती को केवलज्ञान - भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती को आरीसा भुवन में अनित्य भावना का चिंतन करते हाथ की मुद्रा (अंगूठी) के निमित्त प्रसंग पर केवलज्ञान प्राप्त हुआ था।

बाहुबली को केवलज्ञान - भगवान ऋषभदेव के दूसरे पुत्र बाहुबली को युद्ध के मैदान में दीक्षा लेकर कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े हुए बारह मास बीत जाने के बाद जब बहन साध्वीयां ब्राह्मी-सुंदरी ने "वीरा मोरा गज थकी उतरो, गज चढे केवल न होय रे" ये शब्द कहे। ये शब्द सुनकर सावधान बने बाहुबलीजी प्रभु के पास वंदनार्थ जाने के लिए पैर उठाते हैं इतने में ही केवलज्ञान प्रकट हो जाता है।

कुरगडु महात्मा को केवलज्ञान - राजपाट का त्याग करके दीक्षा लेकर साधु बने हुए कुरगडु महात्मा क्षुधावेदनीय के तीव्र उदय से तपश्चर्या नहीं कर सकते थे। आहार-भोजन नित्य करना ही पड़ता था। एक दिन आहार में चावल और गुड का पानी ऐसा ही कुछ लाकर गोचरी साथी बड़े मुनि भगवंतो को दिखाई। साथी अन्य मुनिगण मासक्षमण (१ महिने के उपवास) की तपश्चर्या कर रहे थे। उन्हें कुरगडु मुनि का नित्य भोजन करना पसंद नहीं था। अतः थोड़े क्रोधावेश में आकर कुरगडु मुनि के लाए हुए आहार में थूंक दिया। फिर भी कुरगडु मुनि महात्मा एक तरफ जाकर बैठकर उसी आहार का सेवन करने लगे, और उसमें भी कफ-श्लेष्म मिश्रित उसी आहार के ग्रास को सर्वप्रथम खाने लगे। मन में तपश्चर्या न करने का बड़ा भारी दुःख था। पश्चाताप की धारा में आहार की क्रिया चलती रही और आत्मा शुद्ध अध्यवसाय की धारा में क्षपकश्रेणि पर चढ़ गई। ध्यानानल की ज्वाला में घाती कर्म की सभी प्रकृतियां जलकर भस्म हो गई । आत्मा पर से अनादि के कर्म के आवरण टल गए और महात्मा केवलज्ञान पा गए। वीतरागी-केवलज्ञान-सर्वज्ञ बन गए।

लग्न मंडप में केवलज्ञान - पृथ्वीचंद्र केवली के चरित्र में शंख और कलावती के भव से लेकर २१ भवों का वर्णन किया गया है। अंतिम भव में जबकि पृथ्वीचंद्र-गुणसागर बने हुए हैं तब लग्न मण्डप में बैठे हैं, हस्त-मिलाप हुआ है। लग्न के फेरे अग्नि के सामने लगाए जा रहे हैं लग्न कराने वाला विप्र 'सावधान' के शब्दों का बार-बार प्रयोग करता जा रहा है। यह सारा चित्र आंखों के सामने खड़ा हो गया। पूर्व संस्कारों से सुसंस्कृत आत्मा जागृत हो गई, लग्न के ही प्रसंग को ध्यान की साधना का क्षेत्र बना दिया। बाहरी स्वरूप से लग्न की क्रिया चलती रही और दूसरी

तरफ अंतर क्रिया में आत्मा सहज ध्यान की कक्षा में चढ़ गई। आत्म स्वरूप का ध्यान तीव्र बनते ही क्षपकश्रेणि पर चढ़ गए और तीव्र ध्यानानल में कर्म जलकर चकचूर होते जा रहे थे और देखते ही देखते महात्मा पृथ्वीचंद्र को केवलज्ञान प्रकट हो गया। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गए। लग्न के वरराजा सर्वज्ञ वीतरागी बन गए।

कपिल केवली – भगवान महावीर स्वामी ने अपनी अंतिम देशना में कपिल केवली के कथानक का जिक्र किया है। विप्र कुल का कपिल छोटी आयु में अभ्यासार्थ पण्डित के घर गया था। श्रीमंत शेठ के यहां किये गए भोजन के प्रबंध के कारण प्रतिदिन भोजनार्थ जाते कपिल का दासी पुत्री से प्रेम हो गया। प्रेम का संसार आगे चलते दासी पुत्री गर्भवती बनी। आजीविका की चिन्ता में सलाह मिलने पर कपिल राजा के राजमहल में प्रभात काल में ही पहुँच गया। संरक्षको ने पकड़कर राजा के समक्ष उपस्थित किया। पूछे जाने पर कपिल ने सारी हकीकत यथार्थ सत्य बता दी। कपिल के निष्कपट निर्दोष सत्य को जानकर राजा बहुत ही प्रसन्न हो गया और कहा मांगो तुम्हें जितना मांगना हो उतना मांगो। मैं देने के लिए तैयार हुँ। बोलो कितना तोला सोना चाहिए? २ मासा या १० मासा या सौ, हजार या लाख? कितना चाहिए? यह सुनकर कपिल ने कहा हे राजन् ! कृपया मुझे थोड़ा समय दीजिए, मैं सोचकर फिर आपके पास आकर मांग लूंगा। इतने भोले-भाले भद्रिक कपिल को देखकर राजा को दया आई। अच्छा आओ-फिर सोचकर आना।

कपिल नजदीक के उद्यान में गया और एक वृक्ष के नीचे बैठकर सोचने लगा कितना मांगु? २ मासा? अरे । २ मासे से क्या होगा? क्या १० मासा? अरे! इतने से क्या होगा? क्या १०० या हजार? अरे ! जिंदगी कैसे निकलेगी? लोभ का कहीं अन्त नहीं है, आखिर कपिल ने अपनी पूर्वावस्था पर विचार किया, अरे ! मैं क्या लेकर आया था? मेरा क्या है? बस आत्म चिन्तन का निमित्त मिल गया। पाप के पश्चाताप की शुरु हो गई। कर्म क्षय करने के लिए आत्मा क्षपक श्रेणि पर आरुढ़ हो गई। धर्मध्यान से शुक्लध्यान की धारा में आगे बढ़ते हुए अध्यवसायों की विशुद्धि और गुणस्थानों पर अग्रसर होते ही कपिल ने मोह के बंधनों को तोड़कर वीतरागी होकर केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया। सर्वज्ञ बने हुए कपिल केवली को देवताओं ने आकर मुनिवेष अर्पण किया। पृथ्वीतल पर विचरते हुए महात्मा कपिल केवली के उपदेश से सैंकड़ों भव्यात्मा केवलज्ञान पाकर मोक्ष में गए।

गुरु-शिष्य को केवलज्ञान – आचार्य चन्डरूद्राचार्य अपने क्रोधी स्वभाव के कारण गांव के बाहरी उद्यान में अकेले रहते थे। प्रसंगवश गाव में शादी की बरात आई। लग्न मुहूर्त को अभी समय था कि इतने में वरराजा के साथ उनके मित्र उद्यान में आए। हंसी-मजाक करते हुए महात्मा के सामने वरराजा को आगे

करते हुए मित्रों ने कहा महाराज इसको दीक्षा देकर साधु बना दीजिए। हंसी-मजाक कर रहे थे कि महात्माजी ने वरराजा को बालों से पकड़कर खिंचकर देखते ही देखते सिर के सभी बाल खिंच लिये। सिर का मुंडन हो गया। सभी मित्र भाग गए। शादी के लिए आए हुए वरराजा ने सोचा अरे! अब तो लग्न मंडप में जाना उचित नहीं है चलो साधु बन ही गए हैं तो अब चारित्र पालन करूं ! सोचा बरात वाले लोग आकर शोरगुल मचाएंगे। महात्माजी को भली-बूरी सुनाकर मारपीट करेंगे। यह सोचकर शिष्य ने गुरुजी से कहा - अब जल्दी भागकर जाना पड़ेगा। गुरु ने कहा अरे ! मुझे तो दिखाई नहीं देता है, और शाम हो चुकी है, थोड़ी देर में रात्री हो जाएगी। अतः क्या करें? समझदार शिष्य ने गुरु को कन्धे पर बैठाया और रात्रि में ही जंगल के मार्ग मे चल पड़े। रात के अंधेरे में दिखाई न देने पर भी चलते ही जा रहे थे। शिष्य का पैर ऊँची-नीची भूमि के खड्डे आदि में गिरते ही कंधे पर बैठे हुए गुरु क्रोधित होकर डण्डा मारते थे। ताजे लोच किए हुए सिर पर डण्डा लगते ही खून निकलने लगा। फिर भी नूतन मुनि शिष्य बड़ी अच्छी समता में मन स्थिर करते हुए वेदना को गौण करके भी चलते रहते थे, और गुरु के डण्डे पड़ते रहते थे। ऐसे प्रसंग में भी क्रोध न करके क्षमा समता की उच्चतम भावना में स्थिर मुनि देहभान भूलकर आत्मचिंतन की धारा में चढ़ गए। पाप दोषों को नष्ट करती हुई आत्मा गुणस्थान श्रेणि में आगे बढती हुई क्षपकश्रेणि पर आरुढ होकर शुक्लध्यान की धारा में केवलज्ञानी बनी। केवलज्ञान में तो समस्त लोकअलोक का क्षेत्र बिना आंख खोले ही दिखाई देने लगा। अब अच्छी तरह चलने वाले शिष्य को प्रभात में खून से लथपथ देखकर गुरु नीचे उतरकर पश्चाताप की धारा में क्षमायाचना करते हुए शिष्य को खमाने लगे। सही दिल से पश्चाताप था। अतः पश्चाताप की बढती हुई धारा में पापकर्म सभी धो गए। सर्वथा सर्व पापों का क्षय होते ही क्षपकश्रेणि में स्थिर गुणस्थानों पर आगे चड़ते हुए गुरु को भी केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हुआ। गुरु शिष्य दोनों ही वीतरागी-केवली-सर्वज्ञ बने।

प्रसन्नचन्द्रऋषि को केवलज्ञान - संध्या के समय राजमहल के झरोखे में बैठकर रंग-बिरंगी बादलों को देखकर प्रथम खुश हुअे और बाद में रात्रि के अंधेरे में डरावने लगने वाले उन्हीं बादलों को देखकर परिवर्तनशील असार संसार की असारता को समझकर राजा प्रसन्नचन्द्र राज-पाट, वैभव और परिवार आदि सब कुछ छोड़कर दीक्षा अंगीकार करके साधु बने। श्मशान में एक पैर पर खड़े रहकर दोनों हाथ ऊंचे उठाकर कायोत्सर्ग ध्यान में स्थिर राजर्षि, पुत्र के साथ शत्रु राजा के युद्ध की विचारधारा में खो गये। मानसिक रूप से वैचारिक युद्ध में चढ़े हुए राजर्षि एक-एक करके अनेक तीर फैंकते गये। अंत में मुकुट फेंकने के लिए लेने के हेतु से

सिर पर हाथ रखा, और सिर केशलोच से मुंडित देखकर एकाएक भान आया। राजर्षि सावधान हो गये। मानो स्वप्न में से जगे हुए को स्थान की क्षणिकता दिखाई दी और राजर्षि मानसिक पापकर्म को धोने के लिए पश्चाताप की धारा में चढ़े। ध्यानानल ने पापकर्मों की ढ़ेर सारी राशि को देखते ही देखते जलाकर भस्म कर दिया। क्षपकश्रेणि में आरूढ़ प्रसन्नचंद्र राजर्षि को चारों घनघाती कर्मों का क्षय होते ही केवलज्ञान-केवलज्ञदर्शन प्राप्त हुआ। वीतरागी सर्वज्ञ बने हुए महात्मा सदा के लिए मोक्ष में सिधाये।

मरुदेवी माता को केवलज्ञान :- भगवान ऋषभदेव की दीक्षा के बाद प्रभु की माता-मरुदेवी वृद्धावस्था में तीव्र मोहदशा में डूबकर विलाप करती थी। रात-दिन रोना और कल्पान्त करना वह भी यहां तक कि आंख की पलकें तक भी सूज गई थी। इस तरफ युगादिदेव ऋषभदेव को केवलज्ञान प्राप्त हुआ है, यह समाचार लेकर दूत चक्रवर्ती भरत के द्वार पर आया। भरतजी मरुदेवी माता को हाथी की अंबाडी पर बैठाकर सर्वज्ञ प्रभु के दर्शनार्थ चले। समवसरण के समीप आते ही देव दुन्दुभी सुनते ही ऐसी अपूर्व दिव्यध्वनि जो कभी भी नहीं सुनी थी, उसे सुनकर मरुदेवी माता मोहदशा को दूर करके अनित्य, एकत्वादि भावना में स्थिर होकर ध्यान की धारा में गुणस्थानकों की श्रेणी में आगे बढ़ी। मोहपाश का बंधन टूटते ही वीतरागता की अवस्था में आकर अन्य ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय तथा अंतराय आदि कर्मों का सर्वथा क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करके अंतःकृत् केवली बनकर मोक्ष में गये। सदा के लिए संसार से मुक्त हुए।

गौतमस्वामी को केवलज्ञान - चरमतीर्थाधिपति श्रमण भगवान महावीर स्वामी के आद्य गणधर प्रथम प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति गौतम ने ५० वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहण करके ३० वर्ष तक छाया की तरह साथ रहकर प्रभु की सेवा की। निर्वाण समय समीप आते ही वीर प्रभु ने गौतम की प्रशस्तभाव की रागदशा को दूर करने हेतु उन्हें देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोधित करने के लिए भेजा। तथा मध्यरात्रि में श्री महावीरप्रभु निर्वाण पाकर मोक्ष में पधारें। प्रातः प्रभातकाल में वापिस लौटते हुए गौतमस्वामी ने लोगों के मुख से समाचार सुनते ही वे भी विषाद के गर्त में गिर गये। वीर-वीर करके विषाद के घेरे में घिरे हुए गौतम को विलाप करते हुए एकाएक वीर शब्द के दो अक्षर 'वी' से वीत और 'र' से 'राग' इस तरह 'वीतराग' शब्द स्मृति पटल पर आया। वीतराग शब्द बोलते ही वीतरागी की राग-द्वेष रहित अवस्था का स्वरूप आंख के सामने दिखाई दिया। बस इस आलंबन ने गौतमस्वामी को क्षपकश्रेणी पर चढ़ा दिया। गुणस्थान की श्रेणि में आगे चड़ते हुए एक दिन के तीव्र रागी गौतमस्वामी ने राग-मोहपाश के बंधन तोड़े और स्वयं

वीतरागी बने। क्षण में ही घनघाती कर्मो का क्षय होते ही गौतमस्वामी केवलज्ञानी बने। कार्तिक सुदि १ कि प्रभात में ही प्रभु के रूप में केवली बनकर १२ वर्ष कैवल्य की देशना से धरा को पावन करके मोक्ष पधारे।

पन्द्रहसौ तापसों को केवलज्ञान – प्रसिध्द प्राचीन तीर्थ अष्टापद पर ऊपर जाने हेतु १५०० तापस प्रथम-व्दितीय सोपान पर ही आसन एवं तप करके लब्धि प्राप्त करने में लगे थे। ऐसे में जब गौतमस्वामी स्वलब्धि से सूर्य की किरणों को पकड़कर अष्टापद पर ऊपर गये और रात्रि वहाँ निवास कर चैत्यवंदन आदि करके लौट रहे थे तब १५०० तापसों ने उन्हें देखा। देखते ही वे सभी गौतमस्वामी के साथ चले। गौतमस्वामी ने स्वलब्धि से अंगूठा पात्र में रखकर सभी को परमान्न (खीर) का पारणा कराया। तथा सभी तापसों को साथ लेकर गौतमस्वामी प्रभु के पास समवसरण की एक तरफ चले मार्ग में समवसरण का वर्णन करते हुए तापसों को प्रभु के अतिशय समझा रहे थे। यह सुनते ५०० तापसों को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। दूसरे ५०० तापसों को समवसरण देखते ही केवलज्ञान प्राप्त हुआ। और तीसरे ५०० तापसों को प्रभु के दर्शन करते ही केवलज्ञान प्राप्त हुआ। इस तरह १५०० तापस केवलज्ञानी सर्वज्ञ बनकर समवसरण में जाकर केवली की पर्षदा में बिराजमान हूए।

इस तरह आगम शास्त्रों में केवलज्ञान प्राप्त करने वाले अनेक महापुरुषों के प्रसंग सुवर्णाक्षरों में लिखे गये है। मोक्ष में जाने के लिए केवलज्ञान आवश्यक है। अनिवार्य है। मोक्ष में जाने के बाद केवलज्ञानादि नहीं पाये जाते हैं, परंतु सब कुछ यही पाकर ही मोक्ष में जाया जाता है। इस तरह अनंत आत्माएं केवलज्ञान पाकर मोक्ष में गई हैं। यहां उदाहरणार्थ संक्षिप्त मात्र नाम निर्देश करते हुए कुछ प्रसंग दिखाये गये हैं, जिससे केवलज्ञान का स्वरूप समझ में आये। भरत क्षेत्र की वर्तमान अवसर्पिणी काल में अन्तिम केवली के रूप में श्री जंबुस्वामी सर्वज्ञ बनकर मोक्ष में गये हैं। परंतु महाविदेह क्षेत्र में सदा ही मोक्षमार्ग खुला है। आज भी वहां से केवलज्ञान पाकर मोक्ष में जा रहे हैं। अंत में प्रभु के चरणों में हम भी यही प्रार्थना करें कि –

पारसनाथ पसाय करी म्हारी पूरो उम्मेद रे,
समयसुंदर कहे हुं पण पामुं, ज्ञाननो पांचमो भेद रे।

समयसुंदर मुनि ने अपने स्तवन में अंत में जाकर प्रार्थना करते हुए कहा है कि – हे पार्श्वनाथ भगवान ! कृपा करे मेरी मनोकामना पूरी करो और वह यह है कि – मैं भी ज्ञान का पांचवा भेद अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त करूं। पांच ज्ञान में पांचवा भेद जो केवलज्ञान है उसे हम सभी प्राप्त करें। जगत की सभी सम्यग् दृष्टि भव्यात्माएं प्राप्त करके मोक्ष पधारें यही शुभ मनोकामना।

दर्शन और दर्शनावरणीय कर्म

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ।।
(उत्तरा. अ. २८. श्लोक. ११)

पवित्र जिनागम श्री उत्तराध्ययन सूत्र के मोक्षमार्ग गति नामक २८ वें अध्ययन के प्रस्तुत श्लोक में आत्मा का लक्षण बताते हुए फरमाया है कि - ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य तथा उपयोग ये जीव के प्रमुख लक्षण हैं। लक्षण भेदक होता है। अतः दो के बीच में भेद दर्शाने का तथा अपना स्वरूप बताने का काम करता है।

लक्षण वस्तु के स्वरूप को प्रकट करता है। समस्त ब्रह्मांड में मूलभूत द्रव्य दो ही है। १. जीव २. अजीव ।

लक्षण भेद से ही जीव और अजीव भिन्न-भिन्न कहलाते हैं। वस्तुगत मूलभूत गुणों को लेकर ही लक्षण बनता है, अतः पदार्थ के मूलभूत गुण ही एक दूसरे के भेदक होते हैं जीव द्रव्य, ज्ञान, दर्शन आदि गुणवान है और अजीव द्रव्य ज्ञान, दर्शन आदि रहित वर्ण, गंध, रस, स्पर्शादि गुणवान है। अतः जीव द्रव्य के वर्ण, गंध, रसादि गुण अजीव द्रव्य में संक्रमित नहीं होते हैं। वैसे ही अजीव द्रव्य के वर्णादि-गुण भी जीव में संक्रमित नहीं होते हैं। कोई भी अजीव एवं पुद्गल पदार्थ ज्ञान-दर्शनादि गुणवान् कभी भी नहीं होगा। 'न भूतो न भविष्यति' अर्थात् कोई भी पुद्गल पदार्थ भूतकाल में ज्ञानादि गुणवान नहीं हुआ था और भविष्य में कभी भी नहीं होगा। जहां-जहां ज्ञान, दर्शनादि गुणोंकी बात आएगी, वहां जीव द्रव्य के ही गुण समझने चाहिए।

द्रव्याश्रयी गुण :-

'गुण-पर्यायवद्द्रव्यम्।' यह सूत्र पूज्य उमास्वाती महाराज ने तत्त्वाथार्धिगम सूत्र में देकर द्रव्य का स्वरुप कैसा होता है, यह बताया है। गुण और पर्याय वाला ही द्रव्य होता है, अर्थात् द्रव्य-गुण और पर्यायों का समूह पिंड है। गुण रहित द्रव्य स्वतंत्र नहीं रहता है, उसी तरह द्रव्य रहित गुण भी स्वतंत्र नहीं रहता है।

चूंकि गुण द्रव्याश्रयी ही होते हैं, इसलिए द्रव्य को छोड़कर गुण नहीं रह सकते हैं। द्रव्य गुणों का आधार स्थान है उसमें आधेय रूप से गुण रहते हैं। अतः द्रव्य से भिन्न गुण के अस्तित्व की स्वतंत्र कल्पना करना असंभव है। वैसे ही द्रव्य की सर्वथा गुण रहित कल्पना करना असम्भव है। अतः गुण एवं पर्याय वाला द्रव्य कहलाता है और द्रव्य गुण पर्याय से युक्त होता है।

उपरोक्त सिद्धान्त के आधार रूप श्लोक में दर्शाए गए ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि जो गुण है, उनका आश्रयी एवं आधारभूत द्रव्य जीव है। जीव द्रव्य और ज्ञानादि गुण है। जीव द्रव्य को छोड़कर ज्ञान-दर्शनादि गुण स्वतंत्र रूप से कहीं भी नहीं रह सकते हैं, उसी तरह जीवद्रव्य भी ज्ञानादि गुणों को छोड़कर उनके बिना अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रख सकता है। अतः ज्ञान-दर्शनादि गुण जीव द्रव्य में रहते हैं और जीव द्रव्य ज्ञान-दर्शनादि गुणवान् होता है। इसलिए जीव द्रव्य को समझने के लिए तदाश्रयी ज्ञानादि गुणों को पहले समझना अनिवार्य होता है।

ज्ञान दर्शनादि गुणों का स्वरूप :-

गुण सार्थक होते हैं, अर्थात् गुण स्वयं अपना अर्थ रखते हैं। अतः ज्ञान-दर्शनादि गुणों का अपना निश्चित अर्थ है। यहां ज्ञान का अर्थ है-जानना, दर्शन का अर्थ है देखना, चारित्र का अर्थ है अपने मूलभूत स्व-स्वरूप में रहना, तप का अर्थ है आहारादि पर-पुद्गल पदार्थ से अलिप्त रहना, वीर्य का अर्थ है स्वयंजीव का अनंत शक्तिमान् रहना, उपयोग का अर्थ है जीव का ज्ञान-दर्शनादि चेतनामय रहना। इस तरह श्लोकगत् छः ही गुण अर्थवान्-सार्थक है। जीव द्रव्य ज्ञान-दर्शनादि गुणों से अभिन्न है, अतः ये सभी अर्थ जीव द्रव्य के कहलाएंगे। जीव द्रव्य सक्रिय है, अतः जीव अपनी सारी क्रिया अपने गुणों के आधार पर ही करता है। स्व गुणानुरूप क्रिया करना द्रव्य का कार्य है। कार्य क्रिया से जन्य होता है। इसलिए जीव का कार्य अपने गुणों की क्रिया के आधार पर ही होगा। गुण ज्ञान-दर्शनादि है, अतः उनकी क्रिया का करने वाला कर्ता जीव द्रव्य है, अतः जानना, देखना आदि जीव का कार्य है। व्याकरण के अनुसार क्रिया करने वाला कर्ता होता है। क्रिया हो तो निश्चित ही उसका कर्ता होता है,क्योंकि बिना कर्ता के क्रिया नहीं हो सकती है। जानना, देखना आदि क्रिया है अतः उनका कर्ता तद्गुणवान् जीव द्रव्य है। अतः जानना, देखना आदि जीव का मूलभूत स्वभाव-कार्य है। जीव के गुण क्रिया कार्य एवं स्वभावादि ज्ञान-दर्शनादि रूप होने से वह ज्ञाता दृष्टा कहलाता है।

ज्ञाता-दृष्टा जीव :-

ज्ञान गुण है। ज्ञान गुण की क्रिया 'जानना' है। इस 'जानने' की क्रिया का

कर्ता- 'ज्ञाता' आत्मा है। दर्शन गुण है। देखना यह क्रिया हैं। देखने की क्रिया का कार्य 'दर्शन' करने वाला कर्ता - 'दृष्टा' जीव है। अतः आत्मा मुख्य रूप से ज्ञाता-दृष्टा है। ज्ञाता-दृष्टा भाव आत्मा का प्रमुख स्वरूप है। अजीव द्रव्य में न तो ये गुण हैं और न ही यह क्रिया है, अतः पुद्गल एवं अजीव द्रव्यादि पदार्थ ज्ञाता-दृष्टा भाववान् नहीं है।

सवाल यह खड़ा होता है कि- व्यवहार में लोग कहते हैं कि - आंख देखती है,कान सुनता है, मन जानता है, जीभ चखती है, नाक सूंघता है, त्वचा स्पर्श करती है इत्यादि। तो फिर जीव देखता है, जानता है, यह कैसे सही हो सकता है? व्यवहार के क्षेत्र में लोग ऐसी अनुभूति करते हैं, परंतु आत्मा देखती है, जानती है, आदि अनुभूति क्या नहीं करते हैं? सही क्या समझना? बात ठीक है, उपरोक्त कर्ता-क्रिया के नियमानुसार विचार किया जाय तो देखना, जानना, सुनना, चखना आदि क्रियाएं हैं, अतः इन क्रियाओं का कर्ता कोई होना ही चाहिए। अब रहा प्रश्न कर्ता का। कर्ता किसे माने? आंख को या आत्मा को। भाषा के दृष्टिकोण से यदि किसी को भी पूछा जाय कि- 'आंख देखती है, या आंख से देखते हैं? कान सुनता है या कान से सुनते हैं? जीभ चखती है या जीभ से चखते हैं? इत्यादि। सोचिए! कौन सी भाषा सही लगती है? यदि आंख ही देखती होती तो मृत शरीर (शव) की आंख भी देखती। अर्धनिमिलित आंख अर्थात् आंख आधी खुली रखकर सोने वाला भी सब कुछ देखता, या आंख स्वतंत्र रूप में बाहर पड़ी-पड़ी भी देख लेती। वैसे ही कान भी स्वतंत्र रूप से सुन लेता, परंतु ऐसा नहीं देखा जाता है। मृत-शरीर के आंख, नाक, कानादि अंग होते हुए भी नहीं देखता है, नहीं सुनता है, इत्यादि। क्योंकि मृत-शरीर जड़ है, अजीव है और अजीव में ज्ञाता-दृष्टा भाव नहीं है। वह न तो देखता है और नहीं सुनता है। आंख देखती है कि बजाय आंख से देखते हैं, कान सुनता है के बजाय कान से सुनते हैं, नाक सूंघता है के बजाय नाक से सूंघते हैं यह भाषा ज्यादा शुद्ध है। उसी तरह मन सोचता है के बदले मन से सोचते हैं यह भाषा शुद्ध-सही एवं आत्म-सिद्धि की पुष्टिकारक है। यहां कारण अर्थ में 'से' शब्द से क्रिया का कर्ता जीव (आत्मा) सिद्ध होता है। अतः मुख्य रूप से देखना, जानना, सुनना, सोचना आदि क्रियाओं का कर्ता आत्मा ही कहलाएगी। इसलिए जानने, देखने वाला ज्ञाता-दृष्टा भाववान् कर्ता आत्मा ही है। इन्द्रियां और मन सहायक साधन है, माध्यम है जिनके द्वारा आत्मा अपनी जानने-देखने आदि की क्रिया करती है।

दर्शन शब्द के विविध अर्थ :-

शब्द अनेकार्थ होते हैं। एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। संस्कृत व्याकरण के नियमानुसार 'दृश्-प्रेक्षणे' इस धातु से देखने अर्थ में 'दर्शन' बना है।

यह शब्द क्रिया सूचक है। अतः यह देखना क्रिया है। अंग्रेजी में दर्शन शब्द से **"VISION'** अर्थ भी लिया जाता है। दृश्यमान पदार्थ से दृश्य अर्थ में **"VISION'** कहते हैं। दर्शन क्रिया सूचक से दर्शनीय अर्थात् देखने योग्य पदार्थ भी लिए जाते हैं, और भी क्रिया-कर्म सूचक कई अर्थ इस प्रकार हैं -'शब्दचिन्तामणि' आदि कोषागत विविध अर्थ -

दर्शनं दर्पण धर्मोपलब्ध्योर्बुद्धि - शास्त्रयो:।
स्वप्न-लोचनयोश्चापि, दर्शनं वर्म-दंशयो:।।

अनेकार्थ संग्रह ग्रंथ में पूज्य हेमचन्द्राचार्यजी ने दर्शन के विविध अर्थ बताए हैं।

(१) 'दृशं-प्रेक्षणे' - से दर्शन, To See. (२) दर्शन = देखना।

(३) दर्शन शास्त्र। (४) दर्शन = तत्त्वज्ञान - PHILOSOPHY

(५) दर्शन = दृश्य - VISION. (६) दर्शन = परमात्म दर्शन (क्रियार्थक)। (७) दर्शन = श्रध्दा। (८) दर्शन = दर्पण। (९) दर्शन = दृष्टि, घाट, उपदेश, स्वप्न, धर्म सम्बन्धी ज्ञान, बुद्धि-अक्कल, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि 'षड्दर्शन', मन, दर्शनशास्त्र तथा सम्यग् दर्शन श्रद्धा अनेकार्थों में 'दर्शन शब्द' है।

इस तरह भिन्न भिन्न अनेक अर्थों में दर्शन शब्द का प्रयोग होता है।

दर्शन-सीमित और अनंत :-

देखने की क्रिया का कार्य दर्शन प्रत्येक कर्ता के ऊपर अवलम्बित रहता है। अर्थात् कर्ता आत्मा को देखने की शक्ति कितनी विकसित हुई है उसके आधार पर कम ज्यादा देखेगा। यदि दर्शन की शक्ति कर्मों के आवरण से कुंठित है तो वह कम देखेगा, और यदि दर्शन की शक्ति कर्मावरण रहित है तो वह अनंत एवं असीमित देखेगा। दर्शन क्रिया के कर्ता जीव दो प्रकार के हैं - १. कर्मावरणग्रस्त जीव = सकर्मी जीव, २. कर्मावरण रहित जीव = निष्कर्मी जीव। उदाहरण के लिए समझिए कि हम आकाश में चन्द्र या सूर्य देख रहे हैं। चंद्र और हमारी दृष्टि के बीच के दृष्टिपथ में यदि कोई आवरण आता है तो चंद्र दिखाई नहीं देगा। यदि आवरण हल्का-पतला सा होगा तो चंद्र धुंधला एवं अस्पष्ट दिखाई देगा। आवरण चंद्र पर भी हो सकता है, और दृष्टिपथ के बीच में भी हो सकता है तथा आंखों में मोतीबिन्दु की तरह भी हो सकता है ये हुए बाह्यावरण। जैसे बाह्यावरण के कारण भी वस्तु स्पष्ट नहीं दिखाई देती, ठीक वैसे ही आंतरिक या आभ्यंतरिक आवरण भी होता है। वह भी बाधक बनता है। बाह्यावरण बादल कपडा या मोतीबिन्दु आदि होता है, वैसे ही आभ्यंतर आवरण आत्मा के दर्शन गुण पर लगे हुए दर्शनावरणीय कर्म का होता है। जैसा काम बाह्यावरण करते हैं ठीक वैसा ही काम आभ्यंतर आवरण दर्शनावरणीय

कर्म करता है। अर्थात् कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु का बना हुआ पिंड दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन गुण पर छाकर आत्मा की देखने की शक्ति को कम करने का या ढकने का काम करता है अतः एक जीव जो दर्शनावरणीय कर्म के आवरण से दबा हुआ है, वह जो कुछ देखेगा, सीमित एवं मर्यादित देखेगा। अतः उसका दर्शन सीमित-मर्यादित कहलाएगा, जबकि दूसरा जीव जो दर्शनावरणीय कर्म के आवरण से सर्वथा रहित है उनका दर्शन अमर्यादित-असीमित-अपरिमित अनंत दर्शन कहलाएगा, क्योंकि दृष्टा आत्मा कर्मावरण से रहित है। उस समय वह आत्मा अपनी दर्शन शक्ति से स्वयं जो कुछ देखेगी वह अनंत दर्शन रूप में देखेगी।

आत्मा का गुण 'अनंत दर्शन' :-

मूलभूत शुद्ध द्रव्य आत्मा जो सर्व कर्मावरण रहित है उसके गुण एवं शक्ति असीमित-अनंत होते हैं। अलोकाकाश अनंत है और लोकाकाश क्षेत्र सांत हैं। लोकाकाश के बाहर जो अलोकाकाश अंत रहित अनंत है, जिसकी कोई सीमा एवं अवधि नहीं है, ऐसे अनंत अलोकाकाश के क्षेत्र में क्या है और क्या नहीं है? यह भी अनंतदर्शनी आत्मा देखकर ही कहती है।

उदाहरण के लिए मानों कि - पिता ने पुत्र को अपने गांव से एक वस्तु लाने के लिए कहा। पुत्र गांव गया। उस वस्तु के लिए पूरी छानबीन की, परंतु वस्तु नहीं मिली। अतः पुनः आकर पुत्र ने पिता से कहा कि वस्तु गांव में नहीं है। इस बात से यह निश्चित होता है कि वस्तु है या नहीं, यह कहने के लिए भी हमें वस्तु क्षेत्र में जाकर देखना पड़ता है, तब ही निर्णय कर पाते हैं कि वस्तु है या नहीं है। बिना देखे हम निर्णय नहीं कर पाते, और अपने घर बैठे दूर गांव में या वस्तु के क्षेत्र में नहीं देख पाते हैं, क्योंकि हम कर्मावरणग्रस्त हैं। हमारी शक्ति दर्शनावरणीय कर्म से दबी हुई है। अतः एक स्थान में बैठे हुए दूर स्थान की वस्तु देखना मुश्किल है। दर्शनावरणीय कर्मावरणग्रस्त जीव इन्द्रियों को सीमित एवं मर्यादित शक्ति से देखता है। वह सीधे आत्मा से नहीं देख पाता है। दूसरे प्रकार का जीव जो दर्शनावरणीय कर्म से रहित है वह बिना किसी इन्द्रियों के सीधे आत्मा से देख सकता है। सीधे आत्मा से देखने को 'आत्मदर्शन' कहते हैं। यही अनंत दर्शन या केवल दर्शन कहलाता है। यह केवल दर्शन अनिन्द्रिय, असीमित, अमर्यादित एवं अपरिमित अनंत होता है। चित्र में दर्शाए अनुसार अनंतज्ञानी अनंतदर्शनी अर्थात् केवलज्ञानी-केवलदर्शनी आत्मा लोक और अनंत अलोक को भी देखती और जानती है। ज्ञान से जानना और दर्शन से देखना होता है। जानना और देखना यह क्रिया साथ में होती है, अतः ज्ञान और दर्शन साथ में रहते हैं। अनंत अलोक में क्या है और क्या नहीं है यह केवलज्ञानी-केवलदर्शनी सर्वज्ञ आत्मा देखकर ही बताती है। अतः उन्होंने देखा-जाना फिर जगत को

बताया। सर्वज्ञ विभु ने बताया कि अनंत अलोकाकाश में सिर्फ आकाश ही आकाश है, परंतु आकाश के सिवाय अन्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीव या पुद्गल आदि कोई द्रव्य नहीं है। आकाश है और अन्य द्रव्य नहीं है- यह भी अनंतज्ञानी-अनंतदर्शनी आत्मा ने देखकर ही बताया है। तथा चौदह राजलोक परिमित लोकाकाश के क्षेत्र में भी आकाश वही है जो अलोक में है, और साथ में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय अनंत जीव, एवं अनंत पुद्गल पदार्थ नहीं है, यह सर्वज्ञ सर्वदर्शी ने देखकर और जानकर ही बताया है। समस्त लोक या अलोक को देखना या जानना यह इन्द्रियों से सम्भव नहीं है। यह तो सीधे आत्मा से ही देखना होता है। केवलज्ञानी 'सर्वज्ञ' कहलाते हैं और केवलदर्शनी - 'सर्वदर्शी' कहलाते है। अनंतज्ञानी-अनंतदर्शनी, केवलज्ञानी-केवलदर्शनी, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी ये सभी शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द है। केवलज्ञानी अर्थात् अनंतज्ञानी सर्वज्ञ महापुरुष, इन्द्रियों के बिना सीधे आत्मा से जानते हैं। उसी तरह अनंतदर्शनी-केवलदर्शनी-सर्वदर्शी आत्मा बिना इन्द्रियों के सीधे आत्मा से देखती है। अतः केवलज्ञानी-केवलदर्शनी ही आत्मज्ञानी-आत्मदृष्टा कहलाते हैं। अन्य सभी तद्-तद् कर्मावरणग्रस्त छद्मस्थ जीव आत्मज्ञाता-आत्मदृष्टा नहीं कहलाते। वे इन्द्रियों से जानने एवं देखने वाले इन्द्रियजन्य-ज्ञानज्ञाता, इन्द्रियजन्यदर्शन-दृष्टा कहलाते हैं।

इन्द्रियों से जानना व देखना :-

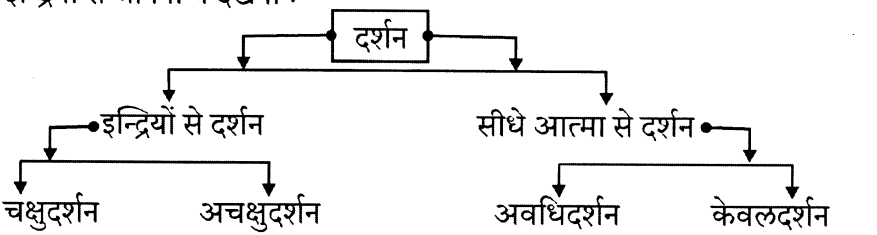

ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीयादि कर्मों से ग्रस्त छद्मस्थ संसारी आत्मा इन्द्रियों के द्वारा ही जानने-देखने आदि का व्यवहार करती है, क्योंकि छद्मस्थ संसारी आत्मा के अनंत ज्ञान-दर्शनादि गुण तथाप्रकार के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि कर्मों के भार से दब चुके-ढक चुके हैं। ऐसी संसारी आत्मा संसार में शरीर के बिना तो रह ही नहीं सकती है। उसे किसी न किसी शरीर में ही रहना पड़ता है। इसलिए संसारी आत्मा देहधारी कहलाती है। मकान के खिडकी-दरवाजे की तरह शरीर में इन्द्रियां हैं, जो खिड़की-दरवाजे का काम करती हैं। मकान में जैसे खिड़की-दरवाजों से हवा-प्रकाशादि आता है, वैसे ही देहधारी आत्मा में शरीर के खिड़की-दरवाजे रूप इन्दियों से ज्ञेय-दृश्य आत्मा में (अंदर) आते हैं। इन्द्रियां ५ (पांच) हैं। पांच इन्द्रियों का काम आत्मा तक ज्ञेयमान-दृश्यमान पदार्थों का ज्ञान-दर्शन

पहुँचाना है। कर्मावरण के कारण, आत्मा का स्वयं का पूर्ण ज्ञाता-दृष्टाभाव दबा हुआ (आच्छन्न) होने के कारण आत्मा इन्द्रियों की सीमित शक्ति से सीमित ही जानने-देखने का काम करती है। अतः ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव होते हुए भी, आत्मा ज्ञान-दर्शन पूर्ण न करते हुए, इन्द्रियों से अपूर्ण एवं अल्प ज्ञान-दर्शन प्राप्त करती है।

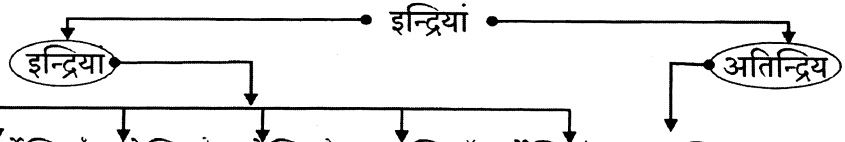

संसार में मूलभूत दो पदार्थ है - १. जीव २. अजीव । संसार में जीव अजीव संयोगी द्रव्य है, अर्थात् एक दूसरे के साथ एक दूसरे का संयोग-वियोग होता रहता है। जीव अजीव का संयोग-वियोग ही संसार है। अजीव में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश एवं काल के अतिरिक्त पांचवा पुद्गल पदार्थ भी है । पुद्गल की पर्यायें अनंत है। पुद्गल में जो वर्ण, गंध, रस, स्पर्शादि का स्वरूप पड़ा हुआ है उसे ग्रहण करने के लिए आत्मा अपनी इन्द्रियां उस-उस विषय वाली बनाती है। पुद्गल पदार्थ के वर्ण अर्थात् रूप-रंग को देखने के लिए जीव ने चक्षु इन्द्रिय बनाई। चक्षु इन्द्रिय से जीव लाल, नीला, पीला, हरा आदि रूप रंग देखता है । पुद्गल पदार्थ में रही हुई सुगंध-दुर्गंध को जीव ने घ्राणेन्द्रिय (नाक) से ग्रहण की। पुद्गल पदार्थ में रहे हुए तिक्त, कटु, खारा, मीठा, खट्टा आदि रस ग्रहण करने के लिए जीव ने रसनेन्द्रिय-जिह्वा इन्द्रिय का उपयोग किया है। पुद्गल पदार्थ के हल्का-भारी, मृदु-कर्कश, ठंडा-गरम तथा कोमल-कठोर (स्निग्ध-रूक्ष) आदि स्पर्शों को ग्रहण करने के लिए जीव ने स्पर्शेन्द्रिय-चमड़ी बनाई। ध्वनि एवं शब्द को ग्रहण करने के लिए जीव ने श्रवणेन्द्रिय-कान बनाया। इस तरह जीव ने पुद्गल पदार्थ के वर्ण, गंध, रस, स्पर्शादि स्वरूप को अपने ज्ञान का विषय बनाने के लिए इन्द्रियों का उपयोग किया। आत्मा तक ज्ञेय पदार्थ का ज्ञान पहुँचाने के लिए डाकिए की तरह काम करती है,अतः ये इन्द्रियां ज्ञानेन्द्रियां कहलाती है। ज्ञाता-दृष्टास्वभाववान् स्वयं आत्मा होते हुए भी स्वगुण घातक कर्म से दबी हुई होने के कारण आत्मा ने ज्ञान प्राप्ति के कार्य में इन्द्रियों की सहायता ली। अतः ज्ञाता-दृष्टा आत्मा ज्ञान-दर्शन का अर्थात् जानने, देखने का काम इन्द्रियों की मदद से करने लगी। इन्द्रियां जानने-देखने का काम कराती हैं, क्योंकि सभी ज्ञान व्यवहारी है।

कर्मशास्त्रकारों ने ज्ञान-दर्शन के कार्य के आधार पर इन्द्रियों के कार्यो के दो विभाग किए हैं। १. चक्षु दर्शन, २. अचुक्ष दर्शन ।

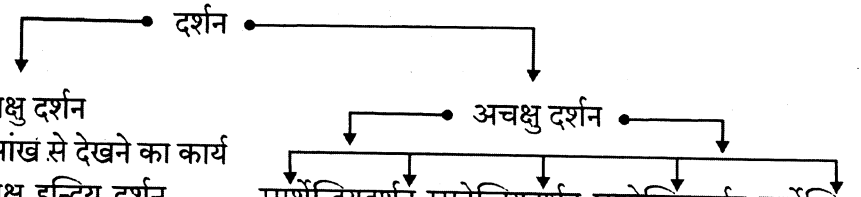

अचक्षु दर्शन शब्द प्रयोग करने से चक्षु के अतिरिक्त चारों इन्द्रियां ली है। इस तरह पांचों ही इन्द्रियां आत्मा तक दृश्य भेजती हैं। आत्मा को पदार्थों का दर्शन कराने का काम करती है। दर्शन (देखने) से ज्ञान होता है।

इन्द्रियां से ज्ञान या दर्शन : –

प्रश्न यह उठता है कि – इन्द्रियों से ज्ञान होता है या दर्शन होता है ? इन्द्रियां ज्ञान कराती है या दर्शन कराती है ? इन्द्रियों को ज्ञानेन्द्रिय कहें या दर्शनेन्द्रिय? चिंतक ज्ञानी ही इस विषय में स्वयं चिंतन करें। विचार करने पर ऐसा लगता है कि–आत्मा स्वयं ज्ञान–दर्शन आदि युक्त ज्ञाता–दृष्टा भाववान् है। यदि आत्मा स्वयं कर्म रहित होती तो बिना इन्द्रियों की मदद से ही स्वयं अनंत ज्ञान–दर्शन गुण से अनंत पदार्थों का सम्पूर्ण ज्ञान–दर्शन कर लेती। परंतु ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीयादि कर्म ग्रस्त आत्मा कर्मावरण के कारण अनंत ज्ञान–दर्शन नहीं कर पाती है। वह इन्द्रियों की मदद से ही ज्ञेय–दृश्यमान पदार्थों का ज्ञान–दर्शन करती है। अतः इन्द्रियां आत्मा के लिए ज्ञान सहायक होने के कारण ज्ञानेन्द्रियां कहलाती है। ज्ञेय पदार्थो का ज्ञान, इन्द्रियां स्वयं नहीं करती है, क्योंकि ज्ञान करना यह आत्मा का काम है। आत्मा ही ज्ञानवान् चेतन द्रव्य है, और इन्द्रिया जड़ है। जड़ ज्ञानवान नहीं होता है। आत्मा इन्द्रियों की सहायता से ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान करती है, वैसे ही दर्शन भी करती है। अतः ज्ञान–दर्शन करना यह इन्द्रियों का नहीं, अपितु आत्मा का काम है। ज्ञाता–दृष्टागुणवान् आत्मा है न कि इन्द्रियां।

इन्द्रियां उसमें डाकिए की तरह सहायक बनती है। वे पदार्थ के वर्ण, गंध आदि को दिखा देगी, परंतु आगे ज्ञान आत्मा ही करेगी। उदाहरण के लिए समझिए कि–आंखे ने एक व्यक्ति को देखकर उसके रूप–रंगादि को आत्मा तक पहुँचाया। परंतु वह पुत्र है या पिता है? चाचा है या मामा? इत्यादि विशेष भेद ज्ञान आत्मा ही करेगी। आंख से वृक्ष देखा। वृक्ष के फूल, फल पत्ते आदि के रूप–रंग आंख ने आत्मा तक पहुँचाने का काम किया। परंतु यह वृक्ष किसका है ? आम का या चिकू का? नींबू का है या सन्तरे का ? यह भेद ज्ञान एवं निर्णय आत्मा करेगी। वैसे ही आत्मा तक शब्द–ध्वनी पहुँचाने का काम कर्णेन्द्रिय करती है,परंतु सुनकर हर्ष–

शोकादि का निर्णय आत्मा ही करती है। उसी तरह घ्राणेन्द्रिय गंध, रसनेन्द्रिय खट्टा-मीठादि रस, स्पर्शेन्द्रिय ठंडा-गरमादि स्पर्श आत्मा तक पहुँचाने का काम करती है, और विशेष निर्णय आत्मा ही करती है। इस प्रकार पांच इन्द्रियां २३ प्रकार के विषय आत्मा तक पहुँचाती है, और आत्मा उनका ज्ञान-दर्शनादि करती है।

क्रम. इन्द्रियां	स्थान	विषय भेद	ज्ञान-दर्शनादि
१. स्पर्शेन्द्रिय	चमड़ी	स्पर्श	८ ठंडा-गरमादि
२. रसनेन्द्रिय	जीभ	रस	५ खट्टे-मीठे आदि
३. घ्राणेन्द्रिय	नाक	गंध	२ सुगंध-दुर्गंधादि
४. चक्षुरेन्द्रिय	आंख	वर्ण	५ लाल, नीले आदि
५. कर्णेन्द्रिय	कान	ध्वनि	३ जड़-चेतनादि की
			२३

इस तरह पांचों इन्द्रियां २३ विषयों का ज्ञान-दर्शन स्वयं न करती हुई आत्मा को कराने में सहायता करती है।

चक्षु अचक्षु दर्शन :-

कर्मग्रंथकार महर्षि ने कर्मग्रंथ में दर्शनावरणीय कर्म में चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन ये दो भेद बताये हैं। इसका अर्थ बताते हुए लिखा है कि - १) चक्षुदर्शन यहां चक्षु = अर्थात् आंखे - नेत्र, और अचक्षु शब्द में "अ" अक्षर निषेधार्थक है, अर्थात् चक्षु नहीं परंतु चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियां यह अर्थ किया है। इस तरह चक्षु अचक्षु इन दो विभागों में पांचों इन्द्रियां विभाजित की है।

प्रश्न यहां यह उठता है कि आंखों से देखना होता हैं, इसलिए आंखों से देखने के कारण चक्षु दर्शन कहा यह योग्य है, परंतु अचक्षुदर्शन कैसे योग्य है? क्योंकि अचक्षु अर्थात् चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों से देखना नहीं होता है। इसके उत्तर में कहते हैं कि- चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों से भी जिन पुद्गल पदार्थों के स्पर्श, रसादि विषयों को आत्मा तक पहुँचाया जाता है, वह भी आत्मा के लिए ज्ञान-दर्शनकारक ही बना। यद्यपि चक्षु की तरह इतर इन्द्रियों से आंख की तरह देखना नहीं होता है, फिर भी स्पर्श-रसादि का अनुभव ज्ञान-दर्शनात्मक होता है। अतः चक्षु एवं अचक्षु दर्शन कहना उचित है। आंख देखने के माध्यम से वर्णादि (रंग-रूप) विषयों को आत्मा तक पहुँचाती है। कान सुनने के माध्यम से शब्द-ध्वनि को आत्मा तक पहुँचाता है। नाक सूंघने के माध्यम से गंध के विषय को आत्मा तक पहुँचाता है। जीभ चखने के माध्यम से खट्टे-मीठे रस के विषयों को आत्मा तक पहुँचाती है। स्पर्शेन्द्रिय, त्वचा स्पर्श के माध्यम से ठंडे-गरम आदि स्पर्श के विषयों को आत्मा तक पहुँचाती हैं। सभी इन्द्रियों का आत्मा तक विषयों

का पहुँचने का काम एक जैसा ही है। आत्मा के ज्ञान-दर्शन में सभी इन्द्रियां निमित्त-सहायक बनती है, अतः चक्षु-अचक्षु दर्शन दोनों संज्ञा योग्य ही है।

दर्शन गुण एवं दर्शनावरणीय कर्म :-

'दर्शन' का अर्थ है 'देखना'। दर्शन यह आत्मा का गुण है। ज्ञाता-दृष्टा लक्षणवान् आत्मा ज्ञानगुण के कारण ज्ञाता एवं दर्शन गुण के कारण दृष्टा कहलाती है। ज्ञान से जानने की क्रिया होती है एवं दर्शन से देखने की क्रिया होती है। ज्ञान-दर्शन सहभावी गुण है, अर्थात् अन्योन्य मिलकर साथ रहते हैं। जानने-देखने की क्रिया बिना किसी विशेष अंतर के एक साथ होती है। अतः आत्मा के ज्ञान-दर्शन गुण पर आधारित ज्ञाता-दृष्टा भाव एक साथ रहते हैं। ज्ञान-दर्शन गुण, क्रिया एवं शक्ति उभय रूप में व्यवहरित होते हैं। दर्शन सामान्याकार होता है,और ज्ञान विशेषाकार होता है। सामान्य ज्ञान को दर्शन कहते हैं, और विशेष ज्ञान को ज्ञान कहते हैं। इन्द्रियों से देखने आदि की क्रिया में सर्वप्रथम वस्तु का सामान्य बोध अर्थात् दर्शन होता है, और बाद में विशेष बोध ज्ञान होता है, आत्मा ज्ञेय पदार्थों को देखकर ज्ञान करती है। आत्मा स्वयं अपनी दर्शन शक्ति से पदार्थों को देखती है, और देखे हुए पदार्थों को ज्ञानगुण से जानती है। कर्मावरणग्रस्त आत्मा के ज्ञान-दर्शनादिगुण तथाप्रकार के कर्मों से दबे हुए होने के कारण देखना, जानना आदि इन्द्रियों की मदद से करती है। ज्ञान एवं ज्ञानावरणीय कर्म के विषय का पहले काफी विचार कर चुके हैं। प्रस्तुत प्रवचन में दर्शनगुण एवं दर्शनावरणीय कर्म पर विचार कर रहे हैं। आत्मा के दर्शनगुण को ढकने वाला दर्शनावरणीय कर्म कहा है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र में इसके अवांतर भेद नौं बताए हैं।

दर्शनावरणीय कर्म

दर्शन ४

चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन केवलदर्शन

चक्खुमचखू ओहिस्स, दंसणे केवले य आवरणे ।
एवं तु नवविगप्पं, नायव्वं दंसणावरणं ।।६।।

(उत्तरा. अ. ३३ श्लो. ६)

निद्रा ५

निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला प्रचला-प्रचला थिणद्धी

निद्दा तहेव पयला, निद्दानिद्दा य पयलापयला य।
तत्तो य थीणगिद्धी पंचमा होइ नायव्वा ।।५।।

(उत्तरा. अ. ३३ श्लो. ५)

दर्शनावरण ते वरणवुं, नव पगइ दुर्दंत।
दर्शन निद्रा भेदथी, चउ पण कहे अरिहन्त ।।१।।

चौसठ प्रकारी पूजा में वीर विजय महाराज ने दर्शनावरणीय कर्म के मुख्य दो भेद बताकर फिर ९ भेद बताए हैं।

४ प्रकार के दर्शनावरण एवं ५ प्रकार की निद्रा इस तरह मिलकर कुल ९ कर्म प्रकृतियां दर्शनावरणीय कर्म की है। चारों दर्शनावरणीय की कर्म प्रकृतियां आत्मा से होने वाले दर्शनगुण को आवृत्त करती-रोकती है, और पांचों प्रकार की निद्रा ज्ञान-दर्शन की क्रिया में आत्मा की जागृत अवस्था को रोकती है, इन ९ कर्म प्रकृतियों का अर्थ कर्मग्रंथकार ने इस प्रकार बताया है।

चक्खु-दिट्ठि-अचक्खू-सेसिंदिए-ओहि केवलेहिं च ।
दंसणमिह सामन्नं तस्सा-ऽवरणं तयं चउ-हा ।।१०।।

चक्षु अर्थात् आंख या दृष्टि, अचक्षु अर्थात् शेष चार इन्द्रियां (मन को भी यहां लिया गया है) अवधि और केवल दर्शन के द्वारा सामान्याकार ज्ञान को दर्शन कहते हैं। इन चार प्रकार के दर्शनों पर आने वाले कर्मावरण को दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। वे क्रमशः इन्हीं चार गुणों को ढकने वाले होने से इनके नाम से ही कर्म कहलाते हैं। १. चक्षु दर्शनावरणीय कर्म २. अचक्षु दर्शनावरणीय कर्म ३. अवधि दर्शनावरणीय कर्म ४. केवल दर्शनावरणीय कर्म।

१. चक्षु दर्शनावरणीय कर्म – चक्षु-आंख से होने वाले दर्शन को रोकने वाला-आच्छादित करने वाला चक्षु दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है, अर्थात् चक्षु दर्शन को ढकनेवाला चक्षु दर्शनावरणीय कर्म कहलाता हैं।

२. अचक्षु दर्शनावरणीय कर्म – चक्षु के अतिरिक्त चारों शेष चार इन्द्रियों (स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, श्रवणेन्द्रिय) से होने वाले सामान्यकार बोध रूप दर्शन को रोकने वाला-आच्छादक अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म कहलाता है।

३. अवधि दर्शनावरणीय कर्म – अवधि अर्थात् नियत क्षेत्र की दूरी वाले प्रदेश तक देखने की शक्ति आत्मा के अवधि दर्शन गुण को रोकने वाला अवधि दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है। अर्थात् अवधि ज्ञान के पूर्व होने वाला रूपी द्रव्य विषयक सामान्याकार बोध स्वरूप दर्शन को रोकने वाला अवधि दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है।

४. केवल दर्शनावरणीय कर्म – अनंत लोकालोकाकाश तक देखने की आत्मा के केवल दर्शन गुण को रोकने वाला – आच्छादक कर्म केवल दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है, अर्थात् लोकालोकाकाश के सर्व द्रव्य विषयक सामान्याकार ज्ञान रूप दर्शन का आवरक केवल दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है।

आत्मा का सामान्य उपयोग अर्थात् पदार्थ का सामान्याकार रूप से देखना यह दर्शन कहलाता है और विशेष उपयोग अर्थात् सामान्याकार से देखे हुए पदार्थ को ही विशेष रूप से जानना यह ज्ञान कहलाता है। यह प्रक्रिया छद्मस्थ-कर्मग्रस्त संसारी जीव को प्रथम सामान्योपयोगी दर्शन और फिर विशेषोपयोगी ज्ञान रूप होता है। अर्थात् दर्शन में पहले वस्तु का सामान्याकार बोध होता है, और ज्ञान में उसी का विशेषाकार बोध होता है। छद्मस्थ संसारी जीव को पहले दर्शन और बाद में ज्ञान होता है ,अर्थात् कर्मावरण से दबी हुई आत्मा को प्रथम दर्शन का उपयोग और बाद में ज्ञान का उपयोग होता है, परंतु घाती कर्मावरण रहित केवली सर्वज्ञ को प्रथम समय केवलज्ञान होता है, और दूसरे समय केवल दर्शन होता है, यह एक समय स्थिति वाला होता है।

किसी भी एक काम को करते समय भिन्न-भिन्न वस्तु के सम्बन्ध में साकार और निराकार दो प्रकार के उपयोग होते हैं। परंतु वे सभी हमारे ख्याल में नहीं आते हैं। जिनके उपयोग ख्याल में आने जैसे स्पष्ट होते हैं वे साकारोपयोग कहलाते हैं। और प्रवर्तमान होते हुए भी ख्याल में न आए ऐसे उपयोग को निराकारोपयोग कहते हैं। व्यक्त-स्पष्ट उपयोग को साकारोपयोग कहते हैं, और अस्पष्ट-अव्यक्त उपयोग को निराकारोपयोग कहते हैं। पांचों इन्द्रियों और छट्ठे मन की सहायता से जो-जो उपयोग प्रवर्तमान होते हैं तथा उनके उपयोग का जो आकार दूसरे भी समझ सके ऐसे स्पष्ट हो, उन्हें साकारोपयोग (ज्ञान) कहते हैं, तथा उन्हीं पांच इन्द्रियों एवं छट्ठे मन से उपयोग प्रवर्तमान होते हुए भी जिसका आकार स्पष्ट नहीं होता है उसे निराकारोपयोग कहते हैं। दोनों ही उपयोग ज्ञान की ही जाति है, परंतु साकार ज्ञान और निराकार ज्ञान के भेद स्पष्ट करने के लिए साकार को 'ज्ञान' शब्द से और निराकार को 'दर्शन' शब्द से शास्त्रों में वर्णित किया है। दर्शन भी एक प्रकार का ज्ञान ही है, परंतु साकार स्पष्ट न होने से निराकार निर्विकल्प होने से उसे 'दर्शन' कहा है।

दर्शन तीन प्रकार का कहा है - १) इन्द्रिय दर्शन २) अवधि दर्शन ३) केवल दर्शन।

इनमें पहले इन्द्रियदर्शन के चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन दो भेद करके कुल दर्शन के चार प्रकार माने गए हैं।

चक्षुरिन्द्रियविषयकसामान्यावबोधरूपत्वं चक्षुदर्शनस्य लक्षणम् - चक्षु इन्द्रिय के विषय का जो सामान्य बोध रूप जो निराकार-निर्विकल्प ज्ञान होता है- उसे चक्षुदर्शन कहते हैं।

चक्षुर्वर्ज्यापरिन्द्रिय-मनोविषयकसामान्यावबोधरूपत्वमचक्षु-दर्शनस्य लक्षणम् - चक्षु इतर अन्य चार इन्द्रियां और मन से होने वाले दर्शन को

अचक्षुदर्शन गिना है। वास्तव में अचक्षुदर्शन अर्थात् चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियां और मन से जो निराकार उपयोग प्रवर्तता है उसे अचक्षुदर्शन कहा है।

अवधिदर्शनावरणक्षयोपशमादिवशाद् विशेषग्रहणवैमुख्येनरूपि-द्रव्यविषयकसामान्यबोधरूपत्वमवधिदर्शनस्य लक्षणम्। नीयत क्षेत्रावधि परिमित लोक के रूपी पुद्गल पदार्थों को देखना अर्थात् इनका सामान्य रूप से निराकार बोध यह अवधिदर्शन का कार्य है। इसी के बाद में साकारोपयोग विशेष बोध अवधिज्ञान रूप होता है।

मनःपर्यव को ज्ञान बताया है, परंतु मनःपर्यव का अलग से स्वतंत्र दर्शन नहीं बताया है। कारण बताते हुए कहा है कि मनःपर्यवज्ञानी तथाविध क्षयोपशम की विशालता के कारण पहले व बाद में भी मन के भाव विशेष रूप से ही ग्रहण करते हैं - जानते हैं। वहां सामान्य रूप निराकार बोध नहीं होता है, परंतु पहले व बाद दोनों ही अवस्था में साकार-विशेष स्पष्ट बोध होता है। अतः मनः पर्यवज्ञान का दर्शन न होते हुए सीधे ही ज्ञान ही होता है। सर्वज्ञ प्रभु ने आगम में चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल ये चार प्रकार के दर्शन बताए हैं। मनः पर्यव को स्वतंत्र रूप से दर्शन नहीं बताया है।

दर्शनावरणीय कर्म की उपमा :-

पड-पडिहार-सि-मज्ज, हडचित्त-कुलाल-भंड़गारीणं ।
जह एएसिं भावा, कम्माण वि जाण तह भावा ।।३९।।

(नवतत्त्व प्रकरण)

नवतत्त्व की प्रस्तुत ३९ वीं गाथा में आठों ही कर्मों को विविध प्रकार की उपमांए देकर समझाया गया है। जैसे हम किसी बात को दृष्टांत तथा उदाहरण से समझते हैं, उसी तरह किस कर्म का कार्य कैसा है, यह उपमाओं के आठ दृष्टांत से समझाया गया है। गाथा में दर्शनावरणीय कर्म की उपमा के लिए 'पडिहार' शब्द सूचित किया गया है। 'पडिहार' यह प्राकृत शब्द है जिसे संस्कृत में प्रतिहारी कहते हैं। प्रतिहार अर्थात् द्वारपाल। प्रथम कर्मग्रंथ की ९ वीं गाथा में 'वित्ति समं दंसणावरण' यह अंतिम चरण दर्शनावरणीय कर्म के स्वभाव को समझाने के लिए पूज्य देवेन्द्रसूरि महाराज ने रखा है। यहां प्रयुक्त शब्द 'वित्ति' अर्थात् द्वारपाल। अंग्रजी में जिसे 'WATCHMAN' कहते हैं। **'जह एएसिं भावा, कम्माण वि जाण तह भावा।'** अर्थात् जैसा इन उपमाओं का भाव है वैसा आठ कर्मों का भाव अर्थात् स्वभाव है।

जैसे एक राजमहल के बाहर द्वारपाल 'वित्ति' 'प्रतिहारी' खड़ा है।

द्वारपाल का कार्य है किसी भी व्यक्ति को राजमहल में जाने से रोकना।

राजा से मिलने के लिए कोई आया हो वह राजा के दर्शन करना चाहता हो, उसकी काफी इच्छा हो, फिर भी द्वार पर ही द्वारपाल के रोकने के कारण वह राजा के दर्शन नहीं कर पाता है अर्थात् नहीं मिल पाता है। ठीक उसी तरह दर्शनावरणीय कर्म 'दर्शन' को रोकने का काम करता है। द्वारपाल के जैसे स्वभाववाला यह दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के गुण रूपी महल के सामने खड़ा है, जो आत्मा को जगत के अनंत पदार्थों को देखने नहीं देता है। देखने की शक्ति को दबा देता है, कुंठित कर देता है या आत्मा को निद्राग्रस्त करके नींद में सुला देता है, जिससे आत्मा कुछ भी देख न पाए। जैसे राजा द्वारपाल के आधीन हो जाता है, वैसे दर्शनावरणीयकर्म के कारण आत्मा इन्द्रियों के आधीन हो जाती है। निद्रा के आधीन कर देता है। निद्रा में पड़ी हुई आत्मा निश्चेष्ट हो जाती है अर्थात् किसी भी इन्द्रिय से किसी भी विषय को ग्रहण नहीं कर पाती है। भान भूलकर निद्रा में पड़ी रहती है। यह दर्शनावरणीय कर्म का कार्य है।

इन्द्रियाँ :-

इन्द्रियां जड़ हैं और आत्मा चेतन है। इन्द्रियों की तरह मन भी जड़ है। ज्ञाता-दृष्टाभाववान् आत्मा अपने ज्ञान-दर्शनादि गुणों से स्वयं जो भी कुछ जान सकती थी और देख सकती थी उसकी सारी क्रिया कर्म के उदय के कारण बंद हो गई। कर्म ने आत्मा की शक्तियों और गुणों को आच्छादित कर दिया है। कर्म योग से बने हुए तथाप्रकार के शरीर, इन्द्रियाँ और मन के बीच में बैठी हुई आत्मा को अब उन्हीं के माध्यम से क्रिया करनी पड़ती है। अतः कर्मग्रस्त आज हमारी आत्मा इन्द्रियों के माध्यम से देखती है तथा जानती है। मन के माध्यम से सोचती है, विचार करती है और शरीर के माध्यम से विविध प्रवृत्ति करती है।

तथाप्रकार के कर्मों के कारण सभी जीवों को कम-ज्यादा प्रमाण में इन्द्रियां मिलती हैं। अपने जन्म स्थान में जाकर जीव पर्याप्त अपर्याप्त नामक नाम कर्म से ६ पर्याप्तिओं में से न्यूनाधिक पर्याप्तियाँ पूरी करता है। इस प्रक्रिया में आहार से शरीर और शरीर में इन्द्रियाँ बनाने का काम आत्मा करती है। गति नाम कर्म के आधार पर आत्मा देव, मनुष्य, नरक तथा तिर्यंच गति में जाती है और उन गतियों में जाति नाम कर्म के आधार पर एक से पांच तक कम-ज्यादा इन्द्रियाँ बनती है। तिर्यंच गति में जीव एक इन्द्रिय से लेकर ५ तक इन्द्रियाँ बनाता है। चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के उदय से एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवों को इन्द्रियाँ न्यून-कम मिलती है। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय जीवों को मूल से ही चक्षु नहीं होती है। अतः चक्षुदर्शनावरणीय कर्म उनका पूरा ही उदय में रहता है तथा अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म

में एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय जीवों को कम-ज्यादा इन्द्रियाँ मिलती हैं और कर्णेन्द्रिय नहीं मिलती है। विकलेन्द्रिय में चउरेन्द्रिय जीवों को चक्षु मिलती है, परंतु श्रवणेन्द्रिय (कान) नहीं मिलती है। अतः चक्षुदर्शनावरणीय और अचक्षु दर्शनावरणीय कर्म दोनों ही उदय में रहते हैं।

उसी तरह पर्याप्त पंचेन्द्रिय जीवों में चक्षुदर्शनावरणीयकर्म और अचक्षु दर्शनावरणीय कर्म दोनों ही उदय में रहते हैं। अंगोपांगनामकर्म और इन्द्रियपर्याप्ति नामकर्म के उदय से द्रव्य इन्द्रियाँ बनती है। भावेन्द्रियां मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपक्षम से बनती है, परंतु एकेन्द्रिय आदि का व्यवहार जाति-नाम-कर्म के आधार पर होता है।

इन्द्रियों का सदुपयोग :-

दस प्रकार के प्राणों में कम से कम चार प्राण अनिवार्य है। १. शरीर २. इन्द्रिय ३. श्वासोश्वास और ४. आयुष्य। संसार में कोई भी आत्मा बिना शरीर रहती ही नहीं है और शरीर के बिना इन्द्रियाँ होती ही नहीं हैं। कम से कम एक इन्द्रिय तो अवश्य होती है, और अधिक से अधिक पाँच इन्द्रियाँ और मन। ८४ के चक्कर में परिभ्रमण करती हुई यह आत्मा पंचेन्द्रिय पर्याय में अंत में मनुष्य बनती है। पंचेन्द्रिय पर्याय चारों ही गति में है। आज हम अत्यंत दुर्लभ और कींमती ऐसे मनुष्य जन्म में आए हैं। पाँचों ही इन्द्रियाँ हमें पूर्ण मिली है।

इन्द्रियों का कार्य वर्ण-गंध-रस-स्पर्शादि २३ विषयों को ग्रहण करना है। जन्म से लेकर आज हमारे जीवन के करीब ५०-६० वर्ष बीत चुके हैं। यदि हम विचार करें कि मिली हुई इन पाँचों ही इन्द्रियों का हमने कितना सदुपयोग किया है ? या अधिकांश दुरुपयोग ही किया है? इसका उत्तर तो आत्म निरीक्षण करने से ही मिलेगा। लगता ऐसा है कि अधिकांश लोगों ने इन्द्रियों का और मन का दुरुपयोग ही ज्यादा किया है। यदि हम स्वयं स्व आत्मा को ही प्रश्न करें कि हे जीव ! (१) क्या तूने देखने जैसा ज्यादा देखा है या न देखने जैसा ही ज्यादा देखा है? (२) सुनने जैसा ज्यादा सुना है या न सुनने जैसा ज्यादा सुना है? (३) बोलने जैसा ही ज्यादा बोला है या न बोलने जैसा ज्यादा बोला है? खाने जैसा ही ज्यादा खाया है या न खाने जैसा ज्यादा खाया है? (४) सूंघने जैसा ही ज्यादा सूंघा है या न सूंघने जैसा ज्यादा सूंघा है? (५) मन से सोचने जैसा ही ज्यादा सोचा है या न सोचने जैसा भी ज्यादा सोचा है? प्रत्येक जीव को योग्यायोग्य का विचार तो प्रायः होता ही है।

संज्ञी-समनस्क-विचारशील जीव प्रायः अपनी बुद्धि का उपयोग करता हुआ योग्यायोग्य का विचार करता हुआ ही कार्य करता है, परंतु तीव्र रागादि मोहदशा के कारण स्वार्थवृत्तिवश न करने योग्य कार्य भी कर लेता है। संसार में

अधिकांश जीव न देखने जैसा ही ज्यादा देखते हैं, देखने जैसा तो बहुत कम ही देखते होंगे। वास्तव में यह मिली हुई इन्द्रियों का सदुपयोग नहीं है। उसी तरह सभी इन्द्रियां और मन से किया गया विपरीत व्यवहार सदुपयोग नहीं, परंतु दुरुपयोग ही कहलाएगा। सदुपयोग तो उसे कहते हैं, जिसमें इन्द्रियों के देखने-सुनने आदि व्यवहार के पश्चात भी आत्मा को कर्मबंध न हो और कर्म की निर्जरा हो। शुभाश्रव-पुण्य, संवर, निर्जरा हो, वहां तक इन्द्रियों का व्यवहार अच्छा कहलाएगा, परंतु प्रायः ऐसा देखा जाता है कि अधिकांश जीव पुण्याश्रव-संवर-निर्जरा के बजाय अशुभाश्रव-पाप एवं कर्मबंध की प्रवृत्तियों में ज्यादा रचे पचे रहते हैं। अतः अपना न देखकर पराये का अनाचार-दुराचार आदि को ज्यादा देखते हैं। यह इन्द्रियों का भारी दुरुपयोग है। इन्द्रियाँ और मन से ही सारा व्यवहार चलता है।

इन्द्रियों के दुरुपयोग की सजा :-

सभी इन्द्रियाँ जड़ है और मन भी जड़ है। एक मात्र आत्मा ही चेतन है। यदि आत्मा ने इन्द्रियों के व्यवहार का दुरुपयोग करके कर्म बांधे, पाप किये तो, सजा आत्मा को ही भुगतनी पड़ेगी। इन्द्रियाँ और मन जड़ होने से कोई क्रिया नहीं करते हैं। क्रिया करनेवाला कर्ता तो मात्र आत्मा ही है। अतः इन्द्रियों को और मन को कोई कर्मबंध नहीं होता है; परंतु इन्द्रियों और मन से कर्मबंध होता है। अतः कर्म की सजा, पाप की सजा इन्द्रियाँ नहीं भुगतती है आत्मा ही भुगतती है। 'कर्म के घर में इन्द्रियों के दुरुपयोग रूप पाप की सजा बड़ी भारी, विचित्र है' जिस इन्द्रिय का जीव ने बड़ा भारी दुरुपयोग किया हो, वह इन्द्रिय उस जीव को अगले जन्म में नहीं भी मिलती है। जिस मन का दुरुपयोग करके जीव ने बहुत ज्यादा बुरा सोचा हो उसे जन्मांतर में बिना मन के जन्म करने पड़ते हैं।

उदाहरणार्थ सोचिए कि-किसी ने आँख, चक्षुइन्द्रिय का बहुत ज्यादा दुरुपयोग किया है, अर्थात् जीवनभर न देखने जैसा ही ज्यादा देखा है। इस पाप के कारण जन्मांतर में उस जीव को बिना आँख का जन्म लेना पड़े। बिना आँख का जन्म अर्थात् दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रियवाले कृमि, चींटी, मकोड़े आदि का जन्म धारण करना पड़े। कृमि, चींटी, मकोड़े को आँख, कान नहीं है। अतः वे दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय जीव कहलाते हैं। ऐसे कई जन्म धारण करते हुए काफी लम्बा काल बिताना पड़ता है। कर्म के घर में यह कितनी बड़ी भारी सजा है। ठीक इसी तरह सोचिए कि सोचने विचारने के कार्य में जो मन सहायक है उसका यदि हमने दुरुपयोग किया तो जन्मांतर में बिना मन का जन्म मिलेगा। जैसे ईर्ष्या, द्वेष आदि वृत्ति से यदि हमने दूसरों का अहित ही सोचा या, विषय-कषाय की वृत्ति से हमने सोचने-विचारने में बहुत कुछ गलत ही सोचा तो बड़े भारी पाप कर्मों का बंध होगा।

फलस्वरूप जीव को जन्मांतर बिना मन के जन्म धारण करने पड़ेंगे। बिना मन के भव को असंज्ञी भव कहते हैं। जैसे एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरेन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय के समुच्छिम में जन्म मिलता है। चींटी, मकोड़ो को या कीट-पतंगों को मन नहीं मिलता है। अब वहां सोचना-विचारना मन से नहीं होता है। ऐसे कई जन्म बहुत लम्बे काल तक करने पड़ते हैं। कर्म के घर में यह कितनी बड़ी भारी सजा है। इन्द्रियां और मन जो कि जड़ हैं वे स्वयं देखने, सुनने, सोचने आदि की क्रिया में मनमानी नहीं करते हैं। वे तो मुख्य कर्ता आत्मा के आधीन हैं। आत्मा जैसा चाहे वैसा उनका उपयोग कर सकती है। जैसे तलवार का क्या उपयोग करना यह कर्ता को सोचना है। यदि सदुपयोग करेगा तो स्व की रक्षा होगी और दुरुपयोग करेगा तो आत्महत्या भी हो सकती है। उसी तरह इन्द्रियाँ और मन भी जड़ है। उनका कैसा उपयोग करना (सदुपयोग या दुरुपयोग) यह निर्णय आत्मा को ही करना होगा। इस सम्बन्ध में उमास्वाति महाराज प्रशमरति ग्रंथ में कहते हैं कि -

स्वगुणाभासरतमते, परवृतांतांधमुक बधिरस्य।
मदमदनमोहमत्सर, रोषविशादैरधृशस्य ।।

अपने गुण के अभ्यास में रत आत्मा को पर वृत्तांत अर्थात् पराये निमित्तों को देखने, सुनने, बोलने आदि में अंध, मूक और बधिर बनना ही लाभदायक है अर्थात् पर प्रपंच के, पराये दोष-दुर्गुण देखने में हम अंध की तरह रहें, पराये दोष-दुर्गुण सुनने में हम बधिर-बहरे रहें, तथा पराये-दोष-दुर्गुण एवं निन्दा की बातें बोलने में हम मूक-मूंगे बनकर रहें यही हितावह है। इस तरह मिली हुई इन्द्रियों का सही सदुपयोग करें, यही अच्छा हैं।

चक्षु की दर्शन शक्ति का सदुपयोग :-

आत्मा के दर्शन गुण को क्रिया रूप में परिणत करके परमात्मदर्शन से दर्शनगुण विशुद्ध एवं विकसित करें। अतः परमात्मदर्शन आध्यात्मिक साधना की एक अद्‌भूत प्रक्रिया है। दर्शनीय परमात्मा है और दर्शन कर्ता पामरात्मा है। आत्मा के साथ परम और पामर विशेषण जोड़ने से परमात्मा और पामरात्मा शब्द बनते हैं। परम+आत्मा= परमात्मा पामर+आत्मा = पामरात्मा । आत्म स्वरूप से दोनों ही आत्माएं समान है, परंतु दो के बीच जो अंतर है वह विशेषण ने समझाया है। परम उसे कहेंगे जो सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपरी, सर्वोतम है। ऐसी सर्व कर्म रहित, सर्व गुण सम्पन्न-सर्वज्ञ-वीतरागी आत्मा परमात्मा कहलाती है। ठीक इससे विपरीत कर्म संयुक्त एवं गुण रहित आत्मा पामरात्मा कहलाती है। परमात्मा-पामरात्मा के लिए एक उच्च आदर्श है। अतः पामरात्मा को परमात्मा का ही आलंबन लेना चाहिये। जैसे समुद्र में पार उतरने के लिये हम लकड़ी की नौंका का सहारा लेते हैं, ठीक वैसे ही पामरात्मा

को संसार समुद्र से पार उतरकर परमधाम-मोक्ष में पहुँचने के लिए परमात्मा का सहारा आलंबनरूप है। परमात्मा पूजनीय-दर्शनीय-वंदनीय-चिंतनीय है। अतः परमात्मा को उनका पूजक-दर्शन-वंदक-चिंतक बनना चाहिए। परमात्मा भगवान है और पामरात्मा भक्त है। भक्त को भगवान की भक्ति करनी चाहिए। भक्ति की प्रक्रिया में प्रभुदर्शन प्राथमिक क्रिया है। तत्पश्चात् आगे पूजा, भावना, ध्यानादि है।

चक्षु इन्द्रिय के अभाव में एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय की कक्षा में कृमि-कीट-पतंग के अनेक जन्मों में आत्मा परमात्मा का दर्शन नहीं पा सकी। चक्षु इन्द्रिय की प्राप्ति के कई जन्म नरक एवं तिर्यंच गति में हुए, परंतु वहां भी प्रभुदर्शन दुर्लभ रहा। ८४ लक्ष जीव-योनियों में मनुष्य गति एवं स्वर्गीय देवगति में परमात्म दर्शन, पूजा, भक्ति आदि सुलभ रही। मनुष्य जन्म में मिली हुई चक्षु आदि सभी इन्द्रियों का प्रभुदर्शन, पूजा, भक्ति आदि में सदुपयोग करके इन्द्रियों की सार्थकता सिद्ध करनी चाहिए। ऐसी अभिव्यक्ति एक श्लोक में इस प्रकार की गई है -

अद्य प्रक्षालितं गात्रं नेत्रे च विमलीकृते ।
मुक्तोऽहं सर्वपापेभ्यो, जिनेन्द्र ! तव दर्शनात् ।।

एक दर्शन आत्मा प्रभुदर्शन करके अपनी धन्यता को इस श्लोक के शब्दों में प्रकट कर रही है। हे जिनेश्वर भगवान ! आपके दर्शन करने से मैं ऐसा कहता हूं कि आज मेरा शरीर पवित्र हो गया है, मुझे मिली हुई आँखें विमल (निर्मल) हो गई है, मैं सर्व पापों से मुक्त हो गया हूँ।

अद्याभवत् सफलता नयनद्वयस्य, देव ! त्वदीय चरणाम्बुजवीक्षणेन ।
अद्य त्रिलोकतिलकं प्रतिभासते मे, संसारवारिधिरयं चुलूकप्रमाणम् ।।

जीवन में प्रथम बार ही प्रभु के दर्शन पाकर भक्त अपनी भावना के उद्‌गार इस श्लोक के शब्दों में अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि - हे जिनेश्वर ! वीतरागी अरिहंत देव! आपके चरण कमल का दर्शन करके आज मैं मुझे मिली हुई दोनों आंखों की सफलता का अनुभव करता हूँ। आपके दर्शन से तीन लोक रूप संसार महासागर आज मुझे मात्र चुलूक(चुलू) रूप प्रतिभासित होता है। प्रथम दर्शन मात्र से ही भक्त ने कितनी उत्कृष्ट भावना प्रकाशित की है कि प्रभुदर्शन से वह अब इतने लम्बे चौड़े संसार-सागर को भी मात्र एक चुलू प्रमाण मानने लगा है। जैसे नौका मिलने के बाद समुद्र का भय नहीं रहता है, वैसे ही प्रभु दर्शन की प्राप्ति से संसार में डूबने का भय नहीं रहता है। भक्त आज अपनी आँखों की धन्यता प्रकट करता है, अर्थात् इन आँखो ने आज दिन तक संसार में देखने जैसा ही देखा, परंतु न देखने जैसा कुछ भी नहीं देखा है। इसलिए आज प्रभुदर्शन से अपने को धन्य मानता है। इसी भाव को पूज्य यशोविजयजी महाराज ऋषभजिन के स्तवन में निम्न रूप से प्रकट

करते हुए लिखते हैं कि –

ऋषभ जिनराज मुज आज दिन अती भलो। गुण नीलो जेणे तुज नयण दीठो।
दुःख टल्या सुख मल्या स्वामी तुझ निरखता; सुकृत संचय हुओ पाप नीठो।

– हे ऋषभ जिनराज ! मेरा आज का दिन अत्यंत अच्छा है जिससे कि तेरे अनुपम गुणों को आज मैं दृष्टि से देख पाया हूँ। हे स्वामी ! आपको देखने से–आपके दर्शन करने से मेरे दुःख दूर हो गए हैं और सुख प्राप्त हुआ है तथा सुकृत का संचय हुआ है और पाप दूर भाग गए हैं।

धन्य ते काय जेणे पाय तुज प्रणमीया; तुज थूणे धन्य तेह धन्य जीव्हा।
धन्य ते हृदय जेणे सदा तुज समरतां; धन्य ते रात ने धन्य ते दीहा ।।

उनकी काया (शरीर) धन्य है जिन्होंने आपके चरणों में प्रणाम किया है, आपकी स्तुति–स्तवना करने वाले भी धन्य है और उनकी जीभ भी धन्य हो गई है, वे हृदय भी धन्य है जिन्होने आपका सदा स्मरण किया है, तथा वे दिन भी धन्य है और वे रात भी धन्य है जब जीवों ने आपको भजा है।

दर्शन महिमा एवं स्वरूप :–

वास्तव में शास्त्रों में दर्शन की महिमा अनुपम रूप से गाई गई है ।

दर्शनं देव देवस्य, दर्शनं पापनाशनं ।
दर्शनं स्वर्ग सोपानं, दर्शनं मोक्ष साधनं ।।

देवताओं के भी देव–देवाधिदेव का दर्शन पाप का नाश करता है, स्वर्ग प्राप्ति के लिए सोपानरूप है और दर्शन मोक्ष प्राप्ति का परम साधन है।

दर्शनात् दुरितध्वंसी, वंदनात् वांछितप्रदः ।
पूजनात् पुरकः श्रीणां, जिनः साक्षात् सुरद्रुमः ।।

प्रभु के दर्शन मात्र से दुरित अर्थात् विघ्नों का नाश होता है, वंदन मात्र से ही वांछित प्राप्त होता है तथा पूजन मात्र से पूज्यता प्राप्त होती है। अतः जिनेश्वर भगवान मानो साक्षात् कल्पवृक्ष समान है। जिनेश्वर के दर्शन आदि का फल बताते हुए कहते हैं कि –

दर्शनेन जिनेन्द्राणां, साधूनां वंदनेन च ।
न तिष्ठति चिरं पापं, छिद्रहस्ते यथोदकम ।

जिनेश्वर भगवान के दर्शन से एवं साधु–महाराजाओं के वंदन से चिरकाल का लम्बा पाप खड़ा ही नहीं रहता है। जैसे छिद्र वाली अंजली में पानी नहीं ठहरता है, वैसे ही चिरकाल का पाप प्रभु दर्शन के बाद नहीं रहता है। प्रभु दर्शन के लिए उपमा देते हुए कहते हैं कि –

प्रभु दर्शन सुख सम्पदा, प्रभु दर्शन नवनिद्ध ।
प्रभु दर्शन थी पामीये, सकल पदारथ सिद्ध ।।

प्रभु के दर्शन सुख की सम्पदा रूप है, प्रभु दर्शन ही नवनिधान है, प्रभु के दर्शन से ही सर्व पदार्थों की सिद्धि प्राप्त होती है। ऐसा दर्शनार्थी का भाव है।

स्वामी दरिशण समो निमित्त लही निरमलो, जो उपादान शुचि न थाशे;
दोष को वस्तुनो अहवा उद्यम तणो, स्वामी सेवा सही निकट लाशे।।

पूज्य देवचन्द्रजी महाराज भगवान महावीरस्वामी के स्तवन में कहते हैं कि - स्वामी-भगवान के दर्शन के समान उत्कृष्ट निर्मल निमित्त पाकर के भी यदि हमारा उपादान पवित्र न बन सके तो उसमें किसका दोष मानना चाहिए? दोष वस्तु का होगा या अपने उद्यम-पुरुषार्थ का होगा? क्योंकि 'स्वामी सेवा' - प्रभु पूजा-भक्ति तो प्रभु के निकट लाने वाली है। इस गाथा के प्रथम चरण में प्रभु दर्शन की और अंतिम चरण में प्रभु सेवा-पूजा की बात की है। दर्शन-पूजा को उन्होंने भक्त को भगवान के निकट लाने वाली बताई है, तथा प्रभुदर्शनादि से हमारे उपादान की निर्मलता होती है ऐसा बताया है।

प्रभुदर्शन में स्व-आत्मदर्शन :-

जिनेश्वर प्रभु का मंदिर एक राज दरबार है, जहां प्रभु न्याय कर्ता राजा के स्वरूप में बैठे हैं। प्रभु का मंदिर एक पाठशाला है, जिसमें प्रभु एक शिक्षक के रूप में बिराजमान हैं और हमारे जैसे भक्त प्रतिदिन इस पाठशाला में एक विद्यार्थी के रूप में शिक्षा लेने आते हैं। प्रभु मूक शिक्षक के रूप में है। हम चाहें तो उनके दर्शन करने के रूप में बहुत अच्छी शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। यदि हमें करना आए तो? शिक्षक के रूप में प्रभु को बोलने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। जिनका समस्त जीवन ही शिक्षा स्वरूप है, उपदेश स्वरूप ही है- उन्हें शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं है। हमें शिक्षा लेने की आवश्यकता है। प्रभु प्रतिमा की प्रशांत मुद्रा हमें शांत होने की शिक्षा देती है। प्रभु प्रतिमा का वीतराग स्वरूप कैसा है? यह निम्न श्लोक में बताया है-

प्रशमरसनिमग्नं, दृष्टियुग्मं प्रसन्नम्, वदनकमलमंक, कामिनीसंगशून्यः ।
करयुगमपिधत्ते, शस्त्रसंबंधवंध्यम्, तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव ।।

प्रशांतरस में मग्न तथा दोनों ही नेत्र जिनके प्रसन्नचित्त है, जिनकी देह कमल रूपी गोद स्त्री संग से शून्य-रहित है, तथा दोनों ही हाथों में किसी भी प्रकार के शस्त्र भी नहीं है, इस तरह स्त्री के अभाव में राग और काम रहित, तथा शस्त्रादि के अभाव में द्वेष रहित प्रभु का स्वरूप है। ऐसा राग-द्वेष रहित वीतराग स्वरूप जो कि प्रशांतरस भरपूर है, ऐसा प्रभु का एवं प्रभु की प्रतिमा का वीतरागभाव का स्वरूप

दर्शनीय है। इसलिए कहा कि – **'तदसि जगति देवो, वीतरागस्त्वमेव'** - जगत में एक मात्र आप ही वीतराग देव हैं।

वीतराग की स्तुति हम किसी नाम से कर सकते हैं, क्योंकि वहां नाम का महत्व नहीं है, वीतरागता के गुण का महत्व है। इस भाव को एक श्लोक में इस प्रकार दर्शाया है–

भवबीजांकुरजनना रागादयो क्षयमुपागता यस्य ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ।।

भवबीज रूपी कर्म के अंकुर जो राग–द्वेष हैं वे जिनके सर्वथा क्षय हो चुके हैं ऐसे नाम स्वरूप से चाहे वे ब्रह्मा हो या विष्णु हो या हर हर महादेव हों या जिन–जिनेश्वर भगवान हों उन्हें मेरा नमस्कार हो। यहां प्रस्तुत श्लोक में नमस्कार 'नाम' को नहीं, परंतु वीतरागता के गुण को किया है। यही बात नमस्कार महामंत्र में 'नमो अरिहंताणं' 'नमो सिद्धाणं' मंत्र पदों से अनंत अरिहंत भगवंतों को एवं अनंत सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार किया है। 'अरिहंत' यह नाम नहीं है, परंतु गुणवाचक पद है। अरिहंत नाम से कोई भगवान नहीं हुए हैं, परंतु भगवान अरिहंत गुणवान होते हैं।

अरि + हंत = अरिहंत। 'अरि' अर्थात् आत्मा के काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग तथा द्वेषादि आंतर शत्रु। 'हंत' अर्थात् उसका नाश जिसने किया है ऐसे भगवान अरिहंत कहलाते हैं। इस तरह जैन धर्म में नाम को नहीं, परंतु गुण को महत्त्व दिया है, जैन धर्म व्यक्तिपरक नहीं अपितु गुणपरक है।

स्वामी गुण ओळखी स्वामी ने जे भजे, दरिशण शुद्धता तेह पामे।
ज्ञान चारित्र तप वीर्य उल्लास थी, कर्म जीती वसे मुक्ति धामे ।।...

देवचंद्रजी महाराज ने स्तवन में कहा है कि प्रभु के गुणों को देखते हुए प्रभु के दर्शन करने वाले श्रेष्ठ दर्शक हैं। प्रभु के गुणों को देखते हुए जो भक्ति–स्तुति–स्तवना करता है, वही दर्शन की विशुद्धि को प्राप्त करता है, अर्थात् शुद्ध दर्शन करता है, तथा ज्ञान, चारित्र, तप वीर्य उल्लास से कर्मों को जीतकर मुक्तिधाम–मोक्ष को प्राप्त करता है। इस तरह शुद्ध दर्शन को उन्होंने मोक्ष प्राप्ति का कारण बताया है।

प्रभु दर्शन की क्रिया :–

घर संसार में मनुष्य प्रतिदिन दर्पण में मुंह देखता है। यह हर व्यक्ति के जीवन की प्रतिदिन की दैनिक क्रिया बन चुकी है। प्रश्न यह उठता है कि–दर्पण तो जड़ और मनुष्य चेतन है। चेतन जड़ के सामने क्या और क्यों देखने जाता है ? उत्तर स्पष्ट ही है कि वह दर्पण में अपनी क्षति–कमी देखता है। मेरे बाल सही हैं या नहीं ? मेरे कपड़े व्यवस्थित है या नहीं ? काजल सही लगी है या नहीं ? बिंदी सही लगी है

या नहीं ? इत्यादि अपनी क्षति देखकर वह उन्हें सुधार लेता है। इस तरह दर्पण का उपयोग मनुष्य के जीवन में एक विशेष महत्त्व रखता है। ठीक वैसे ही धार्मिक जीवन में प्रभु दर्शन का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान हैं। 'शब्द चिन्तामणि' नामक कोष में दर्शन शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थ करते हुए दर्पण अर्थ भी किया है और देखना, दृष्टि आदि अर्थ भी है। दर्शन की प्रक्रिया में प्रभु की प्रतिमा को यदि हम दर्पण मानें तो इस प्रतिमारूपी दर्पण में हम अपना प्रतिबिम्ब देख सकते हैं। यह तो उपमा रूपक से बात हो रही है। काँच के दर्पण में बाह्य रूप-रंग दिखायी देता है, परंतु यहां जिन प्रतिमारूपी दर्पण में आत्मा का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। दर्पण में बाह्य क्षति की तरह जिन प्रतिमा में हम आत्मिक दोष-दुर्गुण रूप क्षतिओं को देख सकते हैं। परमात्मा में स्व आत्मदर्शन करने की यह एक अद्‌भुत प्रक्रिया है।

परमात्मा सर्वगुण सम्पन्न एवं सर्व दोष-दुर्गुण रहित पूर्ण-सम्पूर्ण सर्वज्ञ-सर्वदर्शी एवं वितरागी है। उसमें किसी भी प्रकार की कमी या क्षति की सम्भावना ही नहीं है, जबकि हमारी आत्मा किसी भी गुण से पूर्ण सम्पूर्ण नहीं है। हम अपूर्ण-अल्पज्ञ-रागी-द्वेषी आदि सर्व दोष-दुर्गुण से भरपूर हैं। इसी बात को उदयरत्नजी महाराज ने पामरात्मा और परमात्मा की तुलना करते हुए शांतिनाथ भगवान के स्तवन में इस तरह कहा है कि -

सुणो शांति जिणंद सोभागी हुं तो थयो छुं तुज गुणरागी;
तुमे निरागी भगवंत, जोतां केम मलशे तंत ।।सु.।।१।।
हुं तो क्रोध कषाय नो भरियो, तुं तो उपशम रसनो दरीयो;
हुं तो अज्ञाने आवरीयो, तुं तो केवल कमला वरीयो ।।सु.।।२।।
हुं तो विषया रसनो आशी, तें तो विषया कीधी निराशी;
हुं तो कर्मना भारे भर्यो, तें तो प्रभु भार उतार्यो ।।सु.।।३।।
हुं तो मोह तणे वश पडीयो, तुं तो सघला मोहने नडीयो;
हुं तो भव समुद्र मां खुंतो, तुं तो शिव मंदिर मां पहोतो ।।सु.।।४।।
मारे जन्म मरण नो जोरो, तें तो तोड्यो तेहनो दोरो।
मारो पासो न मेले राग, प्रभुजी थयां वीतराग ।।सु.।।५।।
मने मायाए मुक्यो पाशी, तुं तो निरबंधन अविनाशी।
हुं तो समकित थी अधुरो, तुं तो सकल पदारथे पूरो ।।सु.।।६।।
म्हारे छो तुंहि प्रभु एक, त्हारे मुज सरीखा अनेक।
हुं तो मन थी न मुकुं मान, तुं तो मान रहित भगवान ।।सु.।।७।।
मारुं कीधुं ते कशुं न थाय, तुं तो रंक ने करे राय;

एक करो मुज महेरबानी, म्हारो मुजरो लेजो मानी ।।सु.।।८।।
एक वार जो नजरे निरखो, तो करो मुजने तुज सरीखो ।
जो सेवक तुम सरीखो थाशे, तो गुण तमारा गाशे ।।सु.।।९।।
भवो भव तुम चरणोनी सेवा, हुं तो मागुं छुं देवाधिदेवा;
सामुं जुओ ने सेवक जाणी, एवी उदयरत्ननी वाणी ।।सु.।।१०।।

इस तरह उदयरत्नजी महाराज ने मैं कैसा हूँ? और भगवान कैसे हैं? मेरे में क्या है? और भगवान में क्या है? प्रभु में कैसे गुण कितने प्रमाण में हैं और ठीक विपरीत मेरे में कैसे दोष-दुर्गुण कितने प्रमाण में हैं? इस प्रकार की तुलना का चित्र खड़ा किया है। सही बात है कि अपूर्ण अपनी तुलना अपूर्ण से करके अपनी पूर्णता को नहीं देख पाता है। इसलिए अपूर्ण को चाहिए कि वह अपनी तुलना पूर्ण के साथ ही करे। पूज्य उपाध्याय जी यशोविजयजी महाराज ने ज्ञानसार अष्टक में 'पूर्णता' नामक अष्टक में पूर्णानन्दी, परमात्मा के स्वरूप का जो अद्‌भूत वर्णन किया है, उसे पढ़कर पूर्ण की पूर्णता का पूर्ण-सम्पूर्ण स्वरूप जानकर हम अपनी अपूर्णता का विचार करें। तभी पूर्ण की पूर्णता और अपूर्ण (अपनी) की अपूर्णता को देख सकेगा। पूर्ण में पूर्ण की पूर्णता, अपूर्ण में अपूर्णता का ज्ञान यह दर्शन कर रहा है। अतः प्रभुदर्शन की प्रक्रिया में स्व-आत्म दर्शन करना और स्वात्मदर्शन करके स्व आत्मा की क्षतियां दूर करने की कोशिष करना यह दर्शन की फलश्रुति है। ऐसे दर्शन का अनुपम एवं अद्‌भूत वर्णन अवधूत योगी पूज्य आनंदघनजी महाराज ने अपनी चौबीसी में किया है, विशेष रूप से अभिनंदनस्वामी के स्तवन में किया है। उनकी शब्द रचना इस प्रकार हैं -

अभिनन्दन जिन! दरिसण तरसीए, दरिसण दुर्लभ देव ।
मत मत भेदे रे जो जइ पूछीए, सहु थापे अहमेव ।।
अभिनन्दन जिन ! दरिसण तरसीए ।।१।।
सामान्ये करी दरिसण दोहिलुं, निर्णय सकल विशेष ।
मद में घेर्यो रे अंधो किम करे, रवि-शशि-रूप विलेख ।।२।।
हेतु विवादे हो चित्त धरी जोइए, अति दुर्गम नयवाद ।
आगमवादे हो गुरुगम को नहीं, ए सबलो विषवाद ।।३।।
घाती डूंगर आडा अति घणां, तुज दरिसण जगनाथ ।
धीठाई करी मारग संचरूं, सेंगु कोइ न साथ ।।४।।
दरिसण दरिसण रटतो जो फिरूं, तो रण रोझ समान ।
जेहने पिपासा हो अमृतपाननी, किम भांजे विषपान ।।५।।

तरस न आवे हो मरणजीवन तणी, सीजे जो दरिसण काज ।
दरिसण दुर्लभ सुलभ कृपा थकी, 'आनंदघन' महाराज ।।६।।

संक्षिप्त सारांश यह है कि - आनंदघन जैसे योगी दर्शन के लिए तड़प रहे हैं। उनकी चाहना चातक की स्वाति नक्षत्र की बूंद की चाहना जैसी है। प्रभुदर्शन से सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की दिशा में वे रण के रोझ की तरह दौड़ रहे हैं। अमृतपान की इच्छा वाले को विषपान से संतोष कैसे हो सकता है? 'दर्शन' को अमृतपान मानते हुए आनंदघन योगी दुर्लभ दर्शन को सुलभ करने के लिए प्रभु कृपा की चाहना रखते हैं। इसलिए वे कहते हैं कि **'दरिसण दुर्लभ सुलभ कृपा थकी आनंदघन महाराज।'** प्रभु की कृपा से दुर्लभ भी सुलभ हो जाते हैं। इस तरह अभिनंदन स्वामी के स्तवन में आनंदघनजी की दर्शन विषयक अभिव्यक्ति वास्तव में चिंतनीय एवं मननीय है।

निजानंद अनुभवी पूज्य देवचन्द्रजी महाराज भी आनंदघनजी की तरह पद्मप्रभु स्वामी के स्तवन में - **'तुज दरिसण मुज वालहुं रे लाल, दरिसण शुद्ध पवित्त रे'** इन शब्दों का प्रयोग करके भावों की अभिव्यक्ति में कहते हैं कि - हे प्रभु ! तेरा दर्शन मुझे प्यारा है। यह दर्शन शुद्ध एवं पवित्र है। यही दर्शन तेरे-मेरे बीच सेतु है। आत्म-सिद्धि के लिए यही शुद्ध नियामक हेतु है। हे प्रभु ! तेरा नाम भी मेरे लिए इस भवसागर में सेतु है। जिन दर्शन के माध्यम से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लक्ष्य को लेकर पूज्य देवचन्द्रजी महाराज के प्रस्तुत पद्मप्रभु के स्तवन में दर्शन की सभी नयों से व्याख्या की गई है। **'प्रमाणनयैरधिगमः'** प्रमाणनय तत्त्वालोक ग्रंथ में तार्किक शिरोमणि पूज्य वादिदेवसूरि महाराज ने प्रमाण और नयों से ज्ञान होता है, ऐसा कहा है। सही अर्थ में इन महापुरुषों ने 'दर्शन' की दार्शनिक धरातल पर अद्भुत उपयोगिता सिद्ध की है।

कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य म. ने प्रभुदर्शन को माध्यम बनाकर अन्ययोग व्यवद्छेद द्वात्रिंशिका एवं अयोग व्यवद्छेद द्वात्रिंशिका नामक अद्भुत दार्शनिक ग्रंथ लिखे हैं। सिर्फ ३२ श्लोकों में प्रभु स्तवन के माध्यम से कितने सहजभाव से गंभीर दार्शनिक चर्चा का महासागर खड़ा कर दिया है। यही उनकी गरिमा एवं विशेषता है। ठीक उसी तरह सत्रहवीं शताब्दी के महान् दार्शनिक सरस्वती पुत्र तुल्य महा महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने 'महावीर स्तव प्रकरण' ग्रंथ लिखा है। नामकरण की शब्द रचना को देखते हुए ऐसा लगता है कि कितने सरल एवं आसान शब्द हैं? परंतु प्रभुदर्शन एवं स्तवना के माध्यम से उपाध्यायजी ने दार्शनिक जगत की खंडन-मंडनात्मक विवेचना करते हुए सभी दर्शनों की खबर ले ली है। इतनी सहज और स्वाभाविक भावभंगिमा से एक तरफ प्रभु के गुणगान की स्तवना

और दूसरी तरफ दार्शनिक चर्चा की सर्वोपरिता एवं चरम सीमा का दर्शन कराया है। यह न्याय खंडनखंडखाद्य नामक अभूतपूर्व एवं अद्‌भुत ग्रंथ है।

दर्शन के चमत्कार :–

(१) मेंढक की दर्शन भावना – राजगृही नगरी के सम्राट श्रेणिक महाराजा एक बार अपनी चतुरंगी सेना एंव परिवारजनों के साथ श्री महावीर प्रभु के दर्शनार्थ जा रहे थे। रास्ते में एक बावड़ी आई। उस बावड़ी में एक मेंढक रहता था। रथयात्रा में जा रहे लोगों के मुंह से निकलती जयघोष की ध्वनियां सुनकर मेंढक की सुषुप्त आत्मा जागृत हो गई। पूर्वजन्म में नंदमणीकार शेठ के भव में की हुई धर्माराधना स्मृतिपटल पर उभर आई। इस प्रक्रिया से पूर्व जन्म का जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। अतः दर्शन की तीव्र भावना से वह मेंढक भी बावड़ी से निकल कर श्रेणिक राजा के जुलुस के साथ चलने लगा। श्रेणिक राजा के घुडस्वार सैनिकों ने दयावश उस मेंढक को ले जाकर बावड़ी में रख दिया, परंतु जिसकी आत्मा प्रबल हुई है उसको कौन रोक सकता है? मेंढक पुनः निकलकर आया और सैनिकों ने उस दया भाव से, कि यह हमारे बीच कहीं मर न जाय ऐसा सोचकर, पुनः बावड़ी में रख दिया। परंतु दर्शन की प्रबल भावना से मेंढक पुनः आया और कूदता हुआ साथ में चलने लगा। इतने में योगानुयोग मेंढक का कूदना और घोड़ेसवार के घोड़े का पैर उस पर पड़ना और देखते ही देखते मेंढक के शरीर के दो टुकडे हो गये, उसके प्राण पंखेरू उड़ गये।

इधर श्रेणिक राजा समवसरण में पहुंचे और मेंढक का जीव दर्शन की प्रबल भावना में मरकर स्वर्ग में देव बना। वहां भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान से अपना पूर्वजन्म् देखकर वह देव, दर्शन की इच्छा को पूर्ण करने के लिए सीधे भगवान महावीर के समवसरण में आया। **'दर्शनं स्वर्ग सोपानम्'** अर्थात् दर्शन स्वर्ग प्राप्ति के लिए सीढ़ी है यह बात सिद्ध होती है।

मयणासुंदरी और श्रीपाल के दर्शन :–

महासती मयणासुंदरी अपने कुष्ठ रोगी पतिदेव उंबरराणा को लेकर गुरुदेव मुनिचन्द्रसूरी के चरणों में प्रवचन श्रवण करने गई। गुरूदेव से शासन प्रभावना के उपाय की विधि जानी। मुनिचन्द्रसूरी आचार्य म. ने पास में ही स्थित आदिनाथ भगवान के दर्शन–पूजन एवं नवपदमय सिद्धचक्र बृहद् यंत्र की भक्ति तथा आयंबिल की ओली की आराधना बताई। प्रातःकाल ही मयणा सुंदरी अपने पति को साथ लेकर जिन चैत्यालय (मंदिर) में प्रभुदर्शन करने गई। अत्यंत उल्लसित भक्ति भाव से महासती मयणासुंदरी ने अद्‌भुत गुण–स्तुति की। देखते ही देखते ऐसा अद्‌भुत

चमत्कार हुआ कि-

कुसुममाल निज कंठ थी रे लो, हाथ तणु फल दीध रे।
प्रभुपसाय सहु देखता रे लो, उंबरे ए बेउ लीध रे।।

प्रभु के कंठ में से पुष्पमाला एवं हस्तकमल से फल दोनों उछलकर उंबरराणा के कंठ एवं हाथ में आ गई। प्रभु की अद्‌भुत गुण-स्तुति और यह चमत्कार वास्तव में महासती मयणासुंदरी के द्वारा किये गये नमस्कार का शुभ परिणाम था।

दूसरा एक प्रसंग इस प्रकार है। रत्नसंचया नगरी के राजा कनककेतु के पुत्री मदनमंजुशा एक बार जिनमंदिर में दर्शन-पूजा करने गई। श्रीऋषभदेव भगवान की अद्‌भुत गुण-स्तुति, प्रभुदर्शन एवं अष्टप्रकारी पूजा करके मंदिर से बाहर निकली। इतने में मंदिर के द्वार बंद हो गये, जो सैंकड़ों उपाय के बावजूद भी एक महीने तक नहीं खुले। योगानुयोग श्रीपालकुमार अपने प्रातः काल के दर्शन-पूजा के नित्य नियमानुसार इस नगर में प्रभु दर्शन करने मंदिर के द्वार पर आये-

कुंवर गंभारों नजरे देखतांजी, बेउ ऊघडीयां बार रे;
देव कुसुम वरषे तिहांजी, हुवो जयजयकारजी ।।

दर्शन की अत्यंत उत्कंठा एवं शुभ भावना के परिणाम स्वरूप मंदिर के द्वार पर आकर खड़े रहते ही, श्रीपालकुंवर की भक्ति भाव भरी दृष्टि द्वार पर पड़ते ही जिनमंदिर के, एक महीने से बंद द्वार एकाएक खुल गए। दर्शन मात्र से ही इतना अद्‌भुत चमत्कार होता है।

शंखेश्वर तीर्थ के द्वार खुले :-

प्रसिद्ध स्तवन-सज्झायकर्ता पूज्य उदयरत्नजी महाराज एक बार विशाल पैदल संघ के साथ शंखेश्वरजी महातीर्थ यात्रा करने पधारे। मंदिर के ठाकुर लोगों ने धन प्राप्ति के लोभ से द्वार बंद कर दिये और बिना पैसा दिये किसी को दर्शन नहीं करने देंगे-ऐसा ठाकुर लोग कह रहे थे। तीर्थयात्रा में दर्शनार्थियों को इस कठिनाई का सामना करना पड़ता था। इस दुर्दशा को देखकर उदयरत्नजी म. संघ के सभी सभ्यों के साथ बंद दरवाजे के सामने बैठ गए। सच्चे मन से एवं भक्ति से बाहर बैठे-बैठे ही प्रभु की गुणस्तुति करने लगे -

पास शंखेश्वरा सार कर सेवका, देव कां एवडी वार लागे ?
कोडी कर जोडी दरबार आगे खड़ा, ठाकुरा चाकुरा मान मागे पास ।।

इस तरह सभी एक धुन में गा रहे थे कि आश्चर्यकारी चमत्कार हुआ। सबके आश्चर्य के बीच मंदिर के द्वार अपने आप खुल गए। सभी ने उत्कृष्ट भाव से

प्रभु के दर्शन किये। इस तरह प्रभुदर्शन से अनेक प्रकार के अद्‌भुत चमत्कार हुए हैं।

मगधाधिपति श्रेणिक राजा, जो कि अपने जीवन में सामायिक व्रत-पच्चक्खाणादि नहीं कर सके, न चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानक पर रह कर नित्य भक्ति-भाव भरी प्रभु पूजा करते हुए, तथा नित्य प्रभुदर्शन से विशुद्धसम्यग्दर्शन प्राप्त किया, तथा आगे बढ़कर तीर्थंकरनामकर्म उपार्जन किया। फलस्वरूप आगामी चौबीशी में प्रथम तीर्थंकर श्री पद्मनाभ स्वामी बनने का यश प्राप्त किया।

ग्यारहवीं शताब्दी के गुजरात की गादी के महाराज कुमारपाल भूपाल ने कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य महाराज ने आर्हत् धर्म प्राप्त किया। इतने बड़े राज्य के राजा होते हुए भी वो प्रतिदिन त्रिकाल प्रभुदर्शन एवं त्रिकाल अष्टप्रकारी प्रभुपूजा आदि अद्‌भुत भक्ति भाव से नियमित करते थे। इस तरह राज्य के राजा होते हुए भी शुद्ध १२ व्रतधारी परम जैन श्रावक बने थे।

भक्ति में तल्लीन :-

रामायण में जिस रावण को एक दुष्ट पात्र के रूप में वर्णित किया गया है, वे व्यक्तिगत रूप से स्वयं खराब नहीं थे, परंतु उनके जीवन की एक घटना खराब थी। रावण जिनेश्वर परमात्मा का महान् उपासक था। अपनी पत्नी मंदोदरी के साथ अष्टापद महातीर्थ पर नृत्य भक्ति में तल्लीन बना था। रावण स्वयं प्रभु के समक्ष वीणा बजाते हुए भक्ति गीत गा रहे थे और उनकी पत्नी नृत्य कर रही थी। भक्ति की धुन में एक प्रकार की मस्ती थी। योगानुयोग वीणा का एक तार टूट गया। संगीत में स्वर भंग होने लगते ही चतुर रावण ने सोचा कि मंदोदरी के नृत्य में कहीं विघ्न न पड़े, इसलिए रावण ने शीघ्रता से अपनी जाँघ की नस निकाल कर उस वीणा में जोड़ दी और उसी स्वर में वीणा बजती रही। भक्ति में तल्लीन, तन्मय और तदाकार बने हुए रावण ने तीर्थंकरनामकर्म उपार्जन किया। परिणाम स्वरूप महाविदेह क्षेत्र में तीर्थंकर बनकर वे मोक्ष में जायेंगे। ऐसा शास्त्रों में उल्लेख है।

दर्शन में प्रतिस्पर्धा :-

दशार्णभद्र राजा एक बार श्री महावीर प्रभु के दर्शनार्थ समवसरण में जा रहे थे। उनके मन में ऐसा विचार आया कि 'आज दिन तक अनुपम ऋद्धि-सिद्धि सहित कोई न गया हो इस तरह मैं प्रभुदर्शनार्थ जाऊं।'अपने विचारानुसार दशार्णभद्र ने ऋद्धि-सिद्धि का खूब प्रदर्शन किया। देवलोक के स्वामी इन्द्रमहाराजा दशार्णभद्र राजा के अहं को तोडने केलिए प्रतिस्पर्धा में आए। वे भी दशार्णभद्र राजा से दुगुनी ऋद्धि-सिद्धि करके सामने की दिशा से आने लगे। अपने प्रतिस्पर्धी को देखकर दशार्णभद्र राजा अपनी ऋद्धि-सिद्धि दुगनी करने लगे। यह देखकर इन्द्र ने अपनी

ऋद्धि-सिद्धि चौगुनी कर दी। इस तरह ऋद्धि-सिद्धि का विस्तार करने में दोनों के बीच दुगुनी - चौगुनी की स्पर्धा जम गई। अंत में जब दोनों ही प्रतिस्पर्धी समवसरण में पूर्व-पश्चिम द्वार से आ रहे थे, तब इन्द्र की अपने से चौगुनी ऋद्धि-सिद्धि देखकर अपनी हार मानते हुए दशार्णभद्र राजा ने अनुपम वैराग्य भाव से सर्व ऋद्धि-सिद्धि का त्याग करके प्रव्रज्या (दीक्षा) अंगीकार करके रजोहरण (धर्मध्वज) लेकर प्रभु के दर्शन करके वंदना की। यह दृश्य देखकर इन्द्र ने भी अपनी हार मानते हुए दशार्णभद्र मुनि को वंदना की और कहा, 'हे महात्यागी ! ऋद्धि-सिद्धि दुगुनी करनी तो मुझे आई, परंतु आपकी तरह ऋद्धि-सिद्धि का त्याग करना मुझे नहीं आया। अतः सही अर्थ में आप जीते।' इस तरह भी प्रभु के दर्शन-वंदन किये। ऐसे अनेक दृष्टांत शास्त्रों में भरे पड़े हैं।

देखने की अजब शक्ति :-

वर्तमान काल की बात है कि यूरिगेलर नाम के एक व्यक्ति ने कई वैज्ञानिकों की उपस्थिति में १५ फुट दूर रखे हुए एक टेबल को बिना हाथ लगाये, बिना किसी साधन एवं माध्यम के सिर्फ आँखों से टक टकी लगाकर देखने मात्र से हटाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर रख दिया। दूसरी बार १५-२० फुट दूर रखे हुए स्टील के एक चम्मच को बिना हाथ लगाये देखने मात्र से मोड दी, एवं अलमारी की स्टील की एक ताली, एवं थाली को दूर से ही मात्र दृष्टि से देखते हुए मोड़कर तोड़ दिया। यह प्रयोग वैज्ञानिकों की उपस्थिति में हुआ, जिसमें मात्र आंखों से देखने की करामत थी, परंतु यह कोई जादू नहीं था। Extra Sensory perception की छपी हुई पुस्तक में 6th sense (E.S.P.) के ऐसे कई प्रयोग दिये गये हैं।

भारतीय तांत्रिक प्रयोगों में त्राटक मुद्रा के ऐसे कई प्रयोग मिलते हैं।

स्मरण शक्ति से फोटो खींचना :-

एक सज्जन केमरे को अपने ललाट पर उल्टा रखकर, जिसका लेन्स ललाट पर लगा हो उसके बटन दबाकर भूतकाल में देखे हुए दृश्यों का फोटो खींचकर दिखाता था। वह केमरा 'POLIROD' था जिसमें तुरंत सीधे ही POSITIVE COPY बाहर निकलती थी, और वह उसे उपस्थित लोगों के हाथों में दे देता था। लोग किसी भी दृश्य का फोटो निकालने के लिये उसे कहते थे, परंतु उसकी एक शर्त थी कि वह दृश्य मेरा देखा हुआ होना चाहिए। एक बार लोगों ने उसे कहा कि इंडिया के BOMBAY AIR PORT का फोटो निकाल के बताओ। एक ही मिनट में उसने केमरे को अपने ललाट पर लगाया। आँख बंद कर उसने उस दृश्य को याद किया और जल्दी से फोटो निकालकर लोगों के हाथ में दे दिया। उस फोटों में विमान इधर-उधर

खड़े थे। और SANTACRUZE AIR PORT - INDIA का बोर्ड लगा हुआ था। इस प्रकार उसने कई आश्चर्य करके दिखाये। इसमें देखे हुए दृश्य को स्मृति पटल पर लाकर उसके छायाचित्र को निकाला जाता था। उस प्रकार देखे हुए दृश्यों की एकाग्रता को स्मृति पटल पर लाना और उसे छायाचित्र के रूप में बाहर दिखाना, ऐसे आश्चर्यकारी कार्य का होना आत्मा की एवं इन्द्रियों की शक्ति का अच्छा प्रमाण है। ऐसे कई प्रयोग वैज्ञानिक जगत में E.S.P. के क्षेत्र में हुए हैं।

दर्शनावरणीय कर्म निवारण पूजा की ढाल :-

पूज्य वीरविजयजी महाराज ने चौसठ प्रकारी पूजा लिखी है जिसमें ८ कर्मों के विषय में ८ भिन्न-भिन्न पूजा की ढालें बनाई है। एक-एक पूजा में ८-८ ढाले हैं। अतः उसे चौसठ प्रकारी पूजा कहते हैं। दूसरे क्रम पर दर्शनावरणीय कर्म की पूजा की ढाल में उन्होंने दर्शन एवं दर्शनावरणीय कर्म के स्वरूप को बताते हुए लिखा है कि -

ए आवरणबले करी, न लह्युं दर्शन नाथ।
नैगम दर्शने भटकीयो, पाणी वलोव्यु हाथ ।।
पूरण दर्शन पामवा, भजिए भवि भगवंत।
दूर करे आवरणने, जिम जलथी जलकांत ।।

हे भगवंत ! आत्मदर्शनगुण का आवरण करने वाले दर्शनावरणीयकर्म के कारण मैं आपका दर्शन नहीं कर सका। अर्थात् आपका दर्शन (शासन) नहीं पा सका और नैगमनयादि रूप एकांत दर्शन से संसार में भटकता रहा, मात्र हाथों से पानी में मंथन करता रहा, परंतु कोई सार-नवनीत प्राप्त नहीं हुआ। अब पूर्ण रूप से आपका दर्शन प्राप्त करने के लिए आपके दर्शन एवं भक्ति कर रहा हूँ, जिससे दर्शनावरणीय कर्म दूर हो और आपका दर्शन पूर्ण रूप से कर पाऊं। जैसे जलकांत मणि से जल दूर होता है। दूसरी ढाल में -

तुज मूरति मोहनगारी, रसिया तुज मूरति मोहनगारी,
द्रव्य गुण परजाय ने मुद्रा, चउ गुण प्रतिमा प्यारी ।
नयगम भंग प्रमाणे न निरखी, कुमति कदाग्रहधारी ।।

वीरविजयजी महाराज ने पूजा की ढाल में भक्ति के माध्यम से कर्मशास्त्र की अद्भुत बातें बताई है। वे उपरोक्त अंश में कहते हैं कि - हे ज्ञानीप्रभु ! आपकी मूर्ति मन मोहने वाली है। सभी के लिए अत्यंत मनमोहक है। द्रव्य, गुण, पर्याय (आकृति) इन चार प्रकारों से अत्यंत गुणवान आपकी प्रतिमा बड़ी प्यारी लगती है, दिल में भक्ति के भाव को उभराती है, परंतु कुमति-कदाग्रह वाले नय, गम, भंग (भेद) प्रमाण आदि से वास्तव में देख नहीं पाते हैं, अर्थात् जो दर्शन भी नहीं कर पाते

हैं और पहचान भी नहीं पाते हैं, वे मूढ-गंवार कर्म बांधते हैं। इस तरह वीरविजय महाराज ने पूजा की ढाल में भक्ति के माध्यम से कई भाव भरे हैं। कर्मशास्त्र के सैद्धांतिक विषयों में उनकी विचारधारा को आगे और देखेंगे।

अवधिज्ञान और अवधिदर्शन :-

लक्षण - **अवधिदर्शनावरणक्षयोपशमादिवशाद् विशेष ग्रहणवै मुख्येन रूपि द्रव्यविषयक सामान्यावबोधरूपत्वमवधिदर्शनस्य लक्षणम् ।।**

आर्हत् दर्शन दीपिका में पू. मंगलविजयजी महाराज ने अवधिदर्शन का लक्षण करते हुए बताया है कि अवधिदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला विशेष को ग्रहण न करते हुए रूपीद्रव्यविषयक सामान्य बोध को अवधिदर्शन कहते हैं।

ज्ञान और दर्शन ये दोनों सहवर्ती हैं। क्रमभावी है। दर्शन भी एक प्रकार का ज्ञान ही है। वस्तु का सामान्याकाररूप-निराकाररूप जो बोध होता है वह दर्शन है और वही जब साकार-विशेषरूप होता है तब ज्ञान बन जाता है। अतः अवधिज्ञानी के जानने का जितना क्षेत्र है उतना ही अवधिदर्शनी के देखने का क्षेत्र है। अतः अवधिदर्शन से नियत अवधि तक के क्षेत्र के रूपी द्रव्यों को सामान्यरूप से अवधिदर्शन से देखना, और उन्हें ही विशेषरूप से अवधिज्ञान से जानने का कार्य होता हैं। नरक के नारकी जो विभंगज्ञानी है वे तथा चारों गति के अवधिज्ञानी इस अवधिदर्शन के मालिक है।

अवधिज्ञान के जो ६ भेद हैं, वे ही सभी भेद अवधिदर्शन के हैं। तीर्थंकर परमात्मा का जीव पूर्वजन्म से ही यह गुण लेकर वर्तमान भव में आते हैं।

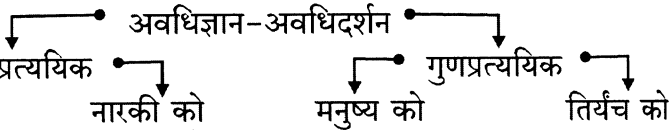

अवधिज्ञानी-अवधिदर्शनी-जघन्य से अनंतरूपी द्रव्यों को तथा उत्कृष्ट से सर्वरूपी द्रव्यों को देखते हैं। क्षेत्र से जघन्य अंगुल का असंख्यातवां भाग, तथा उत्कृष्ट से समग्र लोक को देखते-जानते हैं। काल से जघन्य-आवलि के असंख्यातवें भाग के जितने काल के अतीत, अनागत पर्यायों को देखते हैं। भाव से-एक-एक द्रव्य के जघन्य से चार भाव तथा उत्कृष्ट से असंख्य पर्यायों को अवधिदर्शन-ज्ञान से जानते-देखते हैं। इसका निराकार सामान्य उपयोग अवधिदर्शन तथा साकार (विशेष) उपयोग को अवधिज्ञान कहते हैं ऐसा श्री नन्दिसूत्र में कहा है। मिथ्यादृष्टि जीव को अवधिविभंग रूप में होता है। सम्यक्त्वी अवधिज्ञान वाले को अवधिदर्शन होता है।

इस प्रकार के ऐसे अवधिदर्शन गुण पर आये हुये दर्शनावरणीय कर्म के आवरण को अवधिदर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। यह आत्मा की जघन्य-उत्कृष्ट से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथाप्रकार के रूपी द्रव्यों को देखने की शक्ति को आवरित-आच्छादित कर देता है और आत्मा का अवधि दर्शन-ज्ञान गुण-ढक-दब जाता है। क्षायोपशमिक भाव से यह उत्पन्न होता है। यह वीरविजयकृत अवधिदर्शनावरणीय निवारक पूजा की ढाल का भाव है। आत्मा को बिना इन्द्रियों की मदद से सीधे प्रत्यक्षरूप से रूपी पदार्थों का निराकार-सामान्य बोध होना यह अवधिदर्शन उपयोग तथा साकार रूप से विशेष बोध होना यह अवधिज्ञान कहलाता है। अवधिदर्शनगुण अवधिदर्शनावरणीय कर्म के आवरण से दबता है, और अवधिज्ञानगुण अवधिज्ञानावरणीय कर्म के आवरण से दबता है।

केवलज्ञान-केवलदर्शन :-

यह आत्मा का मूलभूत अनंतज्ञान-अनंतदर्शन गुण है। इन्द्रियां,मन तथा शरीरादि जड़ है, अजीव है,अतः इनका स्वभाव या गुण नहीं है कि-देखना या जानना। अतः किसी इन्द्रिय एवं मन की सहायता से समस्त लोक-अलोक क्षेत्र देखना-जानना तथा उसमें के रूपी-अरूपी द्रव्यों को अनंत गुण-पर्यायों के साथ देखना-जानना शक्य नहीं है। यह तो आत्मा का मूलभूत स्वभाव है। जड का नहीं। यही अनंतज्ञान-अनंतदर्शन, केवलज्ञान-केवलदर्शन गुण कहलाता है। इसका स्वरूप वर्णन करते हुए इस प्रकार कहा है कि - **केवलं शुद्धम्, तदावरणापगमात् सकलं वा केवलम्, तत्प्रथमतयैव निःशेष तदावरणविगमतः संपूर्णतोत्पत्तेः असाधारणं वा केवलम्,अनन्यसदृशत्वात्। अनंत वा केवलम् ज्ञेयाऽनन्त-त्वाद् -अनंतकालावस्थापित्वाद्वा, निर्व्याघातं वा केवलम्, लोकाऽलोके वा प्रसृतौ व्याघाताभावात्, तथा केवलम्-एकम्, मत्यादि चतुष्क रहितत्वात्।**

केवलज्ञान सम्पूर्ण शुद्ध है क्योंकि उसका आवरण रूप जो केवल-ज्ञानावरणीय कर्म था, उसके सर्वथा क्षय हो जाने से यह पूर्ण शुद्ध है। केवलज्ञान प्रथम से ही सकल-सर्व पदार्थग्राही है क्योंकि पहले से ही सम्पूर्ण केवलज्ञानावरणीय क्षय होने से उत्पन्न हुआ है। अतः यह पहले से ही सम्पूर्ण होता है। यह केवलज्ञान असाधारण ज्ञान है क्योंकि इसके जैसा दूसरा कोई सदृश-समान नहीं है, अतः यह केवलज्ञान-केवलदर्शन अनंत है, अन्त रहित है। इसका कहीं अन्त नहीं है, क्योंकि जानने देखने योग्य जगत के पदार्थ-द्रव्य अनंत होने से यह भी अनंत है तथा उत्पन्न होने के बाद अनंत काल तक स्थिर रहने वाला होने के कारण-जिसका काल की दृष्टि से भी कभी अंत होने वाला न होने से यह काल की दृष्टि से भी अनंत कहा जाता

है। इसलिये इसे अप्रतिपाति कहते हैं। केवलज्ञान-दर्शन-निर्व्याघात है, व्याघात रहित है। लोक या अलोक में प्रसृत होते हुए भी इसका व्याघात नहीं होता है, कोई व्याघात नहीं कर सकता है। इसका बाधक कोई नहीं है। केवलज्ञान-दर्शन के मार्ग में कोई अवरोधक-बाधक नहीं बन सकता है। अतः यह निर्व्याघात है तथा केवलज्ञान-एकज्ञान है। केवलदर्शन-एक दर्शन है। इसकी उपस्थिति में अन्य ज्ञान-दर्शन उपस्थित नहीं रहते हैं। जैसे सूर्य के उदय होने से चन्द्र, तारा, दीपकादि का प्रकाश सूर्य के प्रकाश में समा जाता है, फिर उनका स्वतंत्र प्रकाश नहीं रहता है, वैसे ही केवलज्ञान-दर्शन हो जाने के बाद मति-श्रुतादि ज्ञान तथा चक्षु-अचक्षु आदि दर्शन स्वतंत्र-अलग नहीं रहते हैं, सभी इसमें मिल जाते हैं। परंतु जैसे सूर्य के न रहने पर अर्थात् अस्त रहने पर चन्द्र, तारा, दीपक आदि का प्रकाश रहता है वैसे ही केवलज्ञान-दर्शन न रहने पर अर्थात् आवरित-आच्छादित रहने पर वे मति-श्रुत आदि ज्ञान तथा चक्षु-अचक्षु आदि दर्शन स्वतंत्र रूप से रहते हैं, परंतु केवलज्ञान-दर्शन की उपस्थिति में नहीं रहते हैं। अतः केवलज्ञान पूर्ण-सम्पूर्ण है। इसमें अन्य ज्ञान-दर्शन की आवश्यकता नहीं पड़ती। केवलज्ञान-दर्शन के बाहर अन्य किसी भी ज्ञान-दर्शन की रत्तीभर मात्रा का अस्तित्व भी नहीं है।

श्री जिनवरने प्रगट थयुं रे, क्षायिक भावे ज्ञान।
दोष अढार अभाव थी रे, गुण उपन्यां ते प्रमाण रे ।।
भविया वन्दो केवलज्ञान, पंचमी दिन गुण खाण ।।१।।
अनामी ना नामनो रे, किश्यो विशेष कहेवाय।
ए तो मध्यमा वैखरी रे, वचन उल्लेख ठराय ।।२।।
ध्यान टाणे प्रभु तुं होय रे, अलख अगोचर रूप ।
परा पश्यंती पामी ने रे, कांइ प्रमाणे मुनि भूप रे ।।३।।
छती पर्याय जे ज्ञाननी रे, ते तो नवि बदलाय।
ज्ञेयनी नवनवी वर्तना रे, समय मां सर्व जणाय ।।४।।
बीजा ज्ञानतणी प्रभा रे, एहमां सर्व समाय ।
रवि प्रभा थी अधिक नहीं रे, नक्षत्र गण समुदाय रे।।५।।
गुण अनंत ज्ञानना रे, जाणे धन्य नर तेह।
विजयलक्ष्मी सूरि ते लहे रे, ज्ञान महोदय गेह ।।६।।

केवलज्ञानी-दर्शनी अर्थात् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल एवं भाव-समकाल, एक साथ ग्रहण करते हैं, जानते-देखते हैं। इसमें काल का भी भेद नहीं रहता। भूत-वर्तमान-भावी के समस्त भावों को एकसाथ जानते-देखते हैं।

अतः यह त्रिकालज्ञान है। इसके स्वामी त्रिकालज्ञानी-दर्शनी कहलाते हैं। यह केवलज्ञान-दर्शन स्वरूप से सभी केवलियों में समान रूप से रहता है। अतः केवलज्ञान का स्वामी-केवली, और केवलदर्शन का स्वामी केवलदर्शी अर्थात् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी कहलाते हैं। इसके मालिक चाहे साधु हो, या संसारी, देहधारी हो या सिद्धात्मा, तीर्थंकर हो या गणधर, स्त्री या पुरुष, सभी का केवलज्ञान-दर्शन एक सरीखा-समान रूप होता है, क्योंकि यह सर्वावरण के सम्पूर्ण क्षय से उत्पन्न होता है।

नमुत्थूणं सूत्र में **'अप्पडीहयवरनाणदंसणधराणं'** पाठ है। **अप्पडीहय** = अप्रतिहत, **वर** = श्रेष्ठ, **नाण - दंसण** = केवलज्ञान, केवलदर्शन, **धराणं** = धारण करने वाले, अर्थात् अप्रतिहत (कभी भी नष्ट न होने वाले) केवलज्ञान और केवलदर्शन को धारण करने वाले अरिहंत भगवान होते हैं। वे पूर्णज्ञानी-सम्पूर्णज्ञानी सर्वज्ञ-सर्वदर्शी कहलाते हैं। यहां 'अप्रतिहत' विशेषण नाश न होने के अनंत अर्थ में है।

केवलज्ञान और केवलदर्शन में कोई खास लम्बा अंतर नहीं है। दर्शन भी जहां ज्ञानाकार ही है वहाँ अंतर सिर्फ इतना ही है कि, दर्शन सामान्याकार, निराकार-निर्विकल्पक अव्यक्त होता है, दर्शन से इस प्रकार सामान्य निराकार अव्यक्त बोध होता है, और ज्ञान विशेष रूप, साकार-सविकल्प, और व्यक्त स्पष्ट बोधकारक है। अतः ज्ञान विशेषात्मक सामान्यरूप होता है। छद्मस्थ जीवों को प्रथम सामान्योपयोगी दर्शन होता है, और बाद में विशेषोपयोगी ज्ञान होता है, जबकि सर्वज्ञ केवली को प्रथम समय में केवलज्ञान होता है और दूसरे समय केवलदर्शन होता है। ज्ञान-दर्शन से जानने और देखने की क्रिया होती है। केवलदर्शन का लक्षण इस प्रकार बताया है -**'केवलदर्शनावरणक्षयादि निमित्तवशाद् त्रैकालिकवस्तुविषयकसामान्या-वबोधरूपत्वं केवलदर्शनस्य लक्षणम्।।** अर्थात् केवलदर्शनावरणीय कर्म क्षयादि से अद्भूत और तीनों काल के पदार्थविषयक सामान्यबोध को केवलदर्शन कहते हैं। इसके अधिकारी केवली है। चारों घनघाती कर्मों के क्षय से यह अवस्था तेरहवें गुणस्थान पर प्राप्त होती है। प्रथम समय में साकार उपयोग रूप केवलज्ञान प्राप्त करते हैं और दूसरे समय में निराकारदर्शन उपयोग-केवलदर्शन से प्राप्त होता है। बाद में समयान्तर उपयोग होता रहता है। यहाँ मतभेद अवश्य है। सिद्धसेन दिवाकरसूरि समयान्तर न मानते हुए युगपत् मानते हैं। उभय स्वरूपी विषय की समीप दशा में भी केवलज्ञान तमाम विशेषों को ही ग्रहण करता है जबकि केवलदर्शन सर्वसामान्य को ग्रहण करता है। इस तरह केवलज्ञान और केवलदर्शन का स्वभाव है। इस प्रकार युगपद्वादि और क्रमिकवादियों में परस्पर चर्चा है।

दर्शन चतुष्क के स्वामी दर्शनियों की चार प्रकार की संख्या में अवधिदर्शन वालों की संख्या सबसे कम है। चक्षुदर्शन वालों की संख्या अवधिदर्शन वालों की

संख्या से असंख्यगुनी अधिक है और इस संख्या से अनंतगुनी संख्या केवलदर्शन वालों की है। और इनसे अनंत से भी अधिक अचक्षुदर्शन वालों की संख्या है।

दर्शनावरणीय कर्म के दर्शन चतुष्क और निद्रापंचक नामक दो प्रमुख भेदों में प्रथम दर्शन-चतुष्क का वर्णन किया। अब द्वितीय विभाग निद्रापंचक का विचार करते हैं।

निद्रापंचक :-

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के ३३ वें 'कर्मप्रकृति' अध्यन के ५ वें श्लोक में पांच निद्रा का नामनिर्देश इस प्रकार किया है -

निद्दा तहेव पयला, निद्दानिद्दा य पयला पयलाय
तत्तो य थीणगद्धि, पंचमा होइ नायव्वा ।।५ ।।

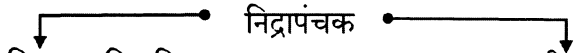

जैन दर्शन में पांच प्रकार की निद्रा बताई गई है। संसार में कहीं भी किसी भी धर्म या दर्शन में निद्रा के विषय में ऐसा वर्णन नहीं मिलेगा, जैसा कि जैनदर्शन के कर्मशास्त्र में मिलता है। निद्रा अर्थात् नींद आना या नींद लेना। यह क्रियापरक है। निद्रा आत्म गुण स्वरूप नहीं है परंतु कर्म उदय जन्य है। ज्ञाता-द्रष्टाभाववान् आत्मा जो स्वयं ज्ञानदर्शनादि गुण से देखने-जानने आदि की क्रिया करती है वह आत्मा निद्रा लेने का काम नहीं कर सकती है। क्यों करे? क्योंकि निद्रा ज्ञान-दर्शन का कार्य बंद कर देती है। निद्रावस्था में आत्मा की जानने-देखने आदि की क्रिया बंद हो जाती है। अतः निद्रा आत्मगुण परक नहीं, परंतु कर्मोदय जन्य है। कर्मोदय जन्य होने के कारण निद्रा आत्मगुण घातक है। अतः यह घाती कर्म की प्रकृति में गिनी जाती है। आत्मगुण ज्ञान-दर्शन आदि का घात करने के कारण यह घातीकर्म का काम करती है। इतने विवेचन के बाद यह प्रश्न निरर्थक होता है कि-नींद अच्छी है या खराब? नींद को कौन अच्छी मानेगा? बस, यही संसार के व्यवहार और अध्यात्म शास्त्र में बड़ा अंतर है। सांसारिक व्यवहार में नींद को अच्छी मानी गई है। आयुर्वेद शास्त्र में नींद को उपयोगी मानी गई है, तथा आरोग्य की दृष्टि से भी नींद उपयोगी मानी है, परंतु कर्मशास्त्र के नियमानुसार आत्मगुणों का घात करने वाली तथा ज्ञान दर्शन की अवरोधक नींद को अच्छी नहीं मानी गई है। अतः आध्यात्मिक महापुरुष नींद से लड़ते हुए उसे कहते हैं कि-

वेरण निद्रा तुं क्यांथी आवी, सूइ सूइ ने सारी रात जगावी ।।१ ।।,
निद्रा कहे हुं तो बाली ने भोली, मोटा मोटा मुनिवर ने नांखु छुं ढोली ।।२।।

चालो चेतनजी सिद्धाचल जइए, आदीश्वर भेटी पावन थइए ।।४।।
आनंदघन कहे सुण भाइ बनिया, आप मुआ पछी डूब गइ दुनियां ।५।।

आनंदघन योगी निद्रा को कह रहे हैं कि हे वैरी ! मेरी(आत्मा की)दुश्मन निद्रा! तुं कहां से आ गई? क्यों आई? मेरी साधना में तेरी कोई आवश्यकता नहीं है। बहुत वर्षों की साधना के बाद मैंने यह जागृत अवस्था पाई है, और उसे तूँ क्यों बिगाड़ रही है? निद्रा कह रही है, मैं तो भोली-भाली हूँ, आपके आमंत्रण से आयी हूं, दूसरी तरफ मैं यम की दासी के रूप में 'चीरनिद्रा' के नाम से प्रसिद्ध हूँ। मेरे एक हाथ में मुक्ति भी है और दूसरे हाथ में फांसी भी है। इस प्रकार अध्यात्म योगियों ने निद्रा को हितकर नहीं मानी है।

ठीक अध्यात्म योगियों के विपरीत संसारी गृहस्थ नींद न आए तो नींद के लिए छटपटाता है। उसे लाने के लिए हजार उपाय करता है। नींद की गोलियां और इन्जेक्शन भी लेता है। किसी भी तरह वह नींद में पड़ा रहना चाहता है। एक दृष्टि से सोचने पर बात सही भी लगती है कि-जिसके सामने आत्म कल्याण का कोई लक्ष्य ही नहीं है वह बिचारा नींद के लिए प्रवृत्ति नहीं करेगा तो क्या करेगा? नीतिकार कहते हैं कि - **जो सोवत है सो खोवत है। जो जागत है सो पावत है।।** अर्थात् जो नींद-आलस-प्रमाद में पड़ा रहता है वह बहुत कुछ खोता है। उसके हाथ से लाभ-शुभ के कई प्रसंग चले जाते हैं, और जब जागता है तब सुनकर पछताता है। परंतु कहते हैं कि - **'अब पछताये क्या होत है, जब चिड़िया चुग गई खेत।'**

प्रभु महावीर को प्रश्न :-

एक बार की बात है। समवसरण में श्री वीरप्रभु की देशना के बाद जयंती श्राविका ने प्रभु को प्रश्न पूछा कि - हे कृपानाथ ! इस संसार में किसका सोना अच्छा है? और किसका जागना अच्छा है? उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने फरमाया कि -**'जागरिया धम्मिणं, अधम्मिणं तु सुत्तया सया।'** धर्मी आत्माओं का जागना अच्छा, अधर्मी आत्माओं का सोते रहना अच्छा है,क्योंकि धर्मी जागता रहेगा तो पाप नहीं करेगा, धर्म का ही आचरण तथा प्रचारप्रसार करेगा। जबकि अधर्मी यदि जागता रहेगा तो पाप करता रहेगा, कइओं को अपने पाप में सहभागी बनाएगा। इस तरह अधर्मी बहुत अनर्थ करेगा। अतः धर्मी का जागना, और अधर्मी का सोते रहना स्वपर उभय के लिए लाभदायक रहेगा। परंतु आज इस कलयुग में ठीक इससे विपरीत देखा जा रहा है। धर्मी सो रहे हैं, और अधर्मी जाग रहे हैं। अब आप ही सोचिये कि क्या परिणाम आयेगा? अधर्मी के जागते रहने से पापाचार बढ़ता रहेगा, और धर्मी के सोते रहने से धर्माचरण घटता रहेगा। कलियुग में यही प्रमाण बढ़ता है।

वर्तमान जगत् में ठीक विपरीत यही दृश्य हम देख रहे हैं, अतः आज भयंकर कलयुग चल रहा है। यह कहने में रत्तीभर भी संदेह नहीं होता है।

आरोग्य की दृष्टि से निद्रा :-

यद्यपि निद्रा कर्मोदय जन्य है, एवं कर्मबंध कारक है, तथापि आरोग्य की दृष्टि से उचित समझकर भी हम नींद लेते हैं। हर वस्तु यदि प्रमाण में रहे तो ही लाभदायी होती है। अतः निद्रा भी यदि सीमित-परिमित एवं मर्यादित रहे वहां तक ही उचित है। जैसा कि कहते हैं-

'Early to bed and Early to rise,
makes a man healthy, wealthy and wise.'

वहेला सूवे अने वहेला ऊठे ते वीर ।
बल-बुद्धि धन वधे ने सुख मां रहे शरीर ।।

अर्थात् जल्दी सोना और जल्दी उठना ही शारीरिक और मानसिक आरोग्य के लिए लाभदायक होता है, परंतु वर्तमान काल में लोगों ने सोने-उठने के समय की काल मर्यादा सर्वथा तोड़ दी है। क्योंकि रात १२-१ बजे तक लोग सोते भी नहीं है, और सुबह सूर्योदय के बाद १-२ घंटे अर्थात् ८-९ बजे तक उठने की आदत बनाते हैं। यहां आयुर्वेदशास्त्र कहता है कि मनुष्य जितना ही सूर्योदय के बाद देरी से उठता है उतना ही उसका आयुष्य कम होता है, जितना सूर्योदय से पहले उठता है उतना उसका आयुष्य स्वस्थ रहता है। अतः सोने के समय के विषय में आयुर्वेदशास्त्र कहता है कि - रात्रि के द्वितीय प्रहर में सोना चाहिए, और दो प्रहर = ६ घंटे की परिमित निद्रा लेकर रात्रि के चतुर्थ प्रहर में सूर्योदय से चार घड़ी पहले उठना चाहिए। (एक प्रहर = ३ घंटे, १ घड़ी = २४ मिनिट, और २ घड़ी = ४८ मिनिट) वैसे तो मनुष्य के लिए ६ घंटे की नींद पर्याप्त है, परंतु अत्यंत गहरी - प्रगाढ नींद के लिये ३ घंटे भी पर्याप्त होते हैं। स्वप्नभरी नींद या अर्धनिमिलित तंद्रा जैसी नींद लम्बे काल तक भी आये तो भी संतोष नहीं होता है।

पौ-फटने के पहले ब्राह्ममुहूर्त में उठने से जीवन स्फुर्तिमय, एवं नियमित रहता है तथा प्रभु - स्मरण, सामायिक, पूजा - पाठ, जाप -ध्यान आदि बड़े आनंद से अच्छे शांत वातावरण में अच्छी तरह होते हैं। यही उपासना यदि देरी से की जाए तो अस्थिर चित्त से होती है।

प्रश्न - सोते हुए को जगाना आसान है? स्वाभाविक बात है कि नींद में सोअे हुए को जगाना आसान है, परंतु नींद उड़ जाने के बाद भी जो आलस्य में पड़ा रहे उसे उठाना एक प्रकार का सिरदर्द है।

पाँच प्रकार के प्रमाद :-

मज्जं विषय-कषाया निद्दा विकहा य पञ्चहा भणिया ।
ए ए पञ्च पमाया जीवं पाडंति संसारे ।

५ प्रकार के प्रमाद

मद	विषय	कषाय	निद्रा	विकथा	
८	२३	४	५	४	= ४४

शास्त्रों में बताए गए प्रमाद के भेदों में निद्रा भी गिनी गई है। अतः अत्यंत कींमती और दुर्लभ मनुष्य जन्म प्रमाद में बीत न जाए उसका हमें पूरा ध्यान रखना चाहिए। कहीं ऐसा न हो जाय कि -

रात गंवाइ सोय के, दिवस गंवायो खाय ।
हीरा जन्म अमोल था, कोडी मूल्ये जाय ।।

इसलिए नीतिकार कहते हैं कि - **'श्वान निद्रा, बकः ध्यानं'** हमारी नींद कुत्ते जैसी अल्प निद्रा वाली होनी चाहिए और बगले की तरह स्थिर चित्त वाला स्थिरता वाला ध्यान होना चाहिए। (यहां एक अंशी उपमा दी गई है सर्वांशी नहीं है।)

आहार और नींद में सम्बंध :-

आहारे ऊंघ वधे घणी, निद्रा दुःख भण्डार ।
नैवेद्य धरी प्रभु आगले, वरीय पद अणाहार ।।

वीरविजयजी महाराज कहते हैं कि - ज्यों-ज्यों आहार का प्रमाण बढ़ता है त्यों-त्यों नींद का प्रमाण भी बढ़ता जाता है। ऐसी निद्रा दुःख का भण्डार रूप होती है। इस नींद के पीछे अनेक दुःख आते हैं। इसलिए इस कर्मोदय को टालने के लिए आहार का अर्थात् नैवेद्य का भरा हुआ थाल प्रभु के आगे त्याग भावना से अर्पण करें जिससे अणाहारी-निराहारी मोक्ष का पद प्राप्त कर सकते हैं। योगशास्त्र में भी कहते हैं कि आहार और निद्रा में परस्पर जन्य-जनक भाव सम्बन्ध है। आहार बढ़ने से नींद बढ़ती है और नींद बढ़ने से आहार बढ़ता है। दोनों बढ़ते ही जाये तो बुद्धि जड़ता की तरफ ढलती है। अतः अल्पाहारी-हिताहारी-मिताहारी-परिमिताहारी एवं अल्प निद्रालु बनना ही लाभदायक है।

निद्रा का शास्त्रीय स्वरूप :-

सुह-पडिबोहा निद्दा निद्दानिद्दा य दुक्ख-पडिबोहा ।
पयला ठिओवविट्ठस्स पयल-पयला उ चंकमओ ।।
दिण-चिंति अत्थ-करणी थीणद्धी अद्ध-चक्कि-अद्ध-बला ।
(कर्मग्रंथ)

(१) निद्रा (२) निद्रानिद्रा (३) प्रचला (४) प्रचलाप्रचला (५) थीणद्धि (स्त्यानर्द्धि-

स्त्यान-गृद्धि)

(१) निद्रा - सुह पडिबोहा निद्दा ।

सुखप्रबोधस्वभावावस्थाविशेषरूपत्वं सुखजागरणस्वभावस्वापावस्थाविशेषरूपत्वं वा निद्रया लक्षणम् ।

जिस प्रकार की नींद में आसानी से जग सकते हैं, उसे निद्रा कहते हैं। जिस नींद में सुख रूप से जागने का स्वभाव हो अथवा जगाने पर एक क्षण में आसानी से जो जाग जाय उसे प्रथम प्रकार की निद्रा कहते हैं।

(२) निद्रानिद्रा - निद्दा निद्दा य दुक्ख-पडिबोहा ।

दुःखजागरणस्वभावस्वापावस्थाविशेषरूपत्वं, दुःखप्रतिबोधस्वापावस्थाविशेषरूपत्वं वा निद्रानिद्रया लक्षणम् ।।

नींद की एक विशेष अवस्था जिसमें बड़ी मुश्किल से, बहुत टटोलने पर उठे, उसे दूसरे प्रकार की निद्रा कहते हैं।

(३) प्रचला-पयला ठिओविविट्ठस्स ।

स्थितोपस्थितस्वापावस्थाविशेषरूपत्वं प्रचलया लक्षणम् ।।

जिसमें खड़े-खड़े या बैठे-बैठे भी नींद आवे उसे प्रचला प्रकार की नींद कहते हैं।

(४) प्रचलाप्रचला - पयल-पयला उ चंकमओ ।

चङ्क्रमणविषयकस्वापावस्थाविशेषरूपत्वं प्रचलाप्रचलया लक्षणम् ।

चलते-चलते जो नींद आती है उसे प्रचला-प्रचला नामक नींद कहते हैं।

(५) थीणद्धि-दिण-चिंति अत्थ-करणी थीणद्धी अद्ध-चक्कि-अद्ध-बला

दिनचिंतन्तितार्थाऽऽभिकाङ्क्षाविषयकस्वापावस्थाविशेषरूपत्वं, जाग्रदवस्थाध्यवसितार्थ संसाधनविषयकाभिकाङ्क्षानिमित्तकस्वापावस्था-विशेषरूपत्वं वा स्त्यानर्द्धिलक्षणम्।।

दिन में जिस विषयक-कार्य का तीव्र आकांक्षा से जो चिंतन किया हो और दिन में वह कार्य न करके सो गया हो, और रात को नींद में से उठकर उस कार्य को निद्रावस्था में ही करें, वैसी नींद को थीणद्धि-स्त्यानर्द्धि नामक पांचवें प्रकार की नींद कहते हैं। इस प्रकार की नींद में मनुष्य ठीक जागते हुए की तरह सारे ही काम कर लेता है। फिर भी उसे पता नहीं रहता है। पुनः आकर सो जाता है। सुबह उठने के बाद कुछ भी याद नहीं रहता है कि मैंने यह काम किया है। इस प्रकार की नींद में अर्ध-चक्रवती अर्थात् वासुदेव के आधे बल के जितनी शक्ति रहती है। परंतु यह किसे? इस प्रश्न के उत्तर में कर्मशास्त्रकार स्पष्टीकरण करते हैं कि जो जीव वज्रऋषभ-नाराच संघयण नामक प्रथम संघयण वाला होता है उसे यदि थीणद्धि निद्रा नामक

दर्शनावरणीयकर्म उदय हो तो उसमें अर्धचक्रवर्ती अर्थात् वासुदेव के बल का आधा बल-शक्ति थीणद्धि निद्रा के उदय में रहती है। परंतु ऐसा जीव मरकर नरक में जाता है 'छेवट्ठा नामक छट्ठे प्रकार का संघयण जिसके उदय में हो, (हमारे जैसे जीव) ऐसे जीवों को यदि थीणद्धि निद्रा नामक दर्शनावरणीय कर्म उदय में हो तो उनमें उस समय दुगुना, तिगुना बल भी बढ़ जाता है। **स्त्याना संघातीभूता गृद्धिर्दिनचिन्तिनार्थ-साधनविषयाऽभिकाङ्क्षायस्याम् सा स्त्यानगृद्धि। प्राकृतत्वात् 'थीणद्धी' इति निपातः ।।**

प्रथम कर्मग्रंथ में 'थीणद्धि' शब्द की व्युत्पत्ति उपरोक्त प्रकार से की गई है। 'थीणद्धि' शब्द प्राकृत में है। वह निपात सिद्ध है। इसे संस्कृत में स्त्यानर्द्धि या स्त्यान-गृद्धि कहते हैं।

थीणद्धि निद्रा के कुछ दृष्टांत :-

विशेषावश्यक भाष्य नामक महाग्रंथ में थीणद्धि निद्रा के विषय में भिन्न भिन्न प्रकार के दृष्टांत बताए गए हैं। जिसमें प्रमुख रूप से १. मांसभक्षक, २. मोदकभक्षक, ३. हाथीमारक, ४. कुम्हार, ५. वटवृक्ष की शाखा तोड़ने वाला आदि विषयक दृष्टांत दिए हैं।

१. मांसभक्षक :-

एक गांव था । इसमें 'कणबी' जाति का एक मनुष्य रहता था। वह मांसभक्षी था। मांस खाने में बहुत ही ज्यादा लुब्ध था। कच्चा-पक्का कैसा भी मांस खा जाता था। एक बार की बात है, त्यागी तपस्वी जैन साधु गांव में पधारे । जैन साधु महाराजों ने कुछ दिन उस गांव में रहकर धर्मोपदेश दिया। लोगों को शराब-मासांदि सात व्यसन छुड़वाये। इस प्रसंग पर कणबी जाति का वह मनुष्य भी प्रभावित होकर मांसहार आदि छोड़कर शुद्ध शाकाहारी बना। साधु संतों के सत्संगसमागम में ज्यादा रहकर उस मनुष्य ने संसार का त्याग कर दिया, और सर्वपापों को छोड़कर जैन दीक्षा अंगीकार करके साधु बन गया। साधुत्व का पालन करते हुए साधुओं के साथ यात्रा-विहारादि करता रहा।

एक बार ऐसा हुआ कि जंगल जाने के हेतु वे बाहर गए। मार्ग में कुछ मांसलुब्ध कसाई लोगों को एक भैंस के पाड़े को काटते हुए देखा। यह दृश्य देखते ही उस साधु के मन में भी पूर्वकाल के मांस खाने के संस्कार स्मृतिपटल पर उपस्थित हो गए और मांस खाने की तीव्र इच्छा हो गई। वे अपनी साधुता को याद करके वहां से हटकर जल्दी ही उपाश्रय में आ गए, परंतु इच्छा का जोर बढ़ता ही गया। रात्रि को उसे विचार में सो गए। उनको थीणद्धि निद्रा नामक दर्शनावरणीय कर्म का भारी उदय

उसी रात को हुआ। रात्रि में उठकर निद्रावस्था में ही गांव के बाहर गये। गाँव बाहर भैंसों के झुण्ड में जाकर, भैंस के एक पाड़े को मार डाला और उसका मांस खाने बैठ गये। खूब माँस खाकर, कुछ साथ में लेकर उपाश्रय में आकर सो गए। रात्रि बीत गई, प्रातःकाल में अन्य सभी साधु उठे, वह भी उठा, उसके हाथ और कपड़े खून से लथपथ देखकर अन्य साधुओं ने उससे पूछा अरे ! तुमने यह क्या किया है? साधु होकर ऐसा किया जाता है? उसने साफ ना कह दिया, मैंने कुछ भी नहीं किया है, और मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ। परंतु साथ लिया हुआ मांस जो उपाश्रय में छिपाया था, वह भी अन्य साधुओं ने ढूंढ निकाला, और उसे अपराधी घोषित किया। ज्ञानी गुरुभगवंत ने ऐसा जानकर की यह थीणद्धि-निद्रा नामक दर्शनावरणीय कर्म का दोष है, उसे साधुपने से निकाल दिया।

२. मोदकभक्षक :-

कुछ साधुगण विहार करते हुए एक गाँव में आये। भिक्षा के लिए एक साधु गृहस्थों के घर में गया। उस गृहस्थ के घर में एक बड़े थाल में अच्छे सुंदर लड्डू रखे हुए थे। कई लड्डू होने पर भी उस गृहस्थ ने एक भी लड्डू मुनि को भिक्षा में नहीं दिया। उस साधु की लड्डू खाने की तीव्र आसक्ति थी। उपाश्रय में आकर दिनभर लड्डू खाने का ही विचार करता रहा। इसी चिंता में रात्रि में सो गया। थीणद्धि निद्रा नामक दर्शनावरणीय कर्म के भारी उदय से वह साधु मध्यरात्रि में उठकर उस लड्डू वाले गृहस्थ के घर गया। द्वार तोड़कर, घर में घुसकर उसने खूब लड्डू खाये। शेष बचे हुए लड्डू अपने पात्र में लेकर उपाश्रय आकर पुनः सो गया।

प्रातःकाल सभी साधु उठे। लड्डू खाने वाला साधु भी उठा, पर मानों उसे कुछ भी याद नहीं हो, इस तरह वह अपनी नित्य क्रिया करने लगा। अपने गुरु को जाकर कहा कि मैंने आज ऐसा स्वप्न देखा है, परंतु अन्य साधुगण वस्त्र-पात्र आदि की प्रतिलेखन क्रिया करने लगे, तब एक पात्र में खूब लड्डू देखें। सबके बीच यह भारी आश्चर्य प्रकट हुआ, काफी पूछपरछ की, परंतु कोई सत्य प्रकट नहीं हुआ। आखिर गुरु ने उसके स्वप्न के आधार पर थीणद्धि निद्रा नामक दर्शनावरणीय कर्म का भारी उदय समझकर उसे दीक्षा से निकाल दिया।

३. हाथीमारक :-

साधुमंडलीमां रहे रे, एक लघु अणगार;
थीणद्धि निद्रावशे रे, हणियो हस्तीमहंत;
सूतो भर निद्रावशे रे, भूतलीये दोय दंत।।
अंग अशुचि शिष्यनुं रे, संशय भरियो साधु
ज्ञानी वयणे काढीयो रे, हंसवनेथी व्याघ्र।।

एक बार की बात है कि एक छोटे साधु को रास्ते में एक हाथी ने बहुत परेशान किया। घबराकर साधु किसी तरह जान छुड़ाकर भागकर उपाश्रय में आ गए। दिनभर उनमें हाथी के प्रति बड़ा भारी क्रोध चलता रहा। इसी क्रोध के विचार में रात को सो गये। थीणद्धिनिद्रा नामक दर्शनावरणीय कर्म के भारी उदय से वह साधु उठकर नगर के बंध द्वार तोड़कर गांव के बाहर उस हाथी के पास गये । वज्रऋषभनाराच नामक प्रथम संघयण वाले उन्होंने थीणद्धि निद्रा के उदय में अर्ध चक्रवर्ती अर्थात् तीन खंड के मालिक वासुदेव के अर्ध बल जितनी शक्ति से उस हाथी के दोनों दांत खींचकर निकाल डाले, और दांतों से ही प्रहारकर हाथी को मार डाला। शेष रात्रि में लौटते समय उपाश्रय के बाहर ही दोनों दांत रखकर अंदर आकर अपने संथारे पर सो गए। प्रातः उठकर गुरु के पास जाकर कहा कि आज मैंने ऐसा स्वप्न देखा था। कुछ देर में सभी साधु विहार के लिए निकले। बाहर निकलते ही जब हाथी के दोनों दांत देखे, तब शंका पड़ी। गुरु ने सभी साधुओं को पूछा, किसी ने भी कोई जवाब नहीं दिया। गाँव के बाहर जाते ही उस साधु के उपकरण दिखाई दिये। इस प्रमाण से गुरु उस साधु को थीणद्धि निद्रा नामक दर्शनावरणीय कर्म के उदय वाला जानकर उससे साधुवेश छिनकर निकाल दिया।

४. कुम्हार का दृष्टांत :-

भूतकाल की बात है। एक गांव का कुम्हार एक बार साधुओं के बड़े समुदाय में दीक्षा लेकर साधु बना। काफी समय बाद एक रात्रि को उसके पूर्वोपार्जित थीणद्धिनिद्रा नामक दर्शनावरणीय कर्म का बड़ा भारी उदय हुआ जिससे वह मध्य रात्रि को उठकर कुम्हारपने के मिट्टी के कड़े पिंड तोड़ने के पूर्व संस्कार याद करके बड़ी प्रबल शक्ति से सोए हुए साथी साधुओं के धडाधड मष्तिस्क फोड़ने लगा, तथा धड और मस्तक अलग-अलग करके ढेर करने लगा। इतने में अन्य कई साधु जान बचाने के लिए भाग गए। सभी ने विशेषकर गुरु ने उस जीव को थीणद्धि निद्रा कर्म वाला जानकर साधु वेश छीनकर उसे निकाल दिया।

५. वट-वृक्ष छेदक :-

भूतकाल की बात है कि एक साधु विशेष बड़े पात्र लेकर अन्य सभी साथी साधुओं की गोचरी (भिक्षा-माधुकरी) लेने के लिए काफी दूर गांव में गए। गोचरी से भरे हुए पात्रों का भार काफी बढ़ चुका था। तेज धूप की मध्यान्ह में लौंटने से पैर जलने आदि तीव्र गरमी के कारण व्याकुल होकर जल्दबाजी में एक वटवृक्ष की छाया के नीचे गए। दुर्भाग्यवश उस घने वटवृक्ष की एक मोटी ज्यादा भार वाली शाखा काफी नीचे झुकी हुई थी। वह जल्दबाजी में आते हुए उन साधु के सिर में लगी। मस्तक पर भारी चोट आई। किसी कदर भिक्षा लेकर उपाश्रय पहुंच गए।

दिनभर उसी दृश्य को याद करते हुए क्रोधातुर एवं चिंताग्रस्त रहे । क्रोध और चिंता में ही सो गए। मध्यरात्रि में थीणद्धि नामक दर्शनावरणीय कर्म के महा भयंकर उदय से उठकर उस वटवृक्ष के नीचे जाकर झुकी हुई उस मोटी शाखा को खींचकर तोड़ डाली, और दूर फैंकने के हेतु से घसीटकर खींचते हुए ले गए, परंतु वह रास्ता उपाश्रय की तरफ ही जा रहा था। अतः उपाश्रय के बाहर ही उस शाखा को फैंककर अपने संधारे में आकर सो गए। सुबह उठकर गुरु को कहा कि मुझे आज ऐसा स्वप्न आया था। परंतु उपाश्रय के बाहर जाते ही गुरु ने टुटी हुई वटवृक्ष की शाखा को देखकर उस साधु को थीणद्धि निद्रा कर्म वाला जानकर साधुवेश छीनकर समुदाय से निकाल दिया।

पुत्रवधू का दृष्टांत :– **षट् मासे निद्रा लहे रे, शेठवधू दृष्टांत ।**

एक सेठ के घर में पुत्र वधू को थीणद्धि निद्रा आती थी। एक बार थीणद्धि निद्रा के समय वह मध्य रात्रि में उठकर घर में से सोने–चांदी से सभी आभूषणों का डिब्बा लेकर गांव के बाहर जंगल में गई। अकेली पुत्रवधू ने पत्थर की एक बड़ी भारी शिला को हटाकर आभूषणों का वह डिब्बा जमीन में गाड़ दिया। पुनः उस पत्थर की शिला को खींचकर उस पर ढक दी, और घर आकर बिस्तर में सो गई।

दूसरे दिन शादी के प्रसंग में जाना था। अतः पुत्रवधु अलमारी खोलकर आभूषण पहनने गई, परंतु आभूषणों का डिब्बा न देखकर सिर पिटकर चिल्लाती हुई रोने लगी। पति, सास, श्वसुर आदि सभी ढूँढने लगे, परंतु वह डिब्बा किसी को कहीं भी नहीं मिला। पुत्रवधु ने रो–रो कर दिन बिताये और अपने पति से कहने लगी कि आप मेरी ऐसी क्रूर मजाक क्यों करते हैं ? आपने ही कहीं छुपाया होगा। लाइये, दे दीजिये। इस तरह आरोप–प्रत्यारोपों में ६ महीने बिताए।

हुआ ऐसा कि छः महिने के बाद पुत्रवधु को थीणद्धि निद्रा वापस आई। पहले की भांति पुनः रात्रि में उठकर पुत्रवधु जंगल में गई, और पत्थर की उस शिला को हटाकर आभूषणों का डिब्बा लेकर, फिर पत्थर की शिला को पूर्ववत् रखकर, घर आकर आभूषणों के डिब्बे को अलमारी में रखकर सो गई। दूसरे दिन अलमारी में उस डिब्बे को देखकर खुश होती हुई पति, श्वसुरादि सबको दिखाकर पूछने लगी कि इसे छिपाने की मजाक किसने की थी? सभी आश्चर्यचकित होकर 'किं कर्तव्यमूढ़' बने हुये थे। एक बार महा ज्ञानीमुनि भगवंत के आगमन पर सेठ ने इस घटना के बारे में पूछा। ज्ञानी महाराज ने कहा कि – यह थीणद्धि निद्रा के कारण होता है । सेठ ने पूत्रवधू को अपने घर से निकालकर मांयके भेज दी।

ट्रक भरकर खींच लिया :–

वर्तमान काल की बात है कि एक जगह एक मकान बनाने का काम चल

रहा था। निरीक्षकों ने मजदूरों को हुकुम दिया कि कल सुबह एक ट्रक पत्थर पहाड़ी से लाकर यहां डाल देना। हां,कहकर छुट्टी होते ही शाम को सभी मजदूर निकल गए। एक मजदूर ने घर आकर जल्दी सोते हुए अपनी पत्नी को कहा कि मुझे सुबह जल्दी उठाना, पत्थर भरने जाना है। ऐसा कहता हुआ उस विचार में सो गया। थीणद्धि निद्रा नामक दर्शनावरणीय कर्म के उदयवाला वह मजदूर मध्यरात्रि में उठा, नींद में ही वह ट्रक लेकर पहाड़ी प्रदेश में पहुँच गया। अन्य कोई मजदूर नहीं आये थे। अतः उसने अकेले ने ही बड़े-बड़े पत्थरों को उठाकर ट्रक भर दिया। जिन पत्थरों को चार जने मिलकर भी उठा न सकते थे उन्हें वह अकेला उठाकर ट्रक भरता गया।

ट्रक भर जाने पर अकेला ही उस भारी ट्रक को मकान पर ले गया, और वहां खाली करके घर आकर बिस्तर में सो गया। सुबह जब पत्नी उठाने तब सारा शरीर पसीने में तर था, एवं भारी गरमी के कारण मानों खील रहा था। नींद से उठकर जल्दबाजी करता हुआ तैयार हो रहा था, इतने में पत्नी ने पूछा कि आप रात में इतनी देर तक कहां गये थे ? पति ने इसका कुछ भी जवाब न देते हुये कहा 'मुझे जल्दी काम पर जाना है, अतः इस समय देरी मत कर, मुझे जाने दे।' इतना कहकर घर से निकल गया और शीघ्र ही काम पर पहँच गया। सभी मजदूर इकट्ठे हुए थे और यह चर्चा कर रहे थे कि पत्थर का यह ट्रक यहां कौन ले आया है ? सभी इन्कार कर रहे थे कि इतने में चौकिदार ने उस मजदूर का नाम बताते हुए कहा यह मजदूर रात को ले आया था। इस प्रकार थीणद्धि निद्रा में वह मजूदर दुगुनी, चौगुनी शक्ति से काम कर रहा था।

वीरवीजयजी महाराज दर्शनावरणीय कर्म की पूजा ढाल में कहते हैं कि –

दिन चिंतित रात्रे करे रे, करणी जे नरनार।
बलदेव नु बल ते समे रे, नरक गति अवतार।।

अर्थात् थीणद्धि निद्रा के उदय से ऐसे कार्य जो भी कोई करते हैं, भले ही वे बलदेव के बल जितनी शक्ति से करते हो, परंतु वे नरक गति में जाते हैं। इस तरह थीणद्धि निद्रा बहुत ही खराब होती है। जीव को नरकगामी बनाती है।

निद्रा से नुकसान :– **पूर्वधर मुनि दुर्गति में गये –**

महान् विद्वान् पूज्य आचार्यदेव के भानुदत्त नामक मुनि अच्छे शिष्य थे। आचार्य महाराज ने खूब परिश्रम से उन्हे १४ पूर्व (धर्मशास्त्रों) का अभ्यास कराया। इस तरह भानुदत्त मुनि भी १४ पूर्वधारी महान् विद्वान् बने। नीतिकार कहते हैं कि लक्ष्मी और विद्या होने के बाद सम्भालनी बड़ी मुश्किल होती है। भानुदत्त मुनि जो कि पूर्वधर महात्मा थे, उन्हें भी प्रमाद आ गया। निद्रा दर्शनावरणीय कर्म का उदय बढ़ता ही गया। फलस्वरूप सूर्यास्त होते ही सिर पर नींद सवार हो जाती थी, आंखे

घेरने लगती थी। गुरुदेव उन्हें बारबार जगाकर सावधान करते हुये कहते थे कि हे पूर्वधर मुनि ! पूर्वों की पुनरावृत्ति कर लो, वरना भूल जाओगे परंतु निद्रा के उदय से प्रमादग्रस्त बने हुये भानुदत्त मुनि गुरु की हितशिक्षा के बावजूद भी क्रोधित हो जाते थे और पूर्वों की पुनरावृत्ति नहीं हो पाती थी। इस तरह काल बीतता गया। शिष्य को क्रोध करते हुये देखकर गुरु ने कहना ही छोड़ दिया। अब कौन कहे? कौन जगाए? प्रमाद और निद्रा इतनी बढ़ी कि सारा प्रतिक्रमण भी नींद में ही बीतने लगा। कब प्रतिक्रमण शुरु हुआ और कब पूरा हुआ? तथा कब क्या बोल गया? और कब कौन क्या बोले? उन्हें कुछ भी पता नहीं चलता था। इस तरह दिन-रात, निद्रा और प्रमाद में बीतने लगे। भानुदत्त मुनि सब कुछ भूल गये। पढ़ा-पढ़ाया सब चौपट हो गय और अंत में वे मृत्यु पाकर दुर्गति में गये। कितना बड़ा भारी नुकसान इस निद्रा ने किया कि पूर्वधर जैसे महाज्ञानी महात्मा को भी दुर्गति में फैंक दिया, तो सोचिये ! हमारे जैसे प्रमादिओं की क्या दशा होगी? इस बात को संबोध सित्तरी प्रकरण में कहते हुए लिखा है कि -

जइ चउदसपुव्वधरो, वसइ निगोएसु णंतय कालं।
निद्दापमायवसगो, ता होहिसी कहं तुमं जीवा ।।

यदि निद्रा-प्रमाद के वश होकर १४ पूर्वधर महापुरुष भी गिरकर दुर्गति-निगोद में चले जाते हैं और बहुत लम्बे काल तक उन्हें वहां रहना पड़ता है तो हे जीव ! तेरे जैसे का क्या होगा? इसका विचार आज से ही कर। वास्तव में निद्रा आलस-प्रमाद से बचना बहुत आवश्यक है। भगवान महावीरस्वामी इन्द्रभूति गौतम जैसे अप्रमत्त आद्यगणधर को भी जागृत करते हुए बारबार कहा करते थे कि 'गोयमा ! समयं मा पमायए ।' हे गौतम! एक समय मात्र भी प्रमाद मत करना ।

दर्शनावरणीय कर्मबंध के कारण :-

कर्मशास्त्र में ८ कर्मों के भिन्न-भिन्न प्रकार के बंध-हेतु बताए गए हैं। कर्म शुभाशुभ प्रवृत्ति से बनते हैं। अशुभ पाप प्रवृत्ति से अशुभ कर्म का बंध होता है, और शुभ-पुण्य प्रवृत्ति से शुभ कर्म का बंध होता है। पाप-अशुभ कर्म फलतः दुखदायी होता है। अतः पुण्य-शुभ कर्म फलतः सुखदायी होता है। अतः कर्म के शुभ और अशुभ ये दो भेद होते हैं। जीव जन्म-जन्मांतर में जैसी शुभाशुभ प्रवृत्ति करता है, वैसे शुभ-अशुभ कर्मों का बंध होता है। बिना किसी राग-द्वेषादि की प्रवृत्ति के कोई कर्म नहीं बंधता है। प्रस्तुत प्रकरण में दर्शनावरणीय कर्म का विचार चल रहा है। अतः यहां दर्शनावरणीय कर्म कैसी पाप प्रवृत्ति से बंधता है? क्या करने से निर्माण होता है? यह जानना बहुत जरुरी है, क्योंकि बिना जाने हम उनका क्षय एवं

संवर भी कैसे कर सकेंगे? जिसका जो कारण होता है, उस कारण का नाश करने से कार्य भी नष्ट हो जाता है। जैसे आग को बुझाने से धुंआं भी नष्ट हो जाता है, बांध के द्वार बंद कर देने से पानी का आगमन भी बंद हो जाता है, वैसे ही कर्म के आगमन रूप जो आश्रवद्वार के हेतु है, उनको यदि बंध किया जाय तो कर्मों का नया निर्माण होना भी बंद हो जाता है। कर्मशास्त्र ग्रंथ में दर्शनावरणीय कर्मबंध के आश्रव निम्न प्रकार बताए गए हैं।

पडिणी अत्तण निन्हव-उवघायपओसअंतराएणं।
अच्चासायणयाए, आवरणदुगं जिओ जयइ ।। (कर्मग्रंथ -१)

तत्प्रदोष-निह्नवा-मात्सर्या-ऽन्तरायाऽऽसादनोपघाताज्ञानदर्शनावरणयोः

१. प्रत्यनीक २. निह्नव ३. उपघात ४. प्रद्वेष ५. अंतराय तथा ६. मात्सर्य आदि मुख्य रूप से ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय दोनों कर्मबंध के आश्रव द्वार हैं।

(१) प्रत्यनीकत्व-शत्रुता की वृत्ति से या वैमनस्य भाव की तरह सर्वथा अनिष्ट आचरण करने वाला प्रत्यनिक कहलाता है अर्थात् ज्ञानी महात्माओं से प्रतिकूल आचरण करता है।

(२) निह्नव - अपलाप करना-छिपाना। जिनके पास अभ्यास करके पढ़ा हो उनका नाम व्यवहार में छिपाना कि 'मैं कहां इनके पास पढ़ा हूँ?' किसी अन्य को ही अपना गुरु बताना, यह निह्नवपना है। अथवा जिज्ञासा भाव से पूछने-समझने आए हुए को भी कहना कि 'मैं कुछ नहीं जानता हूँ', 'मुझे मालुम नहीं है।' इत्यादि वृत्ति निह्नवपना है।

(३) उपघात - गुर्वादिक का घात करना, अपलाप करना, या प्रशस्त ज्ञान-ज्ञानी विगेरे में दोष न होते हुए भी दोष लगाना यह उपघात है, अर्थात् शुद्ध प्ररूपणा में भी अपनी विपरीत मति से दोष लगाना यह उपघात कहलाता है। ज्ञानी के वचनों को असत्य मानना, ज्ञानी को सहायता न करना, ज्ञान के साधनों का नाश करना आदि उपघात प्रवृत्ति है।

(४) प्रद्वेष - ज्ञानी, विद्वान-गुर्वादिक महापुरुषों पर द्वेष बुद्धि धारण करना, द्वेष वृत्ति से व्यवहार करना, तत्त्वज्ञान एवं प्रवचनादि में अरुचि दिखाकर मुंह बिगाड़ना तथा अभ्यास आदि से ऊब जाना, एवं किसी ज्ञानी विद्वान की प्रशंसा आदि सहन न होने पर उनके प्रति द्वेष बुद्धि रखना यह प्रद्वेषवृत्ति है।

(५) अंतराय - किसी को पढ़ने में विघ्न करना, पढ़ने न देना, ज्ञानोपकरण आदि के विषय में भी विघ्न करना, पढ़ते हुए को उठाकर अन्य काम में लगाना, किसी के स्वाध्यायादि में विक्षेप डालना, प्रवचनादि में विघ्न करना आदि प्रवृत्ति अंतराय कहलाती है।

(६) मात्सर्य – अर्थात् ईर्ष्या रखना। पढ़ने आए हुए के प्रति अरे ! यह पढ़कर मेरे से भी ज्यादा होशियार हो जाएगा, मेरे से आगे बढ़ जायेगा, ऐसी ईर्ष्या तथा ज्ञान प्रदान न करने की कलुषितवृत्ति आदि को तथा ज्ञान, ज्ञानी एवं ज्ञानोपकरण आदि के प्रति ईर्ष्यावृत्ति को मात्सर्य भाव कहते हैं। इस तरह ज्ञान, ज्ञानी एवं ज्ञानोपकरण एवं दर्शनी, दर्शनोपकरण आदि की आशातना करना, अपलाप करके अवर्णवादादि-निंदा करना, अपमान करना, ज्ञानी के प्रतिकूल वर्तन ज्ञानी के वचन पर श्रद्धा न रखना, ज्ञानादि का अभिमान करना, अकाल में अध्ययन करना, अभ्यास में प्रमाद करना, शक्ति होते हुए भी न पढ़ना, अनादर करना, मिथ्या उपदेश देना, शास्त्र-सूत्र विरुद्ध बोलना, अर्थोपार्जन हेतु ज्ञान बेचना आदि मुख्य रूप से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय दोनों कर्म बांधने के मुख्य आश्रव द्वार या बंध हेतु है।

दर्शनावरणीय कर्मबंध की स्थिति :–

उपरोक्त बताए हुए कर्मबंध के आश्रव हेतुओं से अशुभ-अशुभतर-अशुभतम परिणाम एवं कषायों की तीव्रता और मंदता तथा शुभाशुभ लेश्याओं आदि के आधार पर जैसी पाप प्रवृत्ति करके जो कर्म उपार्जित किया जाता है उनकी जघन्य तथा उत्कृष्ट बंध स्थिति इस प्रकार पड़ती है।

आदितस्तिसृणामंतरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य परा स्थितिः ॥८–१६॥

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय तथा अंतराय इन कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोटा-कोटी सागरोपम है तथा कम से कम-न्यूनतम-जघन्यस्थिति १२ अंतर्मुहुर्त है। इसकी उत्कृष्ट स्थिति अबाधाकाल ३००० वर्ष का रहती है।

देशघाती-सर्वघाती प्रकृतियाँ :–

दर्शनावरणीय कर्म चार घाती कर्मों के विभाग में दूसरा घाती कर्म कहलाता है। अतः इसकी नौं ही कर्म प्रकृतियां घाती प्रकृतियां कहलाती हैं।

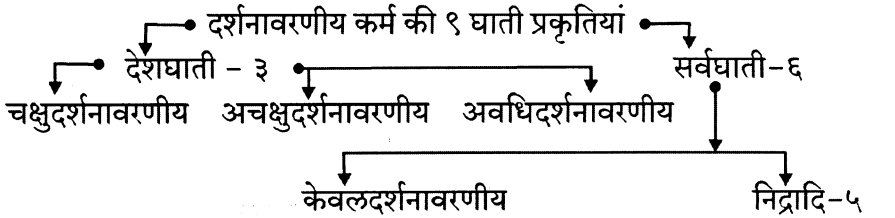

दंसण तिग देसघातियाँ, केवलदर्शन एक।
सर्वघाती ए दाखीओ, बादल मेघ विवेक ॥

इस तरह तीन देशघाती कर्म प्रकृतियाँ है जो आत्मगुण का सर्वांश-सर्वथा

घात नहीं करती है, परंतु केवलदर्शनावरणीय तथा ५ निद्रा ये ६ ही सर्व घाती प्रकृतियाँ है जो आत्मा के दर्शनगुण का सर्वथा-सर्वांशिक घात करती है।

चारों ही दर्शन की चार कर्म प्रकृतियां चक्षुदर्शनावरणीय आदि सभी ध्रुवोदयी है तथा ५ निद्रा आदि अध्रुवोदयी प्रकृतियां है।

बंधोदय सत्ता धुवा, पयडी नव तिम पंच।
निद्दा अधुवोदयी कही, सर्वघाती पण पंच ।।

दर्शनावरणीय कर्म की नौं ही कर्म प्रकृतियाँ ध्रुवबंधी तथा ध्रुव सत्तावाली है। यह बंध, सत्ता, उदय एवं घाती आदि का विचार किया गया है, जिससे यह पता चलता है कि कौनसी कर्म प्रकृति कैसी है।

गुणस्थानकों में बंध-उदय-सत्तादि :-

चक्षुदर्शनावरणीयादि चार दर्शन चतुष्क की ४ कर्म प्रकृतियाँ सूक्ष्मसंपरायनामक दशवें गुणस्थानक पर बंध में से जाती है। स्त्यानर्द्धित्रिक-(थीणद्धि-त्रिक) का पहले मिथ्यात्व गुणस्थानक पर ही बंध होता है, बाद में आगे नहीं होता है। निद्रा और प्रचलाद्विक आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानक पर बंध में से चली जाती है, तथा चक्षुदर्शनवारणीयादि चारों प्रकृतियां उदय, उदीरणा और सत्ता में से १२ क्षीणमोह गुणस्थानक पर चली जाती है। तेरहवें सयोगी केवली गुणस्थानक पर आते मोहनीय के क्षय के बाद ज्ञानावरणीय, अंतराय के साथ दर्शनावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है। अतः सर्वज्ञ केवली वीतराग भगवान केवलदर्शनी सर्वदर्शी तथा अनिद्रालु-सर्वथा निद्रारहित बन जाते हैं। ऐसे केवलज्ञानी-केवलदर्शनी, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी प्रभु को आयुष्य की अंतिम समाप्ति तक के शेष जीवन में नाममात्र भी निद्रा लेने की आवश्यकता नहीं रहती है। अतः केवली केवलज्ञान-दर्शन की प्राप्ति के बाद बिल्कुल नींद नहीं लेते हैं। उसी तरह इन्द्रियों से देखना-जानना आदि व्यवहार करने की भी कोई अनिवार्यता नहीं रहती है। आंखें खोलकर न भी देखें तो भी चलता है। क्योंकि सर्वावरण रहित केवलज्ञान-दर्शन पूर्ण-सम्पूर्ण रूप से प्रकट हो चुका है। अतः बिना चक्षु आदि इन्द्रियों के सभी पदार्थ, सारा जगत, लोक-अलोक आदि स्पष्ट दिखाई देता है। फिर भी व्यवहार से जो इन्द्रियां है उनकी क्रिया चलती रहती है।

भगवान महावीर की नाममात्र नींद :-

चरम तीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामी भगवान का जीवन चरित्र जो शास्त्रों में उपलब्ध है, उसमें महापुरुषों ने एक विशेष बात ऐसी लिखी है कि भगवान महावीरस्वामी ने ३० वर्ष की आयु में दीक्षा ली, एवं १२।। वर्ष तक छद्मस्थ

अवस्था के काल में उग्रतम घोर तपश्चर्या की है। उस काल में मात्र दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनिट ही नींद ली है १२।। वर्ष के काल में सिर्फ कुल ३४९ दिन ही आहार लीया था, और शेष दिन उपवासादि की तपश्चर्या की थी। १२।। वर्ष की तपश्चर्या के काल में उनकी ध्यान साधना एवं विहार आदि भी उग्रतम रहे हैं। शास्त्रकार महर्षि लिखते हैं कि 'भूमि न ठाया हो जिननी' भगवान १२।। वर्ष के काल में पालखी लगाकर जमीन पर बैठे तक नहीं, एवं नींद भी नहीं ली। एक बार खड़े-खड़े प्रमादवश मात्र दो घड़ी = ४८ मिनिट नींद आ गई। वह भी यक्ष के उपसर्ग के बाद थकने के कारण ही। यह भगवान के जीवन की अंतिम नींद थी। अपने छद्मस्थ काल में प्रभु इतने ज्यादा सजाग एवं सावधान रहे कि निद्रा कर्म के आधीन भी नहीं हुए।

ऊपर से निद्रा के कारणभूत दर्शनावरणीय आदि कर्मो के क्षय करने की साधना में सतत लगे रहे। इस तरह जब दर्शनावरणीय कर्म (नींद) का उदय था तब प्रभु ने सावधान रहकर उसे हटाया है, और अंत में जाकर जब चारों घनघाती कर्मों का क्षय कर दिया तथा उसके परिणामस्वरूप जब केवलज्ञान - केवलदर्शन एवं वीतरागता आदि प्राप्त कर लिए तब नींद का प्रश्न ही नहीं रहा क्योंकि दर्शनावरणीय के सर्वथा - सम्पूर्ण क्षय हो जाने के बाद तेरहवें गुणस्थानक पर नींद कभी भी नहीं आती है। इस तरह ७२ वर्ष के आयुष्य में से तीस वर्ष गृहस्थाश्रम के काल में जितनी नींद ली हो वही उनके जीवन की नींद थी। शेष ४२ वर्ष के चारित्र पर्याय में मात्र छद्मस्थावस्था में दो घड़ी नींद ही रही और शेष निद्रा के त्याग का काल रहा। यह कितना उच्च कक्षा का आदर्श है ? हमें भी इसमें से बोध लेना चाहिये।

दर्शनावरणीय कर्मजन्य रोगादि स्थिति :-

पूर्व में बताए गए दर्शनावरणीय कर्मबंध के आश्रव व्दारों से जीव जिस तरह कर्म बांधता है, उसी तरह वे कर्म उदय में भी आते हैं। कर्मशास्त्र का नियम ही है कि 'जैसा करेंगे वैसा ही भरेंगे' जैसे पाप किये हैं वैसे ही फल भुगतन पड़ते हैं। जैसा और जितना परीक्षा में लिखा हो वैसा ही फल उतने ही नम्बर मिलते हैं। पास-फेल का परिणाम उसके आधार पर ही होता है। उसी तरह सुख दुःख का आधार शुभाशुभ कर्मों पर ही है। किसी से उधार लिया हुआ धन समय आने पर चुकाना ही पड़ता है। ठीक उसी तरह बांधे हुए कर्म समय पर भुगतने ही पड़ते हैं। अनेक तरीकों से बांधा हुआ दर्शनावरणीय कर्म उदय में आने पर अनेक तरीकों से दुःखी होकर भुगतना पड़ता है। यह कर्म किस-किस रूप से उदय में आता है? तथा कैसी स्थिति निर्माण करता है? इसका चित्र पूज्य वीरविजयजी महाराज ने पूजा की ढाल में दर्शाया है।

ए आवरण बले करी, न लह्युं दर्शन नाथ।
नैगम दर्शने भटकीओ, पाणी वलोव्यु हाथ ।।

हे प्रभु ! दर्शनावरणीय कर्म के आवरण के कारण मैं आपका दर्शन प्राप्त नहीं कर सका। नैगमनयादि रूप एकांत दर्शनों में मैं भटकता ही रहा, परंतु आपका सही दर्शन नहीं पा सका। वास्तव में इस संसार में हाथों से पानी मंथन करने का काम किया जिसमें कुछ भी नहीं मिला।

चक्षुदर्शनावरण कर्म ते, बांधे मूढ गमारी ।
काणां निशदिन जात्यंधापणु, दुखिया दीन अवतारी ।
दर्शनावरण प्रथम उदये थी, परभव एह विचारी ।
अल्प तेज नयनातप देखी, जुए आडो कर धारी ।
जाण पूरवभव कुमतिनी, हजीय न टेव विसारी ।।

जो मूर्ख, अज्ञानी, गंवार दर्शावरणीय कर्म बांधता है वह और वैसे प्राणी चक्षुदर्शनावरणीय आदि कर्म के उदय से जन्मांतर में काणे, रात तथा दिन के अंधे, जन्मजात अंधे, दुःखी तथा दीन स्थिति वाले बनते हैं, आंखें बहुत कमजोर होती है, दृष्टि तेज नहीं होती है, धूप में आंखों के सामने हाथ रखकर देखना पड़ता है। इससे ऐसा लगता है कि कुमति जीव पूर्वभव की आदतों को अभी भी नहीं भूले हैं। उसी तरह अचक्षु-दर्शनावरणीय कर्म के उदय के कारण जीवों को चक्षु अतिरिक्त अन्य चार इन्द्रियां मनादि न्यूनाधिक प्राप्त होते हैं। तथा जो इन्द्रियां प्राप्त होती है उनमें भी पूर्णता न रहकर विकलता रहती है। अतः वे रोग जन्य स्थितियां पैदा करती है। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय के जीवों का चक्षुदर्शनावरणीय कर्म इतना गाढ होता है कि उन्हें चक्षु सर्वथा मिलती ही नहीं है, और चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय को चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशमभाव से जो इन्द्रियां प्राप्त होती है उसमें भी यदि क्षयोपशम प्रमाण में कम हो तो मिली हुई इन्द्रियां तेजहीन, कमजोर, विकल तथा अशक्त प्राप्त होती है। अवधि -दर्शनावरणीय आदि कर्म के उदय में भी तथाप्रकार के क्षेत्रादि तक रूपी पुद्गल पदार्थों के देखने की शुद्धि नहीं रहती है। अवधिदर्शनावरणीय एवं केवलदर्शनावरणीय कर्म के सम्पूर्ण रूप से उदय में रहने से आत्मा का अवधिदर्शन एवं केवलदर्शनगुण सर्वथा ढका हुआ-दबा हुआ रहता है। केवल-दर्शनावरणीय कर्म प्रकृति वैसे भी सर्वघाती होने से सर्वथा उस गुण को ढककर रहती है। निद्राओं के उदय के कारण जीवों को अल्पादिक निद्रा-तंद्रा आदि उदय में रहती है। आलस्य-प्रमादादि से जीव ग्रस्त रहते हैं। निद्रा आदि के रोग के कारण पीड़ित रहते हैं। इस प्रकार दर्शनावरणीय कर्म के उदय के कारण पीड़ित रहते हैं। इस प्रकार दर्शनावरणीय कर्म के उदय के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार की रोगादि की स्थिती बनती है।

दर्शनावरणीय कर्मक्षय के उपाय -

पूरण दर्शन पामवा, भजिए भवी भगवंत ।
दूर करे आवरणने, जिम जल थी जलकांत ।।

वीरविजयजी महाराज ने पूजा की ढाल में ऐसे दूरंत दर्शनावरणीय कर्म को कैसे खपायें, कैसे इसका नाश करें, इस विषय में काफी लिखा है। कहते हैं कि अब पूर्ण रूप से दर्शन प्राप्त करने के लिए, हे जिनेश्वर भगवंत ! हम पूर्ण मन से आपकी भक्ति करें, जिससे जैसे जलकांत मणि से जल दूर हो जाता है, वैसे ही सर्वदर्शनी भगवंत के दर्शन से मेरे दर्शन का आवरण दूर हो जाएगा।

दर्शनावरण निवारण कारण अरिहाने अभिषेक रे,
नमो रे नमो दर्शनदायक ने

इस दर्शनावरणीय कर्म निवारण के लिए मैं अरिहंत परमात्मा का अभिषेक करूं, और ऐसे दर्शनदायक प्रभु को मैं बारबार नमुं-नमस्कार करता हूँ।

उपदेशक नव तत्त्वना, प्रभु अंग उदार ।
नव तिलके उत्तर नव-पगइ टालणहार ।।

श्री जिनेश्वर भगवंत ! नवतत्त्वों के उपदेशक हैं, अतः प्रभु के नौ अंगों पर पूजा करते हुए नौं तिलक करने से दर्शनावरणीय कर्म की नौं प्रकार की उत्तर प्रकृतियां नष्ट होती है। अतः प्रभू पूजा-भक्ति कर्मक्षयकारक है।

जयणावंत गुरु आगम पूजो, जिनपडिमा जयकारी ।

हे भव्य प्राणियों ! आप जयणा सहित जयवंती जिन प्रतिमा, सद्गुरु और जिन आगम की अच्छी तरह भावपूर्ण पूजा-भक्ति आदि करो जिससे कर्मबंध टूटे, यह कर्मक्षय करने का उत्तम उपाय है।

गुण बहुमान जिनागम वाणी, काने धरी बहुमाने जी।
द्रव भाव बहिरातम टाली, पर भव समजे साने।।
प्रभु गुण गावे ध्यान मल्हावे, आगम शुद्ध प्ररूपेजी।
मूरख मूंगा न लहे पर भव, न पड़े वली भवकूप ।।
परमेष्ठी ने शिश नमावे, फरसे तीरथ भावेजी ।
विनय वैयावच्चादिक करतां, भरतेश्वर सुख पावे ।।
जिमजिम क्षय उपशम आवरणां, तिमगुण अभिभावेजी।
श्री शुभवीर वचनरस लब्धे, संभिन्न स्त्रोत जणावे ।।

परमात्मा के गुणों का जो अत्यंत आदर भाव से सन्मान करे, तथा परमात्मा की 'जिनवाणी' प्रवचन का आदरभाव से श्रवण करे; वह प्राणी द्रव्य तथा भाव से बहिरातम भाव को कम या दूर करके जन्मांतर में इशारे में समझ जाए ऐसी

चक्षु, कान, मनादि इन्द्रियां प्राप्त करता है। जो प्राणी प्रभु के गुणगान गाता है, प्रभु का ध्यान धरता है, तथा आगम का शुद्ध प्रतिपादन करता है वह जीव जन्म, जन्मांतर में भी मूर्ख, गूंगा, बहरा आदि बनता नहीं है, तथा भव कूप में अर्थात् संसार परिभ्रमण चक्र में नहीं गिरता है। जो प्राणी पंचपरमेष्ठी भगवंतों को मस्तक झुकाता है अर्थात् नमता है, तथा भाव पूर्वक तीर्थ यात्रा आदि करता है, और मुनि भगवतों की सेवा, वैयावच्च, सुश्रुषा तथा विनयादि करता है वह भरत चक्रवर्ती की तरह अनेक प्रकार के सुख प्राप्त करता है। भरत चक्रवर्ती ने पूर्व जन्म में पांच सौ मुनिराजों की विनय वैयावच्चसेवा आदि करके चक्रवर्तीपना प्राप्त किया था) जैसे-जैसे अचक्षु दर्शनावरणी आदि दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृति का क्षयोपशम बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे आत्मा के दर्शनगुण का अविर्भाव होता है। श्री शुभवीर महाराज कहते हैं कि परमात्मा के वचन रूप रस में निमग्नलीन होने से श्रोतादि लब्धियां प्राप्त होती हैं जिससे जीव को सम्पूर्ण शरीर से पांचों इन्द्रियों का बोध होता है।

निद्रा दुग दल छेदवा, करवा निर्मल जात। अक्षत निर्मल पूजना, पूजो श्री जगतात

दोनों निद्रा के कर्म पुद्गलों का छेदन करने के लिए, तथा आत्म भाव को निर्मल करने के लिए, निर्मल अक्षत से जगत के तातरूप प्रभु की अक्षत पूजा करो।

विविध फले प्रभु पूजतां, फल प्रकटे निर्वाण।
दर्शनावरण विलय हुवे, विघटे बंधनां ठाण।।

विविध प्रकारों के फलों से प्रभु की फल पूजा करते हुए निर्वाण रूप फल प्राप्त हो, और दर्शनावरण कर्म का विलय हो, तथा सभी बंधस्थान नष्ट हो ऐसी भावना रखी है।

इसी प्रकार वीतराग प्रभु के धर्म की उपासना विविध रूप से करते हुए हम अनेकं तरीकों से दर्शनावरणीय आदि कर्मों का क्षय-उपशम तथा क्षयोपशम आदि कर सकते हैं। इन कर्म के क्षय से ही अनंतदर्शनादि गुणों का आविर्भाव होता है। हमारे जैसे संसारी छद्मस्थ जीवों को कर्म क्षय के शुभभाव निर्माण हो और 'सव्व पावप्पणासणो' सर्व पाप कर्मों के नाश की दिशा में अग्रसर होते हुए हम आत्मा की शुद्ध-विशुद्ध-सच्चिदानन्द-पूर्णावस्था को प्राप्त करें, पूर्णदर्शनी-अनंतदर्शनी बनें इसी शुभ मनोकामना के साथ -सर्व समाप्तम्।।

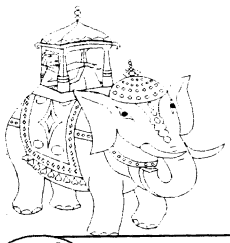

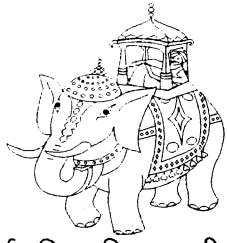

अट्ठ कम्माई वोच्छामि, अणुपुव्विं जह कम्मं ।
जेहिं बद्धे अयं जीवे, संसारे परित्ताए ।।१।।
नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ।।२।।
नाणकम्मं च गोअं च, अन्तरायं तहेव य ।
एवमेवाइ कम्माइं, अट्ठेव य समासओ ।।३।।

(उत्तरा.अ.३३ श्लोक-१-३)

जैन आगम साहित्य में पवित्रतम माने गये एवं श्री महावीर प्रभु की अन्तिम देशनारूप श्री उत्तराध्ययन सूत्र के ३३ वे कर्मप्रकृति नामक अध्ययन में ८ कर्मों की मीमांसा की गई है । ऊपर दिये गए श्लोकों में प्रथम ही आठ कर्मों का नामोल्लेख पूर्वक निर्देश किया गया है । **अट्ठ कम्मइं वोच्छामि आणुपुव्विं** क्रम है एसा कहकर आठों कर्मो के नाम आगे दो श्लोको में गिनाए है । जिनमें क्रम इस प्रकार है :- १) ज्ञानवरणीय कर्म २) दर्शनावरणीय कर्म ३) वेदनीय कर्म ४) मोहनीय कर्म ५) आयुष्य कर्म ६) नाम कर्म ७) गोत्र कर्म ८) अन्तराय कर्म । इस प्रकार क्रमशः आठे कर्म बताए गए है, तुा उनका क्रम इस तरह से रखा गया है । उदाहरणार्थ श्री प्रशमरति प्रकरण ग्रन्थ, कर्मग्रन्थ, नवतत्त्व प्रकरण एवं तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में उमास्वाती महाराज ने सूत्र रचना में यही क्रम रखा है, तथा इसी क्रम के आधार पर श्री वीरविजयजी महाराज ने चौसठ प्रकारी पूजा भी बनाई है । प्रशमरति प्रकरण में -

सज्ज्ञान- दर्शनावरण-वेद्य-मोहायुषां तथा नाम्नः ।
गोत्रान्तराययोश्चेति कर्मबन्धोष्टधा मौलः ।।
इह नाण-दंसणावरण-वेअ-मोहाउ-नाम-गोआणि ।
विग्घं च पण-नव-दु-अट्ठविसं-चउ तिसय दु पणविहं ।।

इस तरह आपाततः देखने पर विविध ग्रन्थों में इसी क्रम से ८ कर्मो का उल्लेख किया गया है । क्रम का विशेष रहस्य तो ज्ञानी ही जाने । फिर भी उपन्यासक्रम इस प्रकार दर्शाया है - **''चेतना लक्षणो जीवः''** अर्थात् ज्ञानदर्शन रूप चेतनावान् जीव कहलाता है ।

अजीव से जीव को सर्वथा भिन्न करने वाला मुख्य भेदक गुण ज्ञान-दर्शन है। ये ही जीव के प्रधान प्रथम गुण है। साकारोपयोग-विशषोपयोग रूप ज्ञान तथा निराकारोपयोग-सामान्योपयोग रूप दर्शन है। ऐसे ज्ञान का आवरक ज्ञानावरणीय कर्म है। ज्ञान से जाने हुए पदार्थ को देखने की 'दर्शन' शक्ति का जो आच्छादक है वह दर्शनावरणीय कर्म है। ज्ञान मुख्य होने से प्रथम क्रम पर ज्ञानावरणीय कर्म और दूसरे क्रम पर दर्शनावरणीय कर्म कहा है। ज्ञान और दर्शन केये दोनों आवरणरूप ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय अर्थात् अज्ञान और अदर्शन अपना विपाकसुख-दुःख रूप दिखाते है। ज्ञानी सुख और अज्ञानी दुःख प्राप्त करता है। ऐसे सुख-दुःख का वेदन-संवेदन करने के लिए उनके बाद तीसरे क्रम पर वेदनीय कर्म को विपाक के हेतु रूप बताया है। ऐसी शाता और अशाता रूप सुख-दुःख की वेदना में जीव को प्रिय - अप्रिय अर्थात् राग-द्वेष उत्पन्न होता है। राग के कारण मोहदशा उत्पन्न होती है। न मिलने पर द्वेष में कषाय की वृत्तियां बनती है। अतः चौथे नम्बर पर राग-द्वेष करने-कराने वाला मोहनीय कर्म बताया है। ऐसे मोह में मोहित हुए जीव राग-द्वेषादि के कारण रागादिमान पदार्थों को प्राप्त करने के लिए आरम्भ-समारम्भ आदि अनेक पाप करके उस पाप की सजा को भोगने केलिए नरक-तिर्यंचादि गति का आयुष्य बांधता है। आयुष्य कर्म बांधे बिना अन्य गति में जीव जा नहीं सकता। अतः मोहनीय कर्म केबाद पांचवे क्रम पर आयुष्य कर्म का नम्बर रखा है। एक जन्म से अन्य जन्म में जाने के लिए सबसे पहले आयुष्य की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे आयुष्य रूप नीयत काल की अवधि को लेकर जीव नरक-तिर्यंचादि चारों गति में जाता है। वहां उन गतियों में रहने केलिए उसे गति-जाति-इन्द्रियां, शरीर अंगोपांग, सूक्ष्मपना या स्थूलपना, यश-कीर्ति आदि प्रथम आवश्यकता रूप में अवश्य ही चाहिए। अतः आयु के बाद गति - जाति का कर्ता नामकर्म को छट्ठे क्रम पर रखा गया है। यह चित्रकार की तरह सारा शरीर सजाकर देता है। अब नामकर्म के कारण जीव जिस गति-जाति में गया है, वहां रहने के घराना - गोत्र - कुल - वंशादि भी तो चाहिए। बिना उसके जीव कहां जन्म लेगा। अतः गोत्र-वंश-खानदान घराना, कुल-जाति आदि व्यवस्था करने वाला गोत्रकर्म सातवें क्रम पर काम करता है। अंत में ऐसे उच्च-नीच-गोत्र-घराने में गए हुए जीव को वहां पर धन,संपत्ती, वस्त्र, पात्र, भोजन-पानी, स्त्री - पुरुष, पुत्र-पौत्रादि परिवार या दान - लाभादि शक्तियां और भोग्य-उपभोग्य साधन सामग्रियां तथा शारीरीक शक्ति-बल आदि चाहिए। वह कर्मानुसार कम ज्यादा मिलेंगे या नहीं मिलेंगे यह व्यवस्था अन्तराय कर्म के आधार पर होती है। अतः अन्तिम आठवें क्रम पर अन्तराय कर्म आता है। यह अन्तराय कर्म दान-लाभादि की व्यवस्था का नियामक है। अतः यह इस प्रकार काम करता है

। इस तरह आठों कर्मों का क्रम विचारा गया है । ये आठों ही मिलकर जीव के लिए सारा संसार खड़ा कर देते हैं । संसार की व्यवस्था में और कुछ शेष नहीं रहता है। अत: आठ कर्म केबाद किसी नवें कर्म की आवश्यकता नहीं पड़ती है । अत: कर्म आठ ही है तथा आत्मा के प्रधान मुख्य गुण भी आठ होने से उनकेआवरककर्म की संख्या भी आठ ही है । इन आठ कर्मों में घाती और अघाती नाम के दो विभाग किये जाते हैं ।

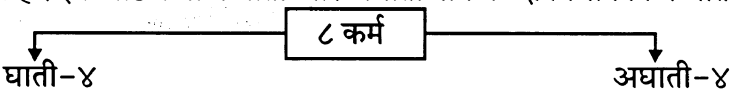

घाती के विभाग में ४ कर्म और अघाती के विभाग में अन्य चार कम आते है जिनका नामोल्लेख उपरोक्त तालिका में किया गया है । घाती-अघाती के भेद समझाते हुए उपरोक्त क्रम बदलकर चार कर्मों को एक तरफ घाती कर्म के विभाग में और शेष चार कर्मों को दूसरी तरफ अघाती कर्म के विभाग में रखा गया है। अत: सामान्यरूप से ८ कर्मों का नामनिर्देश उत्तराध्ययन सूत्र आदि ग्रंथो में बताए गए क्रमानुसार किया गया है, तथा घाती-अघाती के दृष्टिकोण से ८ कर्मों का क्रम इस प्रकार है :- १) ज्ञानावरणीय कर्म २) दर्शनावरणीय कर्म ३) मोहनीय कर्म ४) अंतराय कर्म ५) नाम कर्म ६) गोत्र कर्म ७) वेदनीय कर्म ८) आयुष्य कर्म ।

'नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा '

आदि श्लोकों से बताये गये आत्मा के भिन्न-भिन्न गुणों के क्रम कुछ भिन्न प्रकार से ही मिलेंगे । आत्मा के गुण आठ हैं । अत: उन आठ गुणों के आच्छादक-आवरक कर्म भी आठ है ।

आत्मा के ८ गुण		आवरक ८ कर्म
१) अनंतज्ञानगुण	-	ज्ञानावरणीय कर्म
२) अनंतदर्शनगुण	-	दर्शनावरणीय कर्म
३) अनंतचारित्र-यथाख्यातचारित्रगुण	-	मोहनीय कर्म
४) अनंतवीर्य (शक्ति) गुण	-	अंतराय कर्म
५) अनामी-अरूपीपना गुण	-	नाम कर्म
६) अगुरूलघुपना गुण	-	गोत्र कर्म
७) अनंत-अव्याबाधसुख गुण	-	वेदनीय कर्म
८) अक्षयस्थिति गुण	-	आयुष्य कर्म

इस तरह ८ कर्मों की क्रम विचारणा दोनों तरीकों से की गई है । प्रस्तुत 'कर्म की गति न्यारी' नामकपुस्तिका में घाती-अघाती केदृष्टिकोण को अपनाया है । अत: प्रमुख रूप से कर्मग्रंथादि से प्राप्त क्रमानुसार तीसरें कर्म पर वेदनीय कर्म का क्रम प्राप्त था, तथापि हमने यहां पर मोहनीय कर्म का विषय लिया है ।

अनंत चारित्र – यथाख्यात स्वरूप :

पूर्व पुस्तिका में आत्मा के ज्ञान-दर्शन गुणों का विवेचन किया गया है। अनंत ज्ञान-दर्शन गुण के बाद आत्मा का अत्यंत महत्वपूर्ण तीसरा गुण है – अनंतचारित्र। चारित्र गुण को ही स्वभाव रमणता, स्वगुण रमणता, यथाख्यात चारित्र आदि भिन्न-भिन्न नामों से कहा जाता है। वस्तु का स्व-स्वरूप में ही रहना अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। यदि स्वरूप ही बदल जाय तो वस्तु विकृत हो जाती है।अनादि अनंत काल तक आत्म द्रव्य का अस्तित्व सर्वथा नष्ट न होने देने का काम यह गुण करता है। अत: इस गुण ने आत्मा का स्वस्वरूप बनाए रखा है। आत्मा स्व-स्वरूप से सर्वथा राग-द्वेषादिभाव रहित है,सर्वथा विषकषाय वृत्ति रहित है। अर्थात् वीतराग-वीतद्वेष तथा निष्कषाय एवं निर्विषय स्वरूप आत्मा का मूलभूत शुद्ध स्वरूप है। आत्मा के स्व-स्वरूप की पहचान इस अनंत चारित्र गुण से होती है। यथाख्यात का अर्थ है कि – यथा अर्थात् जैसा, ख्यात अर्थात् कहा गया है। जैसा सर्वज्ञ-केवलज्ञानी भगवान ने आत्मा का शुद्ध स्वरूप कहा है, उसी शुद्ध स्वरूप में रहना यथाख्यात चारित्रगुण कहलाता है। जैसा मोक्ष में आत्मा का सर्व कर्म रहित शुद्ध स्वरूप होता है, वैसा सभी आत्माओं का मूलभूत स्वरूप है, परंतु संसारी जीव राग-द्वेषादि की प्रवृत्ति में फंसकर अपनी स्वभाव रमणता एवं स्वगुण रमणता को भूल जाता है, और अपने शुद्ध स्वरूप को विकृत कर देता है। इन राग, द्वेष विषय-कषायादि भावों से आत्मा कर्म केभार से भारी होती जाती है आत्मा केइस अनंतचारित्रगुण को ढकने वाले मोहनीय कर्म केकारण आत्मा स्व-स्वभाव भूल जाती है, और विभावदशा में गिर जाती है। अपने ज्ञानादिक गुणों को भुलकर आत्मा अज्ञानादि में प्रवृत्ती करने लगती है। निजानंद-सच्चिदानंद स्वरूप को भुलकर आत्मा पुद्गलानंदी बनती है। क्षमा, समता, नम्रता आदि गुणों को भुलकर आत्मा क्रोधादि कषाय वाली बन जाती है। इस तरह यथाख्यात चारित्र स्वरूप या स्वगुण रमणता स्व-स्वभाव रमणता स्व-स्वभाव रमणता आदि जो आत्मा के मूलभूत गुण है, वे मोहनीय कर्म से ग्रस्त होकर -दबकर विकृत हो जाते हैं।

मोहनीय कर्म : –

संसारी जीव की राग-द्वेष, विषय- कषाय आदि की प्रवृत्ती से उत्पन्न यह मोहनीय कर्म आत्मा को स्वेतर-आत्मेतर अर्थात् आत्मा से भिन्न अतिरिक्त जो पर पदार्थ हैं, उनमें मोहित करता है। संस्कृत के 'मुह्' धातु से मोह शब्द बना है। **'मुह्यंति जन्तव: अनेन इति मोह:'**। जिससे जीव मोहित होता है उसे मोहनीय कर्म कहते है। जबकि आत्मा का मूलभूत स्वभाव पर पदार्थ में मोहित होने का नहीं है। स्वभाव रमणता और स्वगुण रमणता केमूलभूत गुण से आत्मा स्वस्वरूप में, स्वगुणों

में ही मस्त-लीन रहनी चाहिए। निज में ही आनंद मानना निजानंद स्वरूप है, परंतु मोहनीय कर्म केप्रबल आघात से यह सब छूट जाता है और आत्मा पर पुद्गल पदार्थों में आनंद मानने लग जाती है। इस तरह निजानंदी आत्मा मोहनीय कर्म के कारण पुद्गलानंदी बन जाती है। कदम-कदम पर मोह ग्रस्त आत्मा अपने आपको भूलकर अन्य पदार्थों में ही मोहित होती जाती है। अन्य पदार्थों का ही उसे आकर्षण (राग) लगा रहता है। उनके संयोग वियोग में सुखी-दु:खी रहती है, उन्हीं के निमित्त राग-द्वेष करती है, और विषय-कषाय खड़े करती है। इस प्रकार मोहनीय कर्म में दबी हुई आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को विकृत कर देती है।

मोहनीय कर्म को उपमा :- 'मज्जं व मोहणीयं' -

कर्मग्रंथकार पूज्य देवेन्द्रसूरि महाराज ने कर्मग्रंथ में **'मज्जं व मोहणीयं'** शब्द का प्रयोग करके मोहनीय कर्म को मदिरा तुल्य बताया है, मदिरा की उपमा दी है। विकृति एवं विपरीतता ही सभ्यता के आधार पर मोहनीय कर्म और मदिरा में सादृश्यता दिखाते हुए तुलना की है। जैसे मदिरा-शराब सब काम विपरीत कराती है, वैसे ही मोहनीय कर्म भी आत्मा को सब कुछ विपरीत ही कराते हुए विभाव दशा में रखता है। किसी ने शराब पी हो तो, वह व्यक्ति अपने परिवार में सबसे विपरीत व्यवहार करता है, शराब के कारण उसका ज्ञान कुंठित होकर अज्ञान दशा में परिणत होता है और वह मोहित होकर पत्नी को मां और मां को पत्नी समझने लगता है और उनके साथ वैसा व्यवहार करने लगता है। यह कितना विपरीत-गलत व्यवहार है। मां के साथ पत्नी जैसा व्यवहार करे और पत्नी के साथ मां के जैसा व्यवहार करे, यह कितना उल्टा व्यवहार होगा?

ठीक वैसे ही मोहनीय कर्मग्रस्त आत्मा, जो पुद्गल पदार्थ अपने नहीं है, उन्हें अपना मानने लगती है, और जो अपने ज्ञान-दर्शनादि गुण हैं उन्हें भूलकर अन्य पदार्थों मे अपनी ममत्त्व बुद्धि रखती है। अपना है उसे अपना न मानकर, पराये में ममत्व बुद्धि रखकर उसे अपना मानने की वृत्ति मोहनीय कर्म की हैं। इस तरह जो पत्नी नहीं उस 'मां' को पत्नी मानने की विपरीत प्रवृत्ति वाले शराबी के जैसा ही मोहनीय कर्म है। अत: महापुरुषों ने यह उपमा उचित ही दी है।

मोहदशा की प्रवृत्ति :-

मोहनीय कर्म ग्रस्त संसारी आत्मा संसार में हमेशा ही मोह-ममत्व प्रधान व्यवहार करती है। उसके सारे व्यवहार में 'ममत्त्व' की मेरेपने की गंध आती है। यहां तक किवह हर घड़ी 'मैं और मेरा' - 'मैं और मेरा' करती रहती है। मानो 'मैं और मेरा' उसका जप मंत्र ही बन गया हो। इस बात को 'ज्ञानसार अष्टक' में

उपाध्यायजी महाराज इस तरह कहते हैं कि 'अहं ममेति' मंत्रोऽयं मोहस्य जगदान्ध कृत्। '' मैं और मेरा'' यह मोहनीय कर्म का मूल मंत्र जगत के सभी जीवों को मोह में अंधा बता देता है। संसार में जीव जितना भगवान के मंत्र का जप नहीं करता है, शायद उससे हजार गुना ज्यादा जप वह मोहनीय कर्म के इस मंत्र का करता होगा। संसार में रह स्पष्ट दिखाई देता है कि प्रत्येक व्यक्ति कदम-कदम पर 'मैं और मेरा' की बात करता है, व्यवहार करता है। इतना ज्यादा करता है कि मानो वह मोहनीय कर्म का मंत्र ही जप रहा हो। चाहे वह जिस किसी भाषा को बोलने वाला हो, किसी भी देश या धर्म विशेष का क्यों न हो, पर वह अपनी-अपनी भाषा में 'मैं और मेरेपन का व्यवहार करता रहता है -

हिन्दी में	-	मैं और मेरा !
गुजराती मां	-	હું અને મારું
मराठी में	-	मी आणि माझा
संस्कृत में	-	अहम् मम।
अंग्रेजी में	-	I & MY

भिन्न-भिन्न देशों की भाषा भले ही भिन्न हो, शब्द रचना भले ही भिन्न हो, परंतु मोहनीय का ममत्व सर्वत्र एक सा ही है। सभी के शब्दों में मोह - ममत्व की गंध एक सी ही रहती है। व्यक्ति अपने दैनिक व्यवहार में मैं जाउंगा, मैं सोऊंगा, मैं बैठूगा, मैं करूंगा, मैं पीऊंगा, मैं बोलूंगा, मैं आउंगा आदि तथा मैंने ऐसा किया है, मैंने वैसा किया है, यह मैंने बनाया है, इसे मैने लगाया है आदि व्यवहार में बोलते हुए मैं मैं का व्यवहार इतना ज्यादा करता है कि मानों बकरी की तरह मैं...मैं...मैं...मैं.. करता रहता है। उसी तरह बार - बार मेरा घर-मेरा मकान, मेरा पुत्र, मेरा पौत्र, मेरी पत्नी, मेरी गाडी, मेरा पैसा, मेरा कपडा, मेरी दुकान, मेरी संपत्ति, मेरी सत्ता, मेरी गद्दी, मेरा शरीर, मेरे पिता इस तरह प्रत्येक वस्तु में वह बार-बार मेरेपन का ममत्व दिखाता हुआ सैंकडों बार बोलता रहता है। अतः सारा संसार मनुष्यने मोहनीय कर्म का ही बना दिया है। जिसमें सतत मोह-ममत्व की गंध आती रहती है मैं और मेरा यही स्पष्ट मोह दशा है।

हमारा यह व्यवहार सही है या गलत है ? आत्मा के अनंत चारित्र स्वगुण, स्वभाव स्वरूप रमणता गुण के दृष्टिकोण से देखा जाय तो यह मैं और मेरेपन की प्रवृत्ति बिल्कुल गलत है। यह मोहनीय कर्म की प्रवृत्ति है। जीव सर्वथा विभाव-विपरीत प्रवृत्ति में मोहित हुआ है। मोहनीय कर्म से ग्रस्त होकर जीव जो मेरा है उसे मेरा नहीं मान रहा है और जो मेरा नहीं है उसे मेरा मान रहा है। यह कितना गलत है ? महापुरूषों ने हमें सावधान करते हुए यह कहा है कि -

आप स्वभाव मां रे, अवधू सदा मगन में रहना ।
जगत जीव है करमाधीन, अचरिज कछुए न लीना ।।१।।
तुं नहि केरा, कोई नहीं तेरा, क्या करे मेरा मेरा ।
तेरा है सो तेरी पास अवर सब अनेरा ।। आप.।।२।।

हे जीव! अपने मूलभूत स्व-स्वभाव में लीन रहना अर्थात् चारित्र की स्वभाव रमणता में मस्त रहना । क्षमा, समता आदि अपने गुणों में मस्त रहना । संसार को देखकर निरर्थक कर्म मत बांधना, क्योंकि संसार में सभी जीव कर्माधीन है । दर्माधीन जीवों की राग-द्वेष की प्रवृत्तियां देखकर कोई आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं है । अतः अपने आप को संसार से अलिप्त रखकर में लीन रहना । संसार में ज्यादा मोहदशा भी मत रखना क्योंकि इस संसार में कोई किसी का नहीं है, न तूं किसी का है और न ही तेरा कोई है । निरर्थक मेरा-मेरा करके दु:खी मत होना । संसार मात्र स्वार्थ का सगा है । इसलिए हे जीव ! समझ ले कि जो कुछ तेरा है वह तेरे पास ही है, और जो तेरे पास नहीं है अर्थात् बाहरी है वह तेरा नहीं है । अनंत ज्ञान-दर्शना, चारित्रादि जो तेरे मूलभूत गुण हैं वे तेरे पास ही हैं, अर्थात् तेरे में ही हैं । उन्हें बाहर ढूंढने जानज की जरूरत नहीं है । कस्तूरी नाभि में होते हुए भी हिरन बाहरी दुनियां में दौड़ता रहता है । यह उसकी अज्ञानता है । अंत में वह बहुत दु:खी होता है । वैसे ही ज्ञान-दर्शन-चरित्र आदि गुणों का खजाना आत्मा में ही होते हुए भी जीव मोहनीय कर्म के आधीन होकर अज्ञानतावश बाह्य विभावदशा में जाता है । बाह्य पुद्गल पदार्थों में आसक्त होकर पुद्गलानंदी बनता है । परंतु नाशवंत उन पुद्गल पदार्थों का जब नाश हो जाता है, तब उनके कारण जीव दु:खी होता है । अत: इससे यह सिद्ध होता है कि जीव का दु:ख भी उसकी मोहदशा के कारण होता है । इसलिए जीव को स्वगुण रमणता के अनंत चारित्र गुण में रहना चाहिये । परंतु संसार की राग-द्वेष की प्रवृत्तियों के कारण जीव उसमें ऐसा फंस जाता है जैसे जैसे रेशम का कीड़ा अपनी ही मुँह से थुककी लार निकालकर उसके रेशे बनाता है और अंत में स्वयं उसी में उलझ जाता है । मकड़ी भी ऐसा ही करती है । इसी तरह जीव इस संसार में मोह-ममत्व की रागद्वेष वाली प्रवृत्ति करता है तथा उससे मोहनीय कर्म उपार्जन क रता है, और अंत में स्वयं अपनी बिछाई हुई मोह जाल में फँस जाता है, जैसे खाने गई मछली जाल में फँसती हो । जीव स्वयं राग-द्वेषासक्त होकर तथाप्रकार की मोह ममत्व की प्रवृत्ति करता हुआ मोहनीय कर्म बांधता है और पुन: उस मोहनीय कर्म के उदय में आने पर फिर वैसी मोह की प्रवृत्ति करता है । इसी तरह राग-द्वेष से मोह, और मोह से पुन: राग-द्वेष, फिर मोह और राग-द्वेष की प्रवृत्ति करता हुआ संसार में काल बिताता रहता है ।

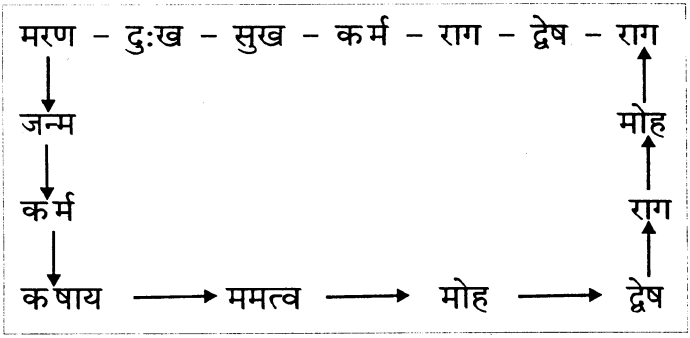

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वंयति ।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वंयति ।।

(उत्तरा. अ. ३२/७)

राग-द्वेष ही कर्म के बीज है, और कर्मो को ही मोह से उत्पन्न हुआ कहते हैं । कर्म ही जन्म-मरण का मूलभूत कारण है, और जन्म मरण को ही दुःख क हा गया है । इस तरह मोहनीय कर्म के मूल बीज जो राग-द्वेष है, उसकी प्रवृत्ति करने से जीव मोहनीय कर्म उपार्जन करता है । कर्मशास्त्र एवं तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में मोहनीय कर्म बाँधने के आश्रव मार्ग एवं बंध हेतु निम्न प्रकार से बताए गए हैं ।

मोहनीय कर्मबंध के आश्रव कारण :-

समस्त संसार में कार्य-कारणभाव का एक विशेष सम्बन्ध होता है । प्रत्येक कार्य के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य ही होता है ।

'कार्य नियतपूर्वहृत्तित्वं कारणं' कारण के इस लक्षण के आधार पर हमेशा कारण कार्य के ठीक पूर्व में रहता है । जैसे घड़े के पूर्व से मिट्टी कारण है, और धुएं के पहले अग्नि कारण होती है ।

जिस तरह बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता, उसी तरह संसार में रागी-द्वेषी आस्तिक-नास्तिक,धर्मी-अधर्मी, सम्यक्त्वी-मिथ्यात्वी, विषयी-कषायी आदि गुण-दोषवान् जीवों के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य ही होना चाहिए । कर्म युक्त जीव सकर्मी कहलाता है । अतः कर्म के पीछे कारण होना अनिवार्य है । कर्म के कारणरूप महापुरूषों ने पाप बताया है । मिट्टी और अग्नि की तरह पाप का व्यवहार अर्थात् अशुभ क्रिया पहले होती है और उससे कर्म बंधता है । पाप प्रवृत्ति कारण है और कर्मबंध कार्य है । भिन्न-भिन्न कर्मों के पीछे जीवों की भिन्न-भिन्न पाप प्रवृत्तियां कारण बनती है । प्रस्तुत विषय में मोहनीय कर्मबंध के विशेष पाप-कारण देखने हैं । मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद विभाग हैं – १) दर्शनमोहनीय कर्म और २) चारित्र मोहनीय कर्म । यहां प्रथम दर्शन मोहनीय कर्म का

दर्शनमोहनीय कर्म और२) चारित्र मोहनीय कर्म । यहां प्रथम दर्शन मोहनीय कर्म का अधिकार लिया गया है। अत: सर्वप्रथम दर्शनमोहनीय कर्मबंध के कारण पर विचार किया जा रहा है । कर्मग्रंथकार एवं तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के कर्ता आदि ने भिन्न-भिन्न पाप प्रवृत्तियों का निर्देश करते हुए कहा है कि:-

उमग्ग-देसणा-मग्ग-नासणा-देव-दव्व हरणेहिं ।
दंसण-मोहं जिण-मुणि-चेइअ-संघा-ऽऽइ-पडिणीओ ।।

।।कर्मग्रंथ प्रथम ५६।।

केवल-श्रुत-संघ-धर्म-देवैऽवर्णवादो दर्शनमोहस्य ।।६-१४।।

उन्मार्ग-गलतमार्ग का उपदेश करना, सच्चे मार्ग का लोप करना, या गलत मार्ग को सही कहना और सही मार्ग को गलत बताना, देव द्रव्य का अपहरण करना, जिनेश्वर परमात्मा, साधु मुनिराज, जिन-मंदिर-मूर्ति, तथा साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ का प्रत्यनिक अर्थात् विरुद्धगामी या विरोधी होना आदि प्रवृत्ति से दर्शनमोहनीय कर्म उपार्जन किया जाता है । केवलज्ञानी-सर्वज्ञ भगवान सूत्र-शास्त्र,श्री संघ, धर्म, देवों का अवर्णवाद कहना अर्थात् उनके विषय में विपरीत कहने से या उनकी निंदा-टीका करने से दर्शनमोहनीय कर्म का बंध होता है । ऐसा तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के कर्ता उमास्वाती महाराज कहते हैं ।

उन्मार्ग प्रस्पण करना यह एक महापाप है । आनंदघनजी महाराज ने १४ वें अनंतनाथ स्वामी के स्तवन में कहा है कि :-

पाप नहिं कोइ उत्सूत्र भाषण जिस्यो, धर्म नहीं कोइ जगसूत्र सरीखो ।
सूत्र अनुसार जे भविक किरीया करे, तेहनुं शुद्ध चारित्र परीखो ।।

अर्थात् उत्सूत्र प्ररूपणा जैसा कोई पाप नहीं है और सूत्र-शास्त्र-सिद्धान्त की प्ररूपणा करने जैसा जगत में कोई धर्म नहीं है । उसी तरह शास्त्र-सिद्धान्त केअनुरूप जो क्रिया करता है उसीका शुद्ध चारित्र कहा गया है । इससे यह स्पष्ट होता है कि उन्मार्ग या उत्सूत्र की प्ररूपणा करने केकारण जीव बड़ा भारी पाप उपार्जन करता है । स्वयं सिद्धांत के रहस्य को समझ नहीं पाता है और दूसरों को भी गलत समझाता है । भ्रम की जाल खड़ी करकेधर्म के ओठे के नीचे अधर्म का प्रचार करता है । अधर्म या पापाचार को ही धर्म के नाम पर फैलाता है । अपने बुद्धि-चातुर्य से अधर्म को धर्म रूप में समझाकर या तत्त्वों का मनमाना अर्थ करकेया सिद्धान्तों का अपने ढंग से स्वार्थपूर्ण अर्थ करके लोगों को गलत रास्ते ले जाना उल्टी दिशा बताना, यह उन्मार्ग की प्ररूपणा करने का महापाप है । इससे जीव दर्शनमोहनीय कर्म बांधता है । उसी तरह देव-गुरू- धर्म केविपरीत बोलना, या उनका विरोधी (प्रत्यनिक) बनकर वैमनस्य वृत्ति धारण करते हुए विपरीत व्यवहार करना, यह दर्शनमोहनीय कर्म

उपार्जन कर ने का कारण है ।

सर्वज्ञ-केवलज्ञानी भगवान जो अनंतज्ञानी है, उनके विषय में भी गलत बोलना, उनकी हंसी उडाना, तथा सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रणीत तथा गणधर रचित आगम श्रुत-शास्त्रों की आशातना करना, उनके विषय में 'हम्बक' है ऐसा कहना, यह भी दर्शनमोहनीय कर्म बांधने का पाप व्यवहार है, साधु-साध्वी, श्रावक- श्राविका रूप चतुर्विध श्री संघ के विषय में अवर्णवाद अर्थात् निंदा-टीका करना, उनका अपमान करना, खिल्लायां उड़ाना आदि प्रवृत्ति दर्शनमोहनीय कर्म बंधाती है । अहिंसा-संयम-तप प्रधान धर्म के विषय में भ्राँतिया करना, धर्म न मानना, किसी की धर्म श्रद्धा को डिगाना, धर्म के फल के विषय में संदेह करना एवं देवताओं के विषय में भी अश्रद्धा जन्य प्रलाप करने से दर्शनमोहनीय कर्म उपार्जित करना, यह महा पाप है, कर्म है ।

जलपूजा जुगते करीए, मोहनी बंधठाण हरीए;
विनतडी प्रभु न करिए रे, चेतन चतुर थइ चूक्यो ।
निज गुण मोहवशे मूक्यो ।।१।।
जीव हण्या त्रस जल भेटी, देइ फांसों मोगर कूटी ;
मुख दाबी वाधर वेंटी रे ।।२।।
क्लेश शम्या उदिरणीयो, अरिहा अवगुण मुख भणीआ;
बहु प्रतिपालक ने हणीया ।।३।।
धर्मी धर्म थी चूकवीआ, सूरि पाठक अवगुण लवीओ;
श्रुतदायक गुरू हेलवीया ।।४।।
निमित्त वशीकरणो भरीओ, तपसी नाम वृथा धरीओ
पंडितविनय नवि करीओ ।।५।।

पूज्य वीरविजयजी महाराज उपरोक्त पूजा ढाल में बताते हैं कि सरोवरों में जाल डालकर कर्ल त्रस जीवों को फँसाना, उन्हें मारना, विकलेन्द्रिय तथा त्रसादि जीवों को फाँसी लगाकर मारना, मूँह दबाकर मारना, कोड़े, हन्टर आदि से मारना, इस तरस मारना की प्रवृत्ति से जीव मोहनीय कर्म बांधता है । अरिहंतादि पंचपरमेष्ठियों के विरूद्ध बोलना, उनका अनादर करना, उनमे अश्रद्धा रखना, तथा धर्मीजनों को धर्म से च्युत करना, धर्मश्रद्धा पर कुठाराघात करना, ज्ञान-ज्ञानी की अवहेलना करना, गुरू का अपमान-अनादर करना, अनेक प्रकार के सच्चे -झूठे कर्म, असत्य सेवन करना, निमित्त वशीकरण करना, न होते हुए भी दिखावा करना, अविनय-अनादर करना आदि अनेक पाप प्रवृत्तियां दर्शनमोहनीय कर्म बंधाती है ।

इस तरह जीव संसार में अनेक प्रकार की पाप प्रवृत्तियां करके दर्शनमोहनीय कर्म से भारी होता है। ऐसे अनेक बंध-हेतु आश्रव मार्ग बताए गए है।

मोहनीय कर्म :-

कर्मशास्त्र का नियम है कि जीव 'जैसा करता है वैसा भरता है'। अर्थात् जैसे पाप करता है वैसे ही कर्म समय आने पर उदय में आते है। बांधे हुए कर्म उदय में आने पर जीव की वैसी स्थिति निर्माण होती है। उपरोक्त पाप प्रवृत्तिों को करने वाला जीव जो दर्शनमोहनीय कर्म उपार्जन करता है, वह मोहनीय कर्म का मात्र एक भेद है, परंतु मोहनीय कर्म दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के भेद से मुख्यत: दो प्रकार का बताकर उसके अवांतर २८ भेद बताए गए हैं।

मोहणिज्जं पि दुविहं, दंसणे चरणे तहा।
दंसणें तिविहं वुत्तं, चरणे दुविहं भवे ।।८।।
सम्मत्ते चेव मिच्छत्तं, सम्ममिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिन्नि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दंसणे ।।९।।
चरित्तमोहणं कम्मं, दुविहं तं वियाहियं।
कसायमोहणिज्जं तु, नोकसायं तहेव च ।।१०।।
सोलसविहभेएणं, कम्मं तु कसायजं।
सत्तविहं नवविहं वा, कम्मं नोकसायजं ।।११।।

(उत्तरा अ. ३३ श्लो. ८ से ११)

श्री उत्तराध्यन सूत्र आगम में बताए गए मोहनीय कर्म के भेद उपरोक्त श्लोक में बताए गए हैं।

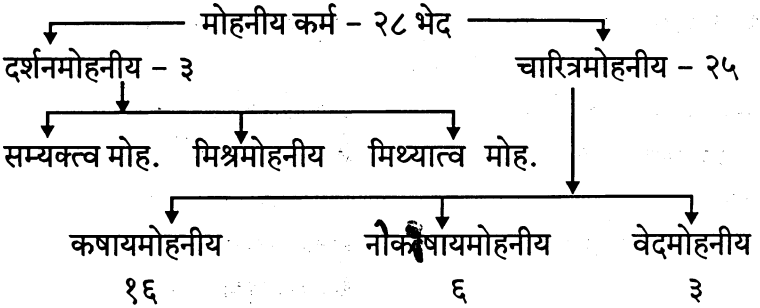

३+१६+६+३ = २८ इस तरह संक्षेप में उपरोक्त तालिका में मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियां बताई गई है। मोहनीय कर्म के अवांतर भेद २८ होते हैं।

दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय कर्म :-

मज्जं व मोहणीयं, दुविहं दंसण चरण मोहा।

कर्मग्रंथकार महर्षि ने मदिरा जैसे इस मोहनीय कर्म को १) दर्शनमोहनीय

और २) चारित्रमोहनीय दो प्रकार का बताया है। इन दानों का अपना-अपना स्वतंत्र कार्य क्षेत्र है। अत: मोहनीय कर्म के ये दो स्वतंत्र स्तंभ माने जाते है। मूलत: मोहनीय कर्म का काम आत्मा को मोहित करने का है। उसमें भी दर्शनमोहनीय आत्मा को अज्ञान में एवं अश्रद्धा में मोहित करता है, जबकि दूसरा चारित्रमोहनीय कर्म आत्मा को विषय-कषाय की प्रवृत्ति में आसक्त करता है। ये दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय दोनों ही कर्म आत्मा के ऊपर बड़ा भारी आक्रमण करते हुए आत्मा की आचार - विचार दोनों की प्रवृत्तियों को पंगु बना देते हैं। दर्शनमोहनीय कर्म आत्मा की विचार शक्ति पर आक्रमण करके उसे विपरीतधारा वाली अश्रद्धा जनक मिथ्यादृष्टिवाली विचारधारा बना देता है। परिणाम स्वरूप आत्मा अश्रद्धालु बनती है। चारित्रमोहनीय कर्म आत्मा ही आचारसंहिता को तोड़कर उसे शुद्ध चारित्रगुण में रमण नहीं करने देता हैं। अर्थात् अपने मूलभूत निष्कषाय-निर्विषय भावों में एवं समतादि गुण में प्रवृत्ति न करने देते हुए उसे विषय-कषाय की प्रवृत्ति में बाध्य करता है। इस तरह दोनों ही कर्म और आत्मा की आचार-विचार की शक्ति को विकृत एवं विपरीत करते हैं। इनमें जिस कर्म का क्षयोपशम या बंध का प्रमाण जितना कम-ज्यादा रहेगा उतने ही आत्मा के गुण-दोष भी कम -ज्यादा रहेंगे।

उदाहरणार्थ-एक तराजू का दृष्टांत लिया जाय। तराजू के पलड़े में यदि एक तरफ वजन कम रहता है, तो दूसरी तरफ वस्तु का प्रमाण बढ़ता है, और यदि वस्तु का प्रमाण कम रहता है तो वजन का प्रमाण बढ़ता है, और जब दोनों ही समकक्ष होते हैं, तब वस्तु और वजन समान मान लिए जाते हैं। वैसे ही दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय दोनों कर्म एक तराजू के दो पलड़ो की तरह काम करते हैं, अर्थात जब दर्शनमोहनीय कर्म का पलड़ा झुका हुआ रहेगा तब चारित्रमोहनीय कर्म का पलड़ा चढ़ा हुआ रहता है, और यदि चारित्रमोहनीय का पलड़ा झुक हुआ रहेगा तब दर्शनमोहनीय क पलड़ा चढ़ा हुआ रहता है। जिस जीव में दर्शनमोहनीय कर्म के उदय का प्रमाण ज्यादा रहेगा उसमें श्रद्धा का प्रमाण कम रहेगा, या नहीं भी रहेगा, या मिथ्यात्व का प्रमाण ज्यादा रहेगा। उसी तरह चारित्रमोहनीय कर्म के उदय का प्रमाण जिस जीव में ज्यादा रहेगा उसमें विषय-कषाय-विकार की मात्रा भी ज्यादा रहेगी। इस तरह सम्यक्त्व और मिथ्यात्व तथा विषय-कषाय आदि के प्रमाण का आधार दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय कर्म पर आधारित रहता है।

जिस जीव का जितना क्षयोपशम कम-ज्यादा रहेगा उस जीव में उतने गुण-दोष भी कम ज्यादा रहते हैं। अत: यह निश्चित होता है कि यदि हमें मिथ्यात्व को हटाकर सम्यक्त्व प्राप्त करना हो तो दर्शनमोहनीय कर्म का क्षयोपशम या क्षय करना पड़ेगा। तब आत्मा शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकेगी। उसी तरह यदि हमें विषय-क

षाय नष्ट करके निर्विषय एवं निष्कषाय भाव-समतादि आत्मगुण प्राप्त करने हो तो चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम या क्षय करना चाहिए। इस तरह दर्शन-मोहनीय कर्म आत्मा का नास्तिक-अश्रद्धालु एवं मिथ्यात्वी बनाता है। आत्मा के आस्तिक भाव सम्यग् श्रद्धा आदि गुणोंका नाश होता है। हमारी आत्मा के लिए यह बहुत ज्यादा नुकसान कारक है, क्योंकि सम्यग् श्रद्धा एवं आस्तिकता आदि आत्मा के मूलभूत गुण हैं, और कर्म के उदय से यदि गुण दब जायेंगे तो दोष उभर आएंगे। ठीक वैसे ही काम क्रोधादि विषय-कषायादि आत्मा के गुण नहीं है परंतु कर्मजन्य विकृति मात्र है। अनन्त चारित्रवान् आत्मा मूलत: राग-द्वेषादि कषाय रहित क्षमा-समता वाली है, और बिषय-विकार रहित शुद्ध ब्रह्मचारी है, परन्तु चारित्रमोहनीय कर्म के कारण आत्मा वैसी विषय-कषायी अर्थात् काम-क्रोध -मान-माया-लोभ-राग-द्वेष वाली बनाती है। इस तरह आत्मा के मूलभूत गुणों की प्रकृति और कर्मजन्य विकृति की यह मीमांसा की है।

यह स्वभाव नहीं है परंतु कर्मजन्य विकृति मात्र है। अनन्त चारित्रवान् आत्मा मूलत: राग-द्वेषादि कषाय रहित क्षमा-समता वाली है, और विषय-विकार रहित शुद्ध ब्रह्मचारी है, परन्तु चारित्रमोहनीय कर्म के कारण आत्मा वैसी विषय-कषायी अर्थात् काम-क्रोध -मान-माया-लोभ-राग-द्वेष वाली बनाती है। इस तरह आत्मा के मूलभूत गुणों की प्रकृति और कर्मजन्य विकृति की यह मीमांसा की है।

दर्शनावरणीय और दर्शनमोहनीय कर्म के अन्तर :-

गत प्रवचन में दर्शनावरणीय कर्म के विषय में विचार किया था। अब यहां प्रस्तुत अधिकार में दर्शनमोहनीय कर्म का विचार किया जा रहा है। यद्यपि दोनों नामों में 'दर्शन'शब्द की सादृश्यता जरूर है, फिर भी दोनों में प्रयुक्त 'दर्शन' शब्द का अर्थ सर्वथा भिन्न-भन्न है। दर्शनावरणीय कर्म में 'दर्शन' शब्द का अर्थ सामान्य रुप से 'देखना' होते हुए भी पदार्थ का निर्विषेश-निर्विकल्प-निराकार सामान्य बोध प्राप्त कराने का है ! विशेष ज्ञान केपहले होने वाला सामान्य बोध रूप दर्शन होता है यह दर्शन आत्मा का दूसरा अनन्तदर्शन नामक गुण है। अनन्त दर्शन गुण आत्मा का एक स्वतंत्र गुण है। उस पर आए हुए आवरण को दर्शनावरणीय कर्म कहा है। यह दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के मात्र दर्शन गुण को आच्छादित करता है।

दर्शनमोहनीय कर्म एक स्वतंत्र कर्म है। आत्मा के तीसरे अनंत चारित्रगुण यथाख्यातचारित्रगुण पर आए हुए आवरण का नाम है, मोहनीय कर्म। इसके भेद हैं - १) दर्शनमोहनीय और २) चारित्रमोहनीय कर्म। दर्शनमोहनीय में प्रयुक्त 'दर्शन' शब्द का अर्थ सम्यग्दर्शन अर्थात् यथार्थ 'दर्शन' एवं सच्ची श्रद्धा के अर्थ में है।

उसकेसाथ मोहनीय जुड़ने से दर्शनमोहनीय शब्द बना । दर्शन में भी अर्थात् सम्यग्-दर्शन-यथार्थदर्शन एवं तत्त्वादि के वास्तविक स्वरूप में आत्मा को मोहित करने का काम दर्शनमोहनीय कर्म करता है । यहाँ मोहित करना अर्थात् भ्रम पैदा करना, दुविधा उत्पन्न करना, या शंकाशील बनाना, अर्थ है । अत: दर्शनमोहनीय कर्म आत्मा को तत्त्व का यथार्थदर्शन (श्रद्धा) न करने देते हुए मिथ्यात्व दशा में रखने का काम करता है । इस तरह दर्शनमोहनीय कर्म और दर्शनावरणीय कर्म अपने-अपने अर्थ में स्वतंत्र होने के कारण सर्वथा भिन्न है ।

दर्शनमोहनीय कर्म :-

यथावस्थितदर्शन अर्थात् वस्तु तत्त्व का सही सत्य स्वरूप जैसा सम्यग् है, वैसा दर्शन कराना अर्थात् उसमें श्रद्धा कराना यह दर्शन है । इनमें मोहित करने वाला अर्थात् शंका, सन्देह एवं भ्रम की स्थिति उत्पन्न करने वाला दर्शनमोहनीय कर्म है । यह शुद्ध-अर्धशुद्ध एवं अशुद्ध की तरतमता से तीन प्रकार का है ।

सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छत्तमेव य ।
एयाओ तिन्नि पयडीओ, मोहणिज्जिस्स दंसणे ।।

(उत्तरा. अ. ३३ श्लो.९)

दंसण-मोहं ति-विहं सम्मं मीसं तहेव मिच्छतं ।
सुद्ध अद्ध - विसुद्धं अ- विसुद्धं तं हवइ कमसो

(कर्मग्रंथ)

दर्शनमोहनीय कर्म

सम्यक्त्व मोहनीय | मिश्र मोहनीय | मिथ्यात्व मोहनीय

कर्मग्रंथकार महर्षि ने दर्शनमोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियाँ गिनाई है । १) सम्यक्त्व मोहनीय २) मिश्रमोहनीय और ३) मिथ्यात्वमोहनीय नाम से दर्शनमोहनीय के तीन भेद बताए हैं । ये क्रमश: शुद्ध, अर्धशुद्ध होते हैं । सम्यक्त्वमोहनीय को शुद्ध कहा है, मिश्र मोहनीय को अर्धशुद्ध कहा है एवं मिथ्यात्व मोहनीय को अशुद्ध कहा है । उदाहरण के लिए जैसे किसी धान्य को शुद्ध, अर्धशुद्ध एवं अशुद्ध तीन प्रकार की अवस्था में रखा जा सकता है ।१. धान्य (अनाज) को साफ करके पुर्णत: शुद्ध कर दिया जाय वह शुद्ध कहलाएगा । २. जिसे कुछ साफ किया जाय और कुछ मलिन रखा जाए वह अर्धशुद्ध कहलाता है और तीसरा जो साफ किया ही नहीं गया है, वह सर्वथा अशुद्ध ही है । आत्मा पर लगे हुए दर्शनमोहनीय कर्म केपुद्गल परमाणु सर्वथा अशुद्ध ही है, इन्हें मिथ्यात्वमोहनीय कर्म कहते हैं और जिसने आधे कर्म परमाणु

अशुद्ध किये हों और आधे अशुद्ध रहे हों ऐसे अर्धशुद्ध रहे हों ऐसी अर्धशुद्ध अवस्था को मिश्रमोहनीय कहते हैं । जिसे सर्वथा शुद्ध कर दिए गए हो इसे शुद्ध सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं । इसे ही पानी, कपड़े आदि के दृष्टान्त से भी समझा जा सकता है । १. सर्वथा गंदे पानी के जैसा मिथ्यात्वमोहनीय कर्म । २. कुछ शुद्ध और कुछ अशुद्ध ऐसे अर्धशुद्ध पानी के जैसा मिश्र मोहनीय कर्म है । ३. सम्पूर्ण शुद्ध पानी के जैसा सम्यक्त्वमोहनीय कर्म है ।

दर्शनमोहनीय कर्म:-

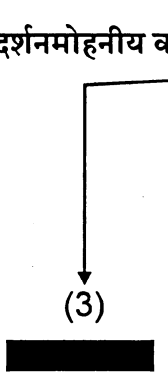

इसी तरह आत्मा पर लगे हुए कार्मणवर्गणा के पुद्गल परमाणु जो मोहनीय कर्म के दलिक है, उन्हें आत्मा शुद्ध, अर्धशुद्ध और अशुद्ध तीन प्रकार से रखती है । यदि कार्मणवर्गणा के अशुद्ध पुद्गलों को शुद्ध किया न हो, वे सर्वथा अशुद्ध ही पड़े हो, तो उन्हें मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के बताए जाते हैं।

मैले कपड़े को हम जिस तरह धोते हुये शुद्ध-शुद्धतर और शुद्धतम करते जाते हैं वैसे ही आत्मा के कर्म परमाणु भी अशुद्ध से अर्धशुद्ध औरआगे शुद्ध-शुद्धतर-शुद्धतम होते जाते हैं । अर्धशुद्ध अवस्था में उन्हें मिश्रमोहनीय कहा जाता है तथा सम्पूर्ण शुद्ध अवस्था में उन्हें सम्यक्त्वमोहनीय कहा जाता है ।

१. सम्यक्त्वमोहनीय कर्म :-

यह दर्शमोहनीय कर्म की प्रकृति है । प्राप्त हुए सम्यक्त्व अर्थात् श्रद्धा में जो दोष लगाए, उसमें शंकाशील-संशयी बनाए तथा भ्रम पैदा करे, वह सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म है । आत्मा पर से मिथ्यात्व के मलिन अशुद्ध पुद्गल परमाणु निकल गए हो, या आत्मा ने मिथ्यात्व के पुद्गल परमाणुओं को शुद्ध कर लिए हो, उसे सम्यक्त्व मोहनीय कहते हैं । शुद्ध किए हुए मिथ्यात्व के पुद्गल परमाणु की स्थिति

को सम्यक्त्व मोहनीय कहते हैं ।

२. मिश्र मोहनीय कर्म :–

मिथ्यात्व के पुद्गल परमाणुओं के आत्मा पूर्ण रूप से धोकर शुद्ध न कर सके तथा अर्धशुद्ध अवस्था रह जाय जिसमें कुछ अंश शुद्ध का और कुछ अशुद्ध का रहे उसे मिश्रमोहनीय कर्म कहते हैं, अर्थात् जिसमें कुछ अंश सम्यक्त्व का भी रहे और कुछ अंश मिथ्यात्व का भी रहे । ऐसे शुद्ध–अशुद्ध अर्थात् सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की मिश्रित अवस्था को मिश्रमोहनीय कर्म कहते हैं । सम्यक्त्व + मिथ्यात्व = मिश्रमोहनीय कर्म । मिश्रमोहनीय कर्म में श्रद्धा और अश्रद्धा तथा सत्य और असत्य दोनों के प्रति मिश्रभाव रहता है । इसकेउदय से सुदेव, सुगुरु, सुधर्म तथा जीवादि तत्त्वों के विषय में ऐसी श्रद्धा नहीं हो पाती है कि यही सत्य है और यही असत्य है । ऐसी अश्रद्धा भी नही होती है । ऐसे मिश्रभाव को मिश्रमोहनीय कर्म कहते हैं । इसके कारण जीव को सच्चे और झुठे दोनों ही प्रसंग में मिला हुआ मिश्रित भाव रहता है । अत: इसे अर्ध विशुद्ध कक्षा कहते हैं ।

मीसा न राग–दोसो जिण–धम्मे अंत–मुहूत जहा अन्ने ।
नालियर–दीव–मणुणो, मिच्छं जिण–धम्मं–विवरीए ।।

(प्र. कर्मग्रंथ – १६)

कर्मग्रंथकार मिश्रमोहनीय को समझाने के लिए उपरोक्त श्लोक में दृष्टांत देते हैं । नालीकेर द्वीप नामकद्वीप में, जहां अन्न उत्पन्न नहीं होता है, सिर्फ नारियल ही होते हैं, ऐसे नालीकेरद्वीप के मनुष्य जिन्होंने कभी अन्न देखा ही न हो, और खाया भी न हो, परंतु कभी स्थान विशेष या क्षेत्र विशेष में कोई अन्न का पदार्थ खाने के लिए दिया जाय, तब उन्हें उस अन्न केप्रति न कोई विशेष राग है और न कोई विशेष द्वेष है, परंतु उभय रूप से मिश्रभाव है । वैसे ही मिश्रमोहनीय कर्म के उदय के कारण वीतराग के सम्यग् धर्म के प्रति जिसे न कोई राग और न ही कोई विशेष द्वेष हो उसे मिश्रमोहनीय कर्म कहते हैं। यह अंतर्मुहूर्त काल तक रहता है ।

३. मिथ्यात्व मोहनीय कर्म :–

मिच्छं जिण धम्मं विवरीएं – वीतराग जिनेश्वर केसम्यग्–सत्य धर्म से विपरीत मान्यता को मिथ्यात्व कहते हैं । सर्वज्ञ–जिन प्रणीत धर्म से सर्वथा विपरीत मति–बुद्धि हो तथा शुद्ध धर्म सर्वथा रूचिकर न हो उसे मिथ्यात्व मोहनीय कहते है । जिस कर्म के कारण आत्मा–परमात्मा–मोक्ष अचदि तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा ही न हो तथा देव–गुरु, धर्म को माने ही नहीं या ठीक विपरीत बुद्धि रखने वाला हो उसे मिथ्यात्व कर्म कहते हैं । इसके कर्म पुद्गल परमाणु सर्वथा अशुद्ध ही होते हैं ।

दृष्टांत द्वारा समझ :-

दर्शनमोहनीय की इन तीनों प्रकृतियों को समझाने के लिए भिन्न-भिन्न दृष्टांत दिए गए हैं। १) मदनकोद्रव अन्न का दृष्टांत २) पानी का दृष्टांत ३) वस्त्र का दृष्टांत। इन दृष्टांत में मुख्य हेतु शुद्ध, अर्धशुद्ध एवं अशुद्ध का है। अत: किसी एक क ो समझने से सभी समझ में आ सकते हैं। जैसे वस्त्र के विषय में सोचें-तीन अवस्था के वस्त्र का दृष्टांत लें। (१) रसोई घर के मैले कपड़े की तरह मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के सर्वथा अशुद्ध पुद्गल परमाणु होते हैं। (२) कुछ धोए हुए और कु छ मैले ऐसे अर्धशुद्ध वस्त्र की तरह मिश्रमोहनीय कर्म की स्थिति रहती है, जिसमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों के मिश्र पुद्गल परमाणुं रहते हैं। (३) सर्वथा शुद्ध धोए हुए वस्त्र की तरह सम्यक्त्व मोहनीय कर्म के पुद्गल परमाणु रहते हैं।

मिथ्यात्व का स्वरूप :-

'यथा दृष्टि तथा सृष्टि' जिसकी जैसी दृष्टि होती है उसकी वैसी सृष्टि होती है। उदाहरण के लिए निर्दोष दृष्टि से सब कुछ दोष रहित दिखाई देता है, परंतु यदि सृष्टि दोष युक्त है तो पदार्थ सदोष दिखाई देगा। यदि किसी को कमला (पीलिया) रोग हुआ हो तो, उसे सफेद दूध भी पीला दिखाई देता है। काले चश्मे पहने हुए व्यक्ति को सफेद कपड़ा आदि वस्तु काली दिखाई देती है। जैसे दृष्टि की बात है वैसी ही मति की भी बात है। दृष्टि से देखना होता है और मति से जानना-मानना होता है। जैसे दृष्टि रोगादि कारणों से विपरीत बनती है, वैसे ही मति मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के कारण विपरीत बनती है। अत: विपरीत मति वाला जीव मिथ्यात्वी कहलाता है। ऐसा मिथ्यात्वी जीव सभी तत्वादि की बातों को विपरीत ही जानता है और विपरीत ही मानता है। जैसे आत्मा-परमात्मा, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, जीव-अजीव, लोक-अलोक, स्वर्ग-नरक, पूर्वजन्म और बंध-मोक्ष, तु देवगुरु-धर्मादि तत्त्वों का स्वरूप वह सर्वथा विपरीत ही जानता है, और विपरीत ही मानता है। अत: उसे मिथ्यामतिजीव, मिथ्यादृष्टि, या मिथ्यात्वीजीव कहते हैं। अर्थात् जो जैसा है उसे वैसा न मानना, जिसका जैसा स्वरूप है उसका वैसा यथार्थ स्वरूप न मानना यह मिथ्यात्व कहलाता है। इस तरह प्रत्येक विषय में वह उल्टा-विपरीत ही चलता है। ऐसे मिथ्यात्व की भिन्न-भिन्न दस प्रकार की दृष्टियाँ या संज्ञाएं बताई गई है।

मिथ्यात्व की १० संज्ञाएं :-

धम्मे अधम्म, अधम्मे-धम्मह, सन्ना मग्ग अमग्गाजी।
उन्मार्गे मारग की सन्ना, साधु असाधु संलग्गा जी।
असाधु मां साधु नी सन्ना, जीव-अजीव जीव वेदो जी,

मुत्ते अमुत्त, अमुत्त मुत्तह, सन्ना दस भेदो जी ।।

१. धर्म में अधर्म संज्ञा :-

क्षमा, मार्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिंचनत्व और बह्मचर्य आदि दस प्रकार के धर्म को धर्म रूप न मानना, तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तपादि का धर्म भी न मानना, तथा दर्शन-पूजा, सामायिक- प्रतिक्रमण, आयंबिल-उपवास, तथा पौषध आदि को धर्मरूप न मानते हुए उसमें अधर्म बुद्धि रखना, यह पहली मिथ्यात्व की संज्ञा है।

२. अधर्म में धर्म की संज्ञा :-

हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार-व्यभिचार, एवं संभोग में समाधि, अनाचार आदि पाप प्रवृत्ति रूप अधर्म में धर्म की बुद्धि रखना या उसे धर्म मानना।

३. सन्मार्ग को उन्मार्ग मानना :-

जिससे आत्मा का कल्याण हो, पुण्य का बंध हो, या मोक्षमार्ग रूप जो सत्य मार्ग है, उसे उल्टा पाप मार्ग मानना, तथा साधु एवं श्रावक के यम-नियम आदि व्रत-महाव्रतादि केमार्ग को गलत मार्ग मानना। इस तरह हितावह सुमार्ग को उन्मार्ग समझना।

४. उन्मार्ग को सन्मार्ग मानना :-

जिससे स्वर्ग की प्राप्ति हो, उसे ही मोक्ष का मार्ग मान लेना, या पशुराग, नरबलि, अश्वमेध यज्ञ, आदि हिंसा जन्य-योगादि से स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति मानना, भोगलीला में ही धर्म मानना, अन्याय अनीति, कूटनीति, कुरीति आदि में भी पुण्य मानने की बुद्धी, आदि उन्मार्ग को सन्मार्ग मानना यह मिथ्यात्व कहलाता है।

५. असाधु को साधु मानना :-

धन-सम्पत्ति-ऐश्वर्य एवं भोगविलास वाले महाआरम्भी-परिग्रही एवं स्त्री-लुब्ध, मोहासक्त, परभावरत एवं कंचन-कामिनी के भोगी, ऐसे वेशधारिओं को साधु मानना, या उन्हें गुरुरूप मानना यह मिथ्यात्व है।

६. साधु को असाधु मानना :-

जो सच्चे साधु हैं, गुण सम्पन्न हैं, कंचन कामिनी के सर्वथा त्यागी, तपस्वी, पंचमहाव्रतधारी, आरम्भ-परिग्रह के त्यागी, पंचिदिय सूत्र में बताए गए छत्तीस गुण सम्पन्न, सच्चे साधु महात्मा को साधुरूप या गुरुरूप न मानना यह भी मिथ्यात्व की वृत्ती है।

७. जीव को अजीव मानना :-

संसार की चारगति में ५६३ प्रकार के जो जीवों के भेद बताए गए हैं, ऐसे कृमि-कीट-पतंग-चूहा-बिल्ली, तोता-मैंना, कौआ-कोयल, सांप-मोर, गाय-बैल,

भेड़-बकरी, हाथी, घोड़ा, स्त्री-पुरुष एवं वनस्पतिकाय आदि स्थावरों में जीव होते हुए भी उनमें जीव न मानना, एवं वे जीव रहित हैं, अत: उन्हें मारने में, खाने में कोई पाप नहीं है, इस तरह चेतना लक्षण वाले जीव के अस्तित्व को न मानते हुए उल्टे अजीव निर्जीव है ऐसी बुद्धि रखना, यह मिथ्यात्व की संज्ञा है।

८. अजीव में जीव बुद्धि :-

यह ऊपर के पक्ष से ठीक उल्टा है। शरीर, इन्द्रियां और मन जो कि जीव रूप नहीं है, जो जड़ है उन्हें जीव मानना, या पौद्गलिक पदार्थ के संयोजन से या रासायनिक संयोजन आदि से जीव उत्पन्न होता है, या जीव बनाया जा सकता है। इस तरह अजीव में भी जीव मानने की बुद्धि यह भी मिथ्यात्व की संज्ञा है।

९. मूर्त को अमूर्त मानना :-

जो मूर्तिमान-साकार रूपी पदार्थ है उसे अरूपी-अमूर्त मानना, जैसे पुद्गल स्कंध को अमूर्त-अरूपी मानन, या शरीर, इन्द्रिय, और मन को अरूपी-अमूर्त मानना, कर्म मूर्त होते हुए भी उसे अमूर्त मानना, यह विपरीत बुद्धि भी मिथ्या संज्ञा है।

१०. अमूर्त को मूर्त मानना :-

उपरोक्त बात का यह ठीक विपरीत भेद है। इसमें अरूपी अमूर्त आत्मा को रूप एवं मूर्त-साकार मानने की बुद्धि होती है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशस्तिकाय आदि अरूपी-अमूर्त मानना, यह विपरीत बुद्धि भी मिथ्या संज्ञा है।

उसी तरह मिथ्यात्व के कारण जिसकी मति विपरीत हो चुकी है, वह ऐसी अनेक विपरीत मान्यताएं रखकर चलता है, एवं विपरीत व्यवहार भी करता है। ऐसे और भी कई विषयों में अनेक संज्ञाएं हो सकती है। जैसे, वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान को रागी-द्वेषी एवं अल्पज्ञ मानना या सर्वकर्ममुक्त सिद्धात्मा में भी राग-द्वेष की संसारी बुद्धि रखना। सर्व कर्म रहित परमात्मा भी दैत्य-दानवों का दमन करते हैं, इच्छा पूर्ण करने वाले भगवान कहलाते हैं, या राग-द्वेष वाले भोगलीला करने वाले भी भगवान होते हैं ऐसी मान्यता रखना, यह मिथ्यात्व की मति है।

इस तरह मिथ्यात्व के कारण जीव कई प्रकार की विपरीत मान्यताएं रखता है। मिथ्यात्वी का सारा ज्ञान विपरीत बुद्धि वाला होता है। ऐसे मिथ्यात्व हो दो विभाग में विभक्त किये गये हैं - १. तत्त्व पदार्थ के विषय में यथार्थ श्रद्धा का अभाव रूप मिथ्यात्व एवं २.अयथार्थ तत्त्व-पदार्थ पर श्रद्धा रूप मिथ्यात्व। वैसे आपातत: देखने पर दोनों भेदों में कोई विशेष अंतर नहीं लगता है क्योंकि दोनों ही एक दूसरे के ठीक उल्टे हैं। फर्क इतना ही है कि पहला प्रकार मूढ़ या अज्ञान दशा में या समझदार ज्ञान वाले को भी होता है। इस दूसरे प्रकार के मिथ्यात्व में

विचारशक्ति का या ज्ञानदशा का विकास होते हुए भी अभिनिवेश के कारण किसी एक दृष्टि को कदाग्रहवश पकड़कर रखने के कारण विचारशक्ति या ज्ञानदशा अतत्त्व के पक्षपात के कारण मिथ्या-दृष्टि हो जाती है।

यह उपदेशजन्य होने के कारण अभिग्रहीत कहलाता है, जबकि पहले प्रकार में श्रद्धा का अभाव रूप जो मिथ्यात्व है उसमें विचार दशा विकसित हुई ही न हो, ऐसे अनादिकालीन कर्मावरण के दवाब से जो मूढ़ दशा होती है, ऐसे समय में तत्त्व की अश्रद्धा या अतत्त्व की श्रद्धा भी नहीं होती है। उस समय मात्र मूढ़ता के कारण अश्रद्धा कह सकते हैं। यह उपदेश निरपेक्ष, नैसर्गिक होने के कारण अनभिगृहीत कहलाती है। किसी दृष्टि पंथ या पक्ष या विपक्ष का ऐकान्तिक कदाग्रह अभिगृहीक मिथ्यात्व कहलाता है। यह अनभिगृहीक मिथ्यात्व विकसित विचार शक्ति वाले मनुष्य में होता है। जबकि मूढदशा का अनभिगृहीक मिथ्यात्व कृमि-कीट-पतंग पशु-पक्षी आदि मूर्च्छित चैतन्य वाले जीवों में रहता है।

शास्त्रकार महर्षियों ने मिथ्यात्व के विषय में भिन्न-भिन्न पांच प्रकार बताए हैं -

मिथ्यात्व के पांच प्रकार :-

आभिग्गहिअमाणभिग्गहं, च तह अभिनिवसिअंचेव ।
संसइअमणाभोगं, मिच्छतं पंचहा एअं ।।

मिथ्यात्व के ५ प्रकार

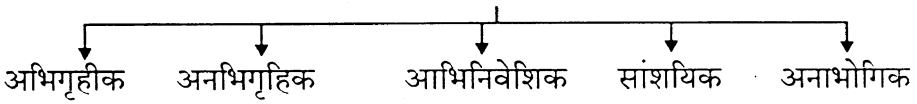

१. अभिगृहिक मिथ्यात्व :-

अभिगृह अर्थात् एक प्रकार की पकड़। कई लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने-अपने मत का आग्रह रखते है। हमने जो ग्रहण किया है वही धर्म सच्चा है, भले ही वह गलत भी हो,झूठा भी हो, परंतु हम तो इसे ही मानेंगे, नहीं छोड़ेगे ऐसा अभिगृह अभिगृहिक मिथ्यात्व कहलाता है। विपरीत बुद्धि के कारण अतात्त्विक किसी भी दर्शन को सत्य मानना एवं युक्त तत्त्वों के प्रति अश्रद्धा, रूप मति आभिगृहिक मिथ्यात्व कहलाती है। प्रवाह रूप से आई हुई मान्यता को बिना समझे विचारे पकड़ रखना, अपने मत का कदाग्रह (हठ) रखना, उसमें सत्यासत्य की परीक्षा न करना, यह आभिगृहिक मिथ्यात्व कहलाता है। उदाहरणार्थ **'तातस्य कुपोयमिति ब्रुवाणा: कापुरुषा : क्षारं जलं पिबन्ति'** 'यह मेरे बाप का कुआ है' ऐसे बोलने वाले कायर पुरुष उसी कुए का खारा पानी पीते रहते हैं ? अन्यत्र मीठा

पेयजल मिलने पर भी अपने हठाग्रह के कारण खारा पानी पीते रहना और मीठा पानी पीने न जाना, यह अभिग्रहिक मति है। ठिक ऐसे ही हिंसाचारादि में धर्म बुद्धि मानकर उसे करते रहना, परंतु अहिंसा के धर्म को न अपनाना, जैसे गाय को गौमाता मानकर, उसमें ३३ करोड़ देवताओं का वास मानकर, उसकी पूजा भी करना, और यज्ञ-याग-होम-हवन में उसका वध करने की हिंसा को भी धर्म मानने की बुद्धि यह सम्यग् कैसे हो सकती है? अश्वमेध यज्ञ या पशु पुरोडाश वाले हिंसापरकयज्ञ से स्वर्ग प्राप्ति होती है, ऐसी मान्यता कैसे सम्यग् हो सकती है? फिर भी हमारी मान्यता हम नहीं छोड़ेंगे, ऐसा मिथ्या आग्रह अभिग्रहिक मिथ्यात्व कहलाता है। सारंभी-परिग्रही, कुशीलवान को भी धर्म वृद्धि से पकड़कर रखना, उन्हें ही आदर्श मानना, एवं दुराग्रह- कदाग्रह वृत्ति से जिसका विवेक रूप दीपक बुझ गया है, ऐसे अविवेकी पाखंडी एवं पापाचार की भोगीलीला चलाने वाले तथा उसे ही धर्म मानकर उसमें ही पड़े हुए एवं उसमें से बाहर न निकलने वाले अभिग्रहिक मिथ्यात्व से ग्रस्त हैं। इसमें सच्चे तत्त्वों के प्रति अश्रद्धा होती है। विपरीत समझ एवं अभिग्रह पकड़ की प्राधान्यता रहती है।

२. अनभिग्रहिक मिथ्यात्व :-

न अभिग्रह इति अनभिग्रह ! अभिग्रह अर्थात पक्कड। न अभिग्रह अर्थात् जिसमें कदाग्रह - दुराग्रह नहीं है, परंतु सच्चे-झुठे सबके प्रति समान बुद्धि है, उसे अनभिग्रहिक कहते हैं। जैसे मणि और कांच दोनों ही समान है। हीरा, रत्न और पत्थर सब एक सरीखे ही हैं।ऐसी ही मान्यता तत्त्व-धर्म-भगवानादि के विषय में रहती हो, उसे अनभिग्रहिक मिथ्यात्व कहते हैं। इसमें हिसी एक ही भगवान या धर्म का कदाग्रह न रहते हुए, सभी भगवान या धर्म के प्रति समान बुद्धि रहती है। पीलेपन के कारण सोना और पीतल सभी सरीखे हैं ऐसा मानना। ठीक वैसे ही कोई विशेष तुलना या परिक्षा आदि न करते हुए धर्म-भगवान-एवं तत्त्व के विषय में भी समान बुद्धि या एकसी धारणा रखना, और कहना कि 'सब भगवान, भगवान ही तो है'। इसलिए सभी भगवान एक ही है, 'जगत् पिता एक ही है' 'मात्र नाम भिन्न-भिन्न है'। चाहे जो भी कोई नाम भजो भगवान-भगवान के बीच में कोई फर्क नहीं है। उसी तरह सभी धर्म एक ही है। धर्म कोई अलग-अलग नहीं है। जैसे एक शहर तक पहुँचने के अनेक रास्ते हैं, चाहे जिस किसी रास्ते से जाओ, सभी रास्ते एक जैसे ही है। वैसे ही मोक्ष तक पहुँचने के लिए सभी धर्म मार्ग एक जैसे है। इसलिए सभी धर्म एक सरीखें ही है। ऐसी मान्यता अनभिगृहिकमिथ्यात्वी की होती है।

ऐसा मिथ्यात्वी भेल-सेल-मिलावट-मिश्रण करने वाले व्यापारी के जैसा होता है। वह अच्छे-खराब सबका मिश्रण करके चलता है। रागी और

वितरागी, द्वेषी और क्षमाशील, क्रोधी और समता के सागर, सर्वज्ञ और अल्पज्ञ, भोगलीला वाले और त्यागी तपस्वी, संसारी और मुक्त, कर्मरहित और कर्मसहित, अनभिग्रहिक मिथ्यात्वी सभी को एक जैसे भगवान के रूप में ही मानता है क्योंकि उसकी बुद्धि ही वैसी है। वह न तो परिक्षा करता है और न ही तुलना करता है। जैसे मणि, कांच, सोना-पीतल, हीरा-पत्थर, दूध-छाछ आदि सभी को एक मानने की बात करता है। मुख्य कारण तो यह है कि ऐसे मिथ्यात्वी में दरअसल या तो ज्ञान ही नहीं है या तुलना करने की बुद्धि ही नहीं है। इसमें यथार्थ समझ का अभाव एवं सरलता मुख्य रूप से कारण बनती है। मतिमंदता एवं जड़ता के मुख्य कारण से वह मिथ्यात्वी रहता है। जैसे एक फेरीवाला अपने माल की बिक्री के लिए रास्ते पर चिल्लाता रहता है - 'सब एक- एक रुपया, सब एक- एक रुपया' कोई भी वस्तु खरीदो, सब एक- एक रुपया'। ऐसा फेरी वाला जो दस पैसे, चार आने, आठ आने की वस्तु की कीमत भी एक रुपया, और दो-चार-आठ रुपये की वस्तु की कीमत भी एक रुपया, इस तरह सबको एक जैसी बताता है। वैसे ही अनभिगृहिक मिथ्यात्वी जीव भी सच्चे-झूठे, त्यागी-भोगी सभी भगवान, गुरु और धर्म को एक जैसा ही मानता है। यह उनकी अनभिगृहिक मिथ्यावृत्ति है। कई बार इस प्रकार के मिथ्यात्वी जीव ऐसा कहकर अपनी बात किसी के दिमाग में ठसाते हैं कि अरे भाई ! मैं तो उदार वृत्तिवाला हूँ, विशाल भावना वाला हूँ, मैं संकुचितवृत्ति वाला नही हूं। इसलिए सभी भगवान को और सभी धर्म को एक ही मानता हूँ। इसलिए ऐसी उदार या विशाल भावना के कारण मैं बड़ा एवं महान् बनना चाहता हूँ। इस तरह वह अपनी वृत्ति दूसरों को भी समझाता है। स्वाभाविक है कि शब्दों की ऐसी मीठी जाल से दूसरे उसकी मिथ्यावृत्ति की भी प्रशंसा करने लग जाते हैं, और उसे एक अच्छा उदार दिल, विशाल भावना वाला मानने लगते हैं।

अनभिगृहिक मिथ्यात्वी की ऐसी विचारधारा एवं विशालता और उदारता के बार में यदि हम तर्क- युक्ति एवं बुद्धि पूर्वक सोचें तो कुछ और ही लगेगा। तर्क -युक्ति ऐसी दुविधा खड़ी करते हैं कि -१. जितना पीला है उतना सोना है, या जितना सोना है उतना पिला है ? २. जो चमकती है वह चांदी है या जो चांदी है वह चमकती है ? ३. जो स्त्री है वह माता है या जो माता है वह स्त्री है ? ४. जहां धुंआ होता है वहां अग्नि रहती है या जहां अग्नि होती है वहां धुंआ रहता है ? ५. जो मनुष्य है वह खाता है या जो खाता है वह मनुष्य कहलाता है ? ६. जो अरिहंत होते हैं वे भगवान कहलाते हैं ? या जो भगवान होते हैं वे अरिहंत कहलाते हैं? ७. जो हीरा होता है उसे रंगीन पत्थर कहना या जो रंगीन पत्थर होता है उसे हीरा कहना ?ऐसे संदेहास्पद अर्थात् थोड़ी देर के लिए दुविधा में आने वाले ऐसे तर्क-युक्ति वाले कई

प्रश्न खड़े होते हैं। परंतु इनमें सही-सत्य छिपा हुआ है। तर्क एवं युक्ति पूर्वक तीक्ष्ण बुद्धि चलाने वाला इनमें से सही सत्य का सार खोज निकालेगा। परंतु ऐसा अनभिगृहिक मिथ्यात्वी जो कि मंदमति है वह बुद्धि का उपयोग करने की झंझट में नहीं पड़ता है। तुलना और परिक्षा करने की भी उसकी वृत्ति नहीं होती है। अत: वह 'सब एक हैं' ऐसा आसानी से कहता और मानता है। यदि परिक्षक बुद्धि से तुलना और परिक्षा करके सत्य खोजने के लिए छानबिन की जाय तो इसमें से हल्का-पतला सा अंतर रखने वाला सत्य अंतर जरूर मिलेगा। छाछ में घी नहीं दिखाई देते हुए भी मंथन करने पर जो नवनीत निकलता है उसमें से घी प्राप्त होता है। सत्य की खोज करना यह सम्यक्त्वी का कार्य है।

उपरोक्त तर्क-पूर्ण वाक्यों में सत्य खोजने की बुद्धि से यदि देखा जाए तो स्पष्ट दिखाई देता है कि- १. जो सोना होता है वह पीला जरूर होता है परंतु जो पीला होता है वह सोना नहीं भी होता है क्योंकि पीतल भी पीला होता है। अत: उसे सोना नहीं कह सकते हैं। लेकिन सोने को जरूर पीला कहते हैं। २. जो चांदी होती है वह जरूर चमकती है, परंतु जो कुछ चमकती हुई हो उसे चांदी नहीं भी कह सकते है, क्योंकि जिंक धातु भी चांदी की तरह चमकीली होती है। अत: न तो जिंक को चांदी कहते हैं और न ही चांदी को जिंक कह सकते हैं। चमकीलेपन के सादृश्य से धातु जैसी दिखाई देती है, परंतु एक नहीं होती है। ३. जो माता होती है वह स्त्री अवश्य ही है, परंतु जो स्त्री होती है वह माता नहीं भी होती है क्योंकि वंध्या भी स्त्री जरूर हैं, परंतु वह माता नहीं होती है। इस तरह स्त्रीपने का सादृश्य होते हुए भी मातृत्व भाव अलग ही है। ४. जहां धुआं रहता है वहां अग्नि अवश्य ही रहती है, परंतु जहां अग्नि रहती है वहां धुआं नहीं भी रहता है। "तप्तअय:पिंडअयोगोलक" भट्टी में तपाया हुआ लोहे का गोला बाहर रखा हुआ हो वहां अग्नि जरूर रहती है, परंतु धुआं नहीं होता है। ५. जो मनुष्य है वह जरूर खाता है, परंतु खाने वाले सभी मनुष्य नहीं भी होता है, क्योंकि पशु भी खाते हैं। ६. जो अरिहंत होते हैं वे अवश्य ही भगवान कहलाते हैं, परंतु जो भगवान कहलाते है वे अरिहंत नहीं भी होते है, क्योंकि ऐसे कई रागी-द्वेषी एवं भोगलीला वाले भी अपने आपको भगवान कहते हैं। तथा वर्तमान कलियुग में कई बन बैठे हुए भगवान भी हैं जो भोगलीला एवं पापलीला चला रहे हैं। वे अपने आपको कहते और कहलाते हैं,वे अरिहंत वीतराग नहीं कहला सकते हैं। कोष के आधार पर 'भग' शब्द के १४ अर्थ बताए गए हैं अत: १४ प्रकार के 'भगवान' हो सकते हैं, परंतु अरिहंत तो मात्र वीतरागी-सवर्ज्ञ ही होते हैं। ७. जो हीरा होता है, वह जरूर रंगीन पत्थर कहलाएगा, क्योंकि वह पत्थर की जाति का है और रंग-बिरंगा है, परंतु हर रंगीन पत्थर हीरे की जाति का नहीं होता

है । अत: वह हीरा नहीं कहलाता है । रंगीनता का सादृश्य होते हुए भी जाति रूप से हीरे और पत्थर का भेद रहता है ।

इस प्रकार के तर्क-युक्ति पूर्वक विचार करना अनभिग्रहिक मिथ्यात्वी केलिए बड़ा मुश्किल है । अत: वह बौद्धिक व्यायाम नहीं करना चाहता है । इसलिए 'सब भगवान एक है' 'सब धर्म एक हैं' इत्यादि मानना उसके लिए बड़ा आसान और सरल लगता है, परंतु अच्छी तरह से विचार करें तो ऐसा लगेगा कि- हम ठगे जा रहे हैं।पीला देखकर यदि सोना खरीद लिया तो नुकसान हमारा ही होगा । इसलिए सोने की भी परिक्षा करके ही खरीदना चाहिए । सोने की परीक्षा भी आसान नहीं है । कष-छेद-भेद और ताप इन चार प्रकार से परीक्षा की जाती है । उसी तरह संसार के व्यवहार में हर वस्तु की परीक्षा की जाती हैं । अत: अच्छा यह होगा कि हम देव-गुरु-धर्म आदि तत्त्वों की परीक्षा करके ही उन्हें स्वीकारें । तार्किक शिरोमणि पूज्य हरिभद्रसूरी महाराज कहते हैं -**'धर्मः धर्मार्थीभिः सदाज्ञेया परिक्षीतैः '**। धर्मार्थी-धर्म की इच्छा वाली आत्मा को सदा धर्म की परीक्षा करके ही उसे स्वीकारना चाहिए ।

शायद आप सोचेंगे कि-हमें धर्म की परीक्षा करने का क्या अधिकार है? हम किस बुद्धि सेधर्म एवं भगवान की परीक्षा करें ? हमारे पास कहां इतना ज्ञान है कि हम इन तत्त्वों की परीक्षा कर सकें? बात सही है । सोचिए ! हमने सोने की परीक्षा कैसे की? कसौटी पर कसके ही परिक्षा की, कि वह सोना है । वैसे ही धर्मशास्त्रों ने हमें ऐसे कसौटी रूप सिद्धांत बताए है । जिससे हम भगवान और धर्म की भी परीक्षा कर सकते हैं । उदाहरण के लिए 'नमो अरिहन्ताणं' पद दिया है । अरिहंत परमात्मा को नमस्कार किया है । भगवान को 'अरिहंत' शब्द से संबोधित किया है । 'अरि = आंतर-शत्रु । काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि आत्मा के आभ्यन्तर शत्रु है । 'हंत' अर्थात् हनना = नाश करना । अरिहंत अर्थात् राग-द्वेषादि आंतर शत्रुओं के विजेता, ऐसे अरिहंत भगवान को नमस्कार किया गया है । नमुत्थुणं के पाठ में 'नमुत्थुणं अरिहंताणं भगवन्ताणं' ये शब्द पहली संपदा में दिये गये हैं । अर्थ है - 'नमस्कार हो अरिहंत भगवंतों को' यहां प्रश्न उठता है कि- जो जो अरिहंत होते हैं वे भगवान होते हैं ? या जो भगवान होते हैं वे अरिहंत होते हैं ? इस तर्क का उत्तर यदि हम ऐसा दें कि -जो जो भगवान होते हैं वे अरिहंत होते हैं,तो सोचिए ! यह कहां तक सही लगेगा ? क्योंकि संसार में भगवान कई प्रकार के होते हैं तथा भगवान शब्द के भी कई अर्थ होते हैं । भोगलीला करने वाले को भी लोग भगवान कहते हैं । कोई अपने आप ही भगवान बन बैठते हैं । कोई 'संभोग से समाधि' ऐसे पापाचार, दुराचार एवं दंभ चलाने वाले भी भगवान कहलाते हैं । कोई चमत्कारों को दिखाकर

भी भगवान बनने का स्वांग करते हैं। इस तरह ऐसे कर्मयुक्त रागी-द्वेषी कई भगवान बन बैठते हैं। वे अरिहंत वीतराग कैसे हो सकते हैं? क्योंकि अरिहंत तो राग-द्वेषादि सर्व आभ्यंतर-कर्मशत्रु रहित होते हैं। इसलिए जो जो भगवान होते हैं वे अरिहंत हैं, ऐसा मानना, या कहना सही नहीं है, तर्क-युक्ति शून्य है। इसलिए 'नमुत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं' इस पाठ की रचना में शब्दों का जो क्रम दिया है, वह इस तर्क - युक्ति का प्रमाण सिद्ध करता है। अत: जो जो अरिहंत होते हैं वे भगवान अवश्य कहलाते हैं। यही इस परीक्षा (या कसौटी) पर खरा उतरता है। इस दृष्टिकोण से सोचने पर 'सब भगवान एक है' यह बात रत्तीभर भी सही नहीं लगती है।

एक सज्जन ने प्रश्न किया कि - भक्तामरस्त्रोत आदि कई स्तुतियों में कई भगवानों के नाम एक साथ लेकर नमस्कार किया गया है तो उसमें क्या समझना चाहिए? उदाहरण के लिए :-

भवबीजांकुर जनना रागादयो क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ।।१।।
बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित-बुद्धि-बोधात्,
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रय-शंकरत्वात्।
धातासि धीर! शिवमार्गविधे-र्विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन्! पुरुषोत्तमोऽसि ।।२।।

इन स्तुतियों में ब्रह्मा, विष्णु, हर-महादेव तथा जिन भगवान आदि सभी को एक साथ नमस्कार किया गया है। वैसे ही भक्तामरस्तोत्र की इस स्तुति में भी बुद्ध, शंकर, धाता-विधाता, पुरुषोत्तम आदि भगवान के नामों का एक साथ उल्लेख करके नमस्कार किया गया है।

'सब भगवान एक है' ऐसा वे मानते या स्वीकारते होंगे, तभी तो उन्होंने ऐसी स्तुतियां की होगी।

महाशयजी, आपका कहना ठीक है, परंतु इसका रहस्य समझने पर सम्भव है कि आपकी भ्रांति दूर हो जाय। आपने उपरोक्त स्तुति में सिर्फ भगवान के प्रचलित नामों पर ही ध्यान दिया है, परंतु वह नमस्कार सशर्त किया गया है। **'भवबीजांकुर जनना रागदयो क्षयमुपागता यस्य'** अर्थात् भव-संसार के बीज रूप राग-द्वेष आदि का जिसने सर्वथा क्षय कर दिया है ऐसे नामधारी चाहे जो भी कोई हो, भले ही वे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हर हर महादेव हो, या जिनेश्वर भगवान हो, उन सबको मेरा नमस्कार हो। इसमें सब भगवान को एक मानकर नमस्कार नहीं किया गया है, परंतु यदि वे सभी राग-द्वेषादि आभ्यंतर कर्म-शत्रु रहित हो तो उन्हें मेरा नमस्कार हो, नाम भले चाहे जो भी कोई हो। जैन धर्म में नाम की महिमा नहीं है,

परंतु गुणों की महिमा है । अत: जैन धर्म व्यक्तिवाची या व्यक्ति परक नहीं है । यह गुणवाचक या गुणपरक है । नमस्कार महामंत्र में किसी भगवान का नाम नहीं लिया गया है, और न हीं नामवाची मंत्र बनाए गए हैं । इसलिए 'नमो महावीराणं' 'नमो आदीश्वराणं' आदि मंत्र नहीं दिये गये हैं । वैसे ही 'नमो भगवंताणं' आदि ऐसी वाक्य रचना भी नहीं बनाई गई हैं परंतु **'नमो अरिहंताणं' 'नमो सिद्धाणं'** आदि महान अर्थ वाले मंत्रपद दिये गये हैं। इसलिए आदीश्वर, महावीरस्वामी आदि चौबीसी तथा भूतकालीन, भविष्यकालीन अनंत भगवानों का समावेश इस अरिहंत-सिद्ध पद में हो जाता है । अत: 'नमो महावीराणं' आदि पदों की अपेक्षा **'नमो अरिहंताणं' 'नमो सिद्धाणं'** आदि पद अनेकगुने अधिक महानार्थ एवं सार्थकहै । आदीश्वर एवं महावीरस्वामी आदि भी भगवान कब कहलाए? जब वे अरिहंत बने तब, अर्थात् क ाम, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेषादि सर्व आत्मशत्रुओं का क्षय करके क र्मरहित वीतराग बने तब वे अरिहंत भगवान कहलाएं । इसलिए स्तुति में इसे शर्त पूर्वक नमस्कार किया गया है कि-यदि ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, महादेव आदि कोई भी हो, परंतु यदि वे भवबीज रूप राग-द्वेषादि कर्म से रहित हो तो ही उन्हें नमस्कार हो, अन्यथा नहीं । भक्तामरस्तोत्र की स्तुति में मानतुंगसूरि महाराज ने बुद्ध, शंकर, धाता-विधाता और पुरुषोत्तम आदि शब्दों का प्रयोग व्याकरणानुसार व्युत्पतिजन्य अर्थ लेकर जिनेश्वर भगवान को हो बुद्ध, शंकर, विधाता एवं पुरुषोत्तम आदि नामों से सार्थक सम्बोधित किया है ।

इस तरह तर्क युक्ति बुद्धिपूर्वक विचार किया जाय तो **'सब भगवान एक है'** ऐसी अनभिगृहिक मिथ्यात्वी की दृष्टि एवं मान्यता लेकर उपरोक्त स्तुतियां नहीं की गई हैं । तुलनात्मक एवं परीक्षात्मक बुद्धि से सही-सत्य समझते हुये ऐसी स्तुतियां महापुरुषों की है, वे महान सम्यगदर्शनी थे । अत: सम्यक्त्वी तुलना एवं परीक्षा करके सब भगवान में से वास्तविक सही भगवान ढूंढ निकालने का परिश्रम क रता है, जबकि मिथ्यात्वी के लिए 'सब भगवान एक है' यह कहना बिना बुद्धि के उपयोग के बड़ा आसान है ।

अनभिगृहिक मिथ्यात्वी एकऔर रसप्रद बात ऐसी कहता है कि - **'मैं तो बडी उदारवृत्ति वाला हूं' एव 'विशाल भावना वाला हूं'** इस तरह मैं बिना पक्षपात या भेदभाव के सब भगवान को एक मानता हूँ' इसलिए मेरी विशाल भावना बहुत ऊर्ची है । आपातत: ऊपरी दृष्टि से देखने पर यह बात अच्छे-अच्छे के गले उतर जाती है । कई लोग इसे स्वीकारने भी लग जाते हैं । परंतु यह भी कहां तक सही है? यह देखने के लिए पुन: हमें गहराई में जाकर परीक्षा करनी पडेगी । एक सीधे-सादे उदाहरण से समझा जाय तो कैसा लगेगा, यह आप सोचना । एक पतिव्रता स्त्री यदि

यह कहे कि- मैं संकुचित वृत्तिवाली नहीं रहना चाहती हूं, मैं भी उदार भावना एवं विशाल मनोवृत्ति वाली होकर सभी पुरुषों को पति मानना चाहती हूं। सभी पुरुष मेरे पति हैं। अत: मैं किसी एकको ही क्यों मेरा पति मानूं ? उदारता से सभी को पति मानती हूं आखिर दाम्पत्य जीवन की सांसारिक सुख तो सभी से एक जैसा ही मिलता है। सभी पुरुष एक सरीखे ही है। मात्र नाम भेद से ही मिन्न-भिन्न हैं, परंतु देह सादृश्यता से एकजैसे ही हैं। इसलिए संकुचित बंधन छोड़कर सभी को मेरे पति ही मानूँ, यह कितनी बड़ी उदारता है।

सज्जनो ! सोचिए क्या आपकी ही पत्नी यदि ऐसा कहे तो चलेगा ? क्या आप इस बात का स्वीकार करेंगे ? सभा में से उत्तर-'नहीं, नहीं', 'यह कभी भी बर्दास्त नहीं होगा''। वह पतिव्रता स्त्री कैसे कहलायेगी ? यदि वह सभी को पति मानती है तो वेश्या कहलाएगी।फिर वेश्या और पतिव्रता में अंतर क्या रहा? यदि हम हजारों वर्षों का इतिहास देखें तो अनेक सतियां एवं महासतियां शुद्ध, एक पतिव्रता धर्म पालकर महान हुई है। सभी मेरे पति है, ऐसा विचार उन्होंने स्वप्न में भी नहीं किया। व्यवहार में भी कोई ऐसा नहीं बोलती थी। यदि एक स्त्री पति के विषय में ऐसा नहीं बोल सकती है, तो एक भक्त भगवान के विषय में 'सब भगवान एक है' ऐसे बोले, कहां तक उचित है? एक पति के प्रति पतिव्रता धर्म पालकर यदि सती-महासती बन जाती है तो एक भगवान के प्रति शुद्ध श्रद्धा का धर्म पालकर भक्त महान् सम्यक्त्वी बन सकता है। इसलिए आनंदघन जैसे अवधूत योगी महात्मा भी अपने भगवान को प्रीतम-प्रियतम मानकर स्वयं उनकी पत्नी-प्रियतमा भाव से रहकर एक पतिव्रता धर्म की तरह अखंड एवं सचोट श्रद्धा युक्त धर्म से भगवान को कहते हैं कि -

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो, और न चाहुं रे कंत।
रीझ्यो साहिब संग न परिहरे, भांगे सादि अनंत ।।

- हे ऋषभ जिनेश्वर ! तू ही मेरा प्रीतम (भगवान) है, तेरे बिना किसी अन्य को मैं पति (भगवान) नहीं मानता हूं। इस तरह वीतराग को भगवान मानकर अन्य किसी को भगवान रूप नहीं मानने का शुद्ध सत्य विचार उन्होंने प्रीतम की उपमा की कल्पना से दर्शाया है। इस तरह 'सब भगवान एकहै', 'सब धर्म एकहै' सभी आत्मा एक है। इत्यादि मान्यताएं अनभिगृहिक मिथ्यात्वी की है। यह किसी भी रूप में सम्यग् नहीं है। अत: प्रयत्न विशेष से ऐसी मिथ्याधारा दूर करके शुद्ध सम्यक्त्व की मान्यता प्राप्त करना ही लाभदायक है।

३. आभिनिवेशिक मिथ्यात्व :-

अभिनिवेश अर्थात् कदाग्रह या हठाग्रह । इस प्रकार के कदाग्रह में यह सत्य और असत्य, तत्त्व और अतत्त्व, धर्म और अधर्म, ईश्वर और अनीश्वर आदि का स्वरूप यद्यपि मनुष्य जानता है फिर भी वह कदाग्रहपूर्वक अपने हठाग्रह को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता है । कदाग्रह की बुद्धि के कारण अहंकार आदि के वश होकर, जान बुझकर सत्य का लोप करके, असत्य का ही आग्रह रखता है । उसे आभिनिवेशिकमिथ्यात्व कहते हैं । असत्य की पकड़ में अहंकार मुख्य काम करता है । आभिग्रहिक मिथ्यात्वी और आभिनिवेशिक मिथ्यात्वी में अंतर इतना ही है कि पहला सत्य को न जानते हुए असत्य की पकड़ रखता है, जबकि आभिनिवेशिक मिथ्यात्वी सिद्धांत के सत्य स्वरूप को जानते हुए भी, सत्य का लोप करके, अभिमान आदि के कारण, कदाग्रहवश असत्य की पकड़ रखता है । शास्त्रों में जैसे गोष्ठामाहिल की बात आती है, वर्तमानकाल में भी कई लोग ऐसे है, जो सिद्धांत का सही स्वरूप जानते हुए भी, साम्प्रदायिक वृत्तियों के वश होकर, अपने पक्ष और गच्छ आदि के वश होकर, असत्य की प्ररूपणा करते हैं । उदाहरणार्थ जिनदर्शन-पूजा आदि का आगम शास्त्रों में उल्लेख होते हुए भी व्यवहार में असत्य की प्ररूपणा करना कि "यह सब झूठ है, गलत है इसमें पाप है । " शास्त्रों में आलू, प्याज आदि कई प्रकार के अनंतकाय बताए गए हैं, शास्त्र पढ़कर वैसा मानते भी हैं, फिर भी आचार व्यवहार में अभक्ष्य-अनंतकाय आदि का भक्षण होता हैं ।स्वाभिमान-मोह-ममत्वश होकर, अपनी बात को वापिस ले लेने में अपमान होने या मानखंडित होने का भय लगता है । इसलिए भी असत्य पकड़ मजबूत रखना है । मेरा ही कहा हुआ सत्य है ऐसा कदाग्रह रखता है । जो मेरा कहा हुआ है वही सत्य है, परंतु जो सत्य है वह मेरा नहीं है । MIGHT IS RIGHT BUT RIGHT IS NOT MIGHT, ऐसी उनकी मनोवृत्ति रहती है ७ यह आभिनिवेशिक मिथ्यात्वी की विारधारा है, जबकि यह सही नहीं है । वास्तव में देखा जाय तो यह सत्य है कि - RIGHT IS MIGHT BUT MIGHT MAY NOT BE RIGHT- जो सत्य है वह मेरा जरूर है, परंतु जो मेरा है वह शायद सत्य न भी हो, यह सम्यक्त्व की सही मान्यता है, परंतु आभिनिवेशिक मिथ्यात्वी ठीक इससे विपरीत मान्यता, हठाग्रहवश रखता है । असत्य की पकड़ रखकर वह जोर-शोर से उसकी विपरीत प्ररूपणा करता है । नया मत निकालने में वह अग्रसर होता है तथा अपने नये मत को निश्चय की तरफ, या एक तरफ ढालने में, और उसकी मजबूत पकड़ रखने में, गौरव मानता है । मरने के

अंतिम क्षण तक भी असत्य को छोड़कर क्षमा याचना करके सत्य स्वीकार करने की उसकी तैयारी नहीं होती है । जमालि आदि जैसे, निह्नव एकदेशीय नयवाद को मुख्यता देने वाले, जिन्होंने भगवान के अनेकान्तिक एवं सापेक्षवाद को ठुकराकर, अपनी एकदेशीय एकान्तिक मान्यता को जबरदस्ती लोगों के दिमाग में ठसाने का प्रयत्न किया, वे भी आभिनिवेशिकमिथ्यात्वी कहलाते हैं । आभिगृहिक मिथ्यात्व, सवर्ज्ञ वीतराग के दर्शन को न पाये हुए अन्यमती को, अपने एकमत के आग्रह वाले को होता है, जबकि आभिनिवेशि मिथ्यात्व तो सवर्ज्ञ-वीतराग के दर्शन को पाने वाले जीवन में भी हो सकता है, जैसे कि जमालि आदि को थी ।

जावइया वयणपहा, तावइया चेव हुँति नयवाया ।
जावइया नयवाया, तावइयं चेव मिच्छत्तं ।।

जितने ही वचन अभिप्राय विशेष है, उतने ही नयवाद होते हैं और जितने ही नयवाद होते हैं, उतने ही मिथ्यात्व के प्रकार होते हैं । **वक्तुरभिप्राय: विशेषो नय: ।** नय का लक्षण इस प्रकार बताया है कि वक्ता अर्थात् बोलनेवाले का अभिप्राय, विशेष विचार, नय कहलाता है । सभी नय निरपेक्ष-एकान्तिक होते हैं । एक नय दूसरे नय की अपेक्षा न करता हुआ, स्वतंत्र चलता है । अत: एकनय मिथ्यात्व कहलाता है । ऐसे जगत में अनेकलोग हैं, अनेकों केअपने-अपने विचार-अभिप्राय भिन्न-भिन्न है । कहा गया है कि - **''मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना:''** । हर मनुष्य की मति भिन्न-भिन्न होती है । जितने दिमाग उतने विचार होते हैं । जितने मत उतने नय होते हैं । अत: जितने नय उतने सभी मिथ्यात्व होते हैं । अत: एकान्तिक एक नय की पकड़ रखना यह मिथ्यात्व कहलाता है । अन्य सभी नयों का स्वरूप जानता हुआ भी, यदि उनका सापेक्ष रूप से विचार न करते हुए एकान्त एक नय को पकड़कर ही चलता है, तो वह भी आभिनिवेशिक मिथ्यात्वी कहलाता है । यह भी अच्छा नहीं है । अत: सभी नयों का समुदित सापेक्षज्ञान करके, उन्हें प्रमाणरूप से स्वीकारने में सम्यक्त्व है ।

४. सांशयिक मिथ्यात्व :-

इस नाम से ही अर्थ स्पष्ट है कि वह संशय प्रधान वृत्तिवाला है । शंकाशील जीवों को ऐसा सांशयिक मिथ्यात्व होता है । हर बात मे शंका मुख्य रूप से रहती है । सवर्ज्ञ-केवलज्ञानी भगवान के बताए हुए जीव-अजीव, लोक-परलोक, स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, मोक्षादि तत्त्व वास्तव में होंगे भी सही या नहीं ? क्या

मालुम नहीं भी होंगे ? फिर भी सर्वज्ञ भगवान ने लोगों को सुधारने के लिए नरक आदि का भय बता दिये होंगे । शंका की आदत पड़ने के कारण वह यहां तक कुतर्क करने लग जाता है कि महावीरस्वामी भी हुए थे या नहीं ? इस बात में क्या प्रमाण है ? संभव है शायद मुनि महाराजों ने लोगों को नीति-रीति समझाने केलिए कपोल क ल्पित रूप से महावीर स्वामी का मनघडंत एक रूपक चरित्र खड़ा कर दिया होगा? एक युवक ने आकर ऐसा प्रश्न मुझे पुछा । मैंने सोचा यह सांशयिक मिथ्यात्वी जीव है। हर बातों में शंका-संशय रखता है । शंका के कुतर्क खड़े करता रहता है । मैंने ईंट का जवाब पत्थर से देने की युक्ति से कुतर्क के सामने दूसरा कुतर्क फैंक ही दिया । अरे ! सुन, ये तेरे पिता है इसका तेरे पास क्या प्रमाण है ? किस प्रमाण या प्रुफ से तू यह कहता है कि यह मेरे पिता है ?

युवक-महाराज ! मेरी मम्मी ने मुझे बताया है कि यै तेरे पिता है ।

मैंने कहा- इसे कैसे सत्य मानें ? तेरी मम्मी झूठ नहीं बोलती है इसका क्या प्रमाण है ? तेरे पास पक्का ठोस प्रत्यक्ष प्रमाण क्या है । दूसरों के कहने पर तू यह मानता है । इसमें हम कैसे विश्वास रखें ? और यदि मम्मी या पापा केकहने पर तू यह मानने या स्वीकार करने को तैयार है, तो परम्परा से चली आती हुई गुरु-शिष्यों की वंशपरम्परा से महाराज ये कहें कि -'महावीर स्वामी ऐसे थे, उस समय हुए थे, उन्होंने यह कहा था' इत्यादि मानने या स्वीकार करने में तुझे क्या आपत्ति है ? इस तरह युवक कान पकड़कर बात स्वीकार करके गया ।

ऐसे सांशयिक मिथ्यात्वी जीव, सत्य जानते और मानते हुए, या धर्म क रते हुये, भी अपने शंकाशील स्वभाव के कारण भगवान में, गुरु में, धर्म में, धर्म केफ ल में, तथा तत्त्वों में संशय करते रहते हैं । वे सांशयिक मिथ्यात्वी कहलाते हैं । इस तरह शंका-कुशंका करकेअपनी श्रद्धा को वह दूषित करता रहता है और मिथ्यात्व क ा कलंक लगता रहता है । सम्यक्त्व में भी कदाग्रह-दुराग्रह या पूर्वाग्रहश होकर शंक ा कुशंकाए खड़ी करना, यह सांशयिक मिथ्यात्वी का काम है । सवर्ज्ञ वीतरागी भगवान पर पूर्ण सचोट श्रद्धा न होने केकारण उनमें, उनके वचन में, तत्त्व में, धर्म में, धर्मफल में, ऐसी शंकाएं उसके दिमाग में उत्पन्न होती रहती हैं । मन में बार-बार विचार तरंगे उत्पन्न होती ही रहती हैं कि यह सत्य होगा या नहीं ? यह ऐसा होगा या नहीं ? पुण्य-पाप जैसी कोई वस्तु होगी या नहीं? भगवान हुए थे या नहीं ?

स्वर्ग-नरक, लोक- परलोक होंगे या नहीं ? पुनर्जन्म होते भी हैं या नहीं ? धर्म करने से कोई फल मिलता होगा या नहीं ? इस तरह सैंकड़ों प्रकार की शंकाएं

भूत के रूप में उसके सिर पर सवार होती रहती है । नीतिकार ठीक ही कहते हैं - **'संशयात्मा विनश्यति-श्रद्धावान् लभते फलम् '**। संशयी-शंकाशील आत्मा विनाश लाती है, नष्ट होती है, नाश की दिशा में जाती है, जबकि श्रद्धावान् जीव फल प्राप्त करता है । यहां एक बात का स्पष्टीकरण करना है कि जिज्ञासा-जानने की बुद्धि से यदि शंका प्रकट की जाय, अभ्यास हेतु, वाद-चर्चा या शंका- समाधान के रूप में यदि जिज्ञासा वृत्ति से,सहजभाव से शंका या प्रश्न किया जाय, यह गलत नही हैं, यह मिथ्यात्व नहीं हैं । यह भेद तो पूछने वाले की वृत्ति से ही स्पष्ट हो जाता है । अत: सांशयिक मिथ्यात्व भी घातक होता है, आत्मा का श्रद्धा से अध: पतन कराता है ।

५. अनाभोगिक मिथ्यात्व :-

एकेन्द्रियादि जीवों को, अज्ञान की प्रधानता के कारण, इस प्रकार का अनाभोगिक मिथ्यात्व होता है । अनाभोग-अज्ञानता । अज्ञानता के कारण तत्त्वों के प्रति अश्रद्धा या श्रद्धा केअभाव में विपरीत श्रद्धा ही अनाभोगिक मिथ्यात्व कहलाता है । यहां समझ शक्ति का अभाव ही, मुख्य कारण है । यह एकेन्द्रियादि जीवों में होता ही है, और किसी विशेष विषय केअज्ञान के कारण, विपरीत ज्ञान या श्रद्धा वाले मनुष्यों में भी होता है । परंतु ऐसा अनाभोगिक मिथ्यात्वी मनुष्य आभिग्रहिक और अनाभिग्रहिक मिथ्यात्वी की तरह, कदाग्रही की तरह पकड़ नहीं रखता है, परंतु सरल होता है । यदि उसे कोई सही ज्ञान समझा दे तो वह भूल सुधार कर समझने के लिए तैयार होता है, क्योंकि आग्रह-कदाग्रह रहित होता है, और यदि कोई उसे विपरीत ही समझा दें, तो वह विपरीत ही पकड़कर रखेगा, परंतु सही मिलने पर भूल सुधार भी लेगा । निगोदादि एकेन्द्रिय जीव तथा पंचेन्द्रिय जीवों तक अव्यक्त अवस्था में यह मिथ्यात्व पड़ा रहता है । यह समझपूर्वक नहीं, परंतु शक्ति का विकास ही नहीं हुआ है उसके कारण है । वस्तुविषयक सही ज्ञान केअभाव में अज्ञानता के कारण यह मिथ्यात्व पड़ा रहता है ।

अश्रद्धा के दो अर्थ है । १. विपरीत श्रद्धा और २. श्रद्धा का अभाव । पहले के तीन मिथ्यात्व, विपरीत श्रद्धा रूप अश्रद्धा वाले हैं । चौथे सांशयिक मिथ्यात्व में श्रद्धा-अश्रद्धा दोनों का मिश्र भाव रहता है क्योंकिश्रद्धा का अभाव है । पांचवे अनाभोगिक मिथ्यात्व में जीव, जो किसी प्रकार का धर्म या दर्शन पाये ही नहीं है, ऐसे एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय आदि तककेजीवों में, श्रद्धा केअभाव रूप मिथ्यात्व है ।

इस तरह मिथ्यात्व के उपरोक्त प्रमुख पांच भेद बताए गए हैं। शास्त्रकार महर्षियों ने इस मिथ्यात्व को आत्मा का महा शत्रु बताया है। अनेक कर्मबंध की यह मूल जड़ है, अत: मिथ्यात्व दशा में जीव बड़े भारी कर्मों को बांधता है। अत: मिथ्यात्व से बचने के लिए मिथ्यात्व का स्वरूप, भिन्न-भिन्न प्रकारों से, अनेक रीति से, बताया है, जिसमें दस प्रकार की संज्ञाएं, अभिगृहिक आदि मुख्य पांच भेद, लौकिक-लोकोत्तर भेद से ६ प्रकार का और बताया है, जिसका विवेचन आगे करते है।

लौकिक-लोकात्तर भेद से ६ प्रकार का मिथ्यात्व :-

लोक लोकात्तर भेद षड्विध, देव-गुरू वली पर्वजी,
शक्ते तिहां लौकिक त्रण आदर, करतां प्रथम निगर्वजी।
लोकोत्तर देव माने नियाणे, गुरू ने लक्षणहीना जी,
पर्वनिष्ठ इहलोक ने काजे, माने गुरुपद लीना जी ।।

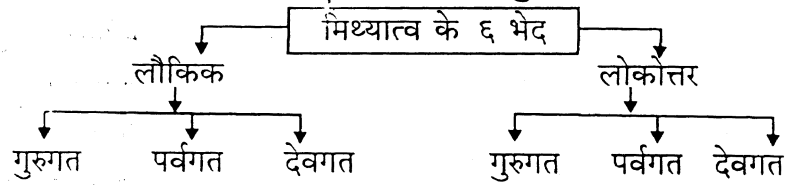

तत्त्व के क्षेत्र में देव-गुरु एवं धर्म की तत्त्वत्रयी बताई गयी है। इस तत्त्वत्रयी में धर्म संबंधी सारा तत्त्व-ज्ञान समाया हुआ है। अत: इन तीन के बाहर धर्म की कोई बात नह है। धर्म की समस्त बातें इन तीन में समां जाती हैं। यहां स्पष्टीकरण यह करना है कि-देव तत्त्व से वीतराग भगवान को समझाना है, न कि कोई स्वर्गीय देवगति के देव को। यहां 'देव' शब्द देवाधिदेव शब्द का संक्षिप्त रूप है। शास्त्र में लिखा हैं कि :-

जो देवाणवि देवो, जं देवा पंजलि नमंसंति।
तं देवदेवमहियं, सिरसा वंदे महावीरं ।।

- जो देवताओं के भी देव हैं, जिन्हें देवलोक के देवता भी अंजलीबद्ध नमस्कार करते हैं, तथा देवलोकके देवताओं के स्वामी इन्द्रादि देवों से पूजे गये हैं, ऐसे देवाधिदेव श्री महावीर स्वामी भगवान को सिर झुकाकर वंदना करता हूँ। उपरोक्त गाथा में देवाधिदेव किसे कहते हैं ? यह व्याख्या स्पष्ट की है। अत: 'देव' शब्द देवाधिदेव का अंतिम अर्धांश के रूप में लिया गया है। इससे महावीर स्वामी आदि अरिहंत भगवान देव समझना है। इस तरह देव-सर्वज्ञ वीतरागी, भगवान, गुरु-सर्वज्ञ भगवान के बताये हुए मार्ग पर चलने वाले तथा प्रभु के धर्म का उपदेश

एवं आचरण करने वाले गुरु कहलाते हैं तथा सर्वज्ञ भगवान ने जो तत्त्व रूप धर्म बताया है उस धर्म की उपासना तत्त्वत्रयी की शुद्ध सम्यग् साधना कहलाती है । यहां पर लौकिक- लोकोत्तर आदि दृष्टि से देव-गुरु-धर्म की रत्नत्रयी का विचार किया जाता है । जानना-मानना और आचरण करना इन तीनों की दृष्टि से जीवों की सम्यग् एवं मिथ्या दृष्टि रहती है । देव-गुरु-धर्म की तत्त्वत्रयी का स्वरूप अपने रुप में तो यथार्थ-सही ही है, परंतु उनका स्वरूप जानने वाले हमारे जैसे जीव, जानने के विषय में सही या गलत भी जान सकते है । उसी तरह मानना अर्थात् श्रद्धा रखने के विषय में सही या गलत श्रद्धा भी रख सकते हैं, उसी तरह आचरण करने के विषय में सही या गलत आचरण भी कर सकते हैं । जो सही आचरण है वह सम्यक्त्व है और जो गलत आचरण है वह मिथ्यात्व है । इस तरह लौकिक एवं लोकोत्तर दृष्टि से देव-गुरु-धर्म की तत्त्वत्रयी की श्रद्धा एवं आचरण करने के क्षेत्र में जो मिथ्या (गलत) पद्धति है, उस मिथ्यात्व के जो ६ भेद होते हैं उनका विवेचन इस प्रकार है ।

१. लौकिक देवगत मिथ्यात्व :-

देव तत्त्व अर्थात् भगवान के विषय में लौकिक और लोकोत्तर दो भेद होते हैं । सर्वज्ञ वीतरागी लोकोत्तर कक्षा के देव (भगवान) कहलाते हैं जबकि रागी-द्वेषी, अल्पज्ञ-भोगी-वैभवी तथा मोहादि दोषग्रस्त संसारी ऐसे लौकिक कक्षा के देव को भगवान रूप मानना यह लौकिक देवगत मिथ्यात्व कहलाता है ।

२. लौकिक गुरुगत मिथ्यात्व :-

इसमें गुरु के विषय की बात है । कंचन-कामिनि के भोगी, संसार के संगी, भोगासक्त एवं भोगलीला या पापलीला में रचे-पचे तथा अनाचारसेवी, कंदमूलादि अभक्ष के भक्षक तथा उन्मार्गदर्शक ऐसे बाबा, फकीर, जोगी-जोगटा, संन्यासी-तापस आदि को जो गुरुपद उपयोगी ३६ गुण के धारक नहीं है, उन्हें भी गुरु के रूप में मानना यह इस प्रकार का मिथ्यात्व है ।

३. लौकिक पर्वगत मिथ्यात्व :-

धर्माचरण के क्षेत्र में पर्व आदि पवित्र दिनों में जो कर्मक्षयकारक उपासना करनी चाहिए, वह न करते हुए उसका लक्ष्य छोड़कर कुछ और ही करें, या विपरीत ही करें, इससे मिथ्यात्व दोष लगता सै - **'आत्मानं पुनाति इति पर्व'** - जो आत्मा को पवित्र करें वह पर्व कहलाता है । आत्मा पवित्र कब होगी ? जब अशुभ कर्म का क्षय होगा तब । अशुभ पाप कर्म का क्षय कब होगा ? जब विशेष रूप से पर्व दिनों की उपासना करेंगे तब । परंतु जो लोक में प्रसिद्ध है ऐसे लौकिक त्यौहार है, जिसमें

तप-त्यागादि की कर्मक्षयकारक साधना का नाम मात्र भी नहीं है । तथा जिसमें सिर्फ खाना-पीना, तथा मनोरंजन का ही एक मात्र उद्देश्य है ऐसे होली आदि पर्व मानना या मनाना यह लौकिक पर्वगत मिथ्यात्व कहलाता है ।

४. लोकोत्तर देवगत मिथ्यात्व :-

लोकोत्तर कक्षा के सर्वोत्तम देवाधिदेव वीतराग भगवान जो सर्व दोष रहित है, राग द्वेषादि रहित है, स्त्री-शस्त्रादि संबंध रहित है ऐसे सर्वज्ञ अरिहंत भगवान को मानकर भी इहलोक केसुख की आकांक्षा, पौद्गलिक सुखों की इच्छा, मुझे अच्छी स्त्री मिले, संतान की प्राप्ति हो, धन-धान्य-सम्पत्ति मिले, सत्ता-पद-प्रतिष्ठा-यशकीर्ति की प्राप्ति हो, आदि सब प्रकार के सांसारिक सुख मिले इसके लिए प्रार्थना, या स्तुति करना, या भगवान ही यह सब कुछ देने वाले हैं, इस दृष्टि से मानना, या पूजना,या जपना,या (मान्यता) आखड़ी, बाधा रखना । यह लोकोत्तर देवगत मिथ्यात्व कहलाता है ।

लोकोत्तर कक्षा के देव - गुरु - धर्म तीनों में श्रद्धा या मान्यता जरूर सही है, स्वरूप सही जानता है, परंतु आराधना या उपासना जिस हेतु से करता है वह गलत है, अत: यह विपरीत भावाचरण रूप मिथ्यात्व है । उदाहरण के रूप में जैसे हलवा पुड़ी आदि बनाना है, आपका हलवा, पुडी के स्वरूप का ज्ञान भी सही हो, परंतु यदि बनाने की रीति या विधि सुव्यवस्थित नहीं आती है, और जिस किसी तरह यदि एकभगोने में आटा, घी, शक्कर पानी आदि मिलाने पर हलवा नहीं बनेगा, उल्टी बाजी बिगड़ जाएगी, उसी तरह लोकोत्तर कक्षा के देव-गुरु-धर्म की प्राप्ति आपको जरूर हुई है, परंतु यदि उपासना-आराधना की रीति या विधि-पद्धति या हेतु सही नहीं है तो विपरीत रीति-हेतु से की गई साधना वह भी मिथ्यात्व पोषक बन जाएगी । इस तरह लोकोत्तर कक्षा के देव-गुरु-धर्म आदि सही होते हुए भी, साधना विपरीत होने के कारण, मिथ्यात्व दोष लगता है ।

५. लोकोत्तर गुरुगत मिथ्यात्व :-

उपरोक्त हेतु ही इस भेद में भी है । सिर्फ भेद इतने ही है कि यहां देव के स्थान पर गुरूहै। पंचमहाव्रतधारी, संसार केत्यागी, विरक्त वैरागी, त्यागी-तपस्वी, कंचन-कामिनि केत्यागी एवं छत्तीस गुण के धारक साधु-मुनिराजों की मान्यता श्रद्धा एवं ज्ञान तो सही है, परंतु उपासना की रीति-हेतु विपरीत है । जैसे संसार के त्यागी, वैरागी से संसार के रंग-राग पोषकआशीर्वाद लेना, शादी-सगाई हो जाय, स्त्री-पुत्र-संतान आदि प्राप्त हो, सत्ता-सम्पत्ति-पद-प्रतिष्ठा, यश-कीर्ति आदि

मिले, एवं मैं जेल से छूट जाऊँ, सजा से मुक्त हो जाऊँ, इस केस में जीत जाऊँ, घुडदौड़ में जीत जाऊँ, संकट से बच जाऊँ, फैक्ट्री-दुकान अच्छी चले आदि के विषय में ऐसी इच्छा या हेतु रखकर गुरु सुश्रुता सेवा, भक्ति आदि करना, सांसारिक सुख भोगों की अपेक्षा से साधु संतों को मानना-पूजना या वंदन करना या आशीर्वाद लेना यह सब इस प्रकार की मिथ्यावृत्ति है। अत: इसका त्याग भी हितावह है।

६. लोकोत्तर पर्वगत मिथ्यात्व :-

सर्व श्रेष्ठ कर्मनिर्जराकारक, मोक्ष प्राप्ति के सहायक, ज्ञानपंचमी, मौन एकादशी, पोष दशमी, आयंबिल की ओली, पर्युषण महापर्व एवं संवत्सरी महापर्व आदि पर्वो की आराधना कर्मक्षय के लिए करनी चाहिए। पर्वो में विशेष रूप से तप-त्याग, व्रत-पच्चक्खाण ज्ञान-दर्शन-चारित्र तपादि से आराधना करनी चाहिए और कर्मक्षय एवं आत्मशुद्धि का ही लक्ष्य रखना चाहिए। यही सम्यग् साधना है। परंतु ठीक इससे विपरीत हेतु से पर्व को त्यौहार के रूप में मनाना, तप-त्याग के बजाय खा-पीकर मनाना, व्रत- पच्चक्खाण केबजाय लोकरंजन या मनोरंजन पूर्वक मनाना, या संतान प्राप्ति, शादी, देह सौंदर्य, रूप-स्वरूप आदि अच्छा मिलने की इच्छा से मनाना, स्वर्ग या सुख भोगों की प्राप्ति के लिए मानना या मनाना या मानअभिमान की पृष्टि, पद प्रतिष्ठा, यशकीर्ति की प्राप्ति आदि सांसारिक इच्छाओं एवं आशाओं की पूर्ति के हेतु से महापर्वों को मानना या मनाना यह लोकोत्तर पर्वगत मिथ्यात्व है। यह भी सर्वथा त्याज्य है।

उपरोक्त तीनों लोकोतर देव-गुरु एवं धर्म पर्वगत मिथ्यात्व धर्मी आत्माओं को भी लग सकते हैं, यदि वे ऐसी अपेक्षा, आकांक्षा एवं हेतु से करते हों तो। अत: जैसी देव-गुरु-धर्म की ऊँची श्रेष्ठ लोकोत्तर कक्षा है उनकी उतनी ही श्रेष्ठ ऊँची कक्षा की रीत-विधि एवं कर्मक्षय-आत्मशुत्द्धि की शुद्ध भावना एवं अच्छे हेतु- लक्ष्य से आराधना- उपासना करनी चाहिए। यही सम्यग् मार्ग हैं।

'मिथ्यात्वी जीव :- 'विपरीत: भाव: मिथ्यात्व:-मिथ्यात्व।'

मिथ्या अर्थात् विपरीतवृत्ति या वद्धि। मिथ्यात्व अर्थात् विपरीतवृत्ति का भाव। मिथ्या शब्द से भाववाचकअर्थ में मिथ्यात्व शब्द बनाया है। तत्त्व एवं सत्य सिद्धांत की किसी भी बात को विपरीत ही मानना यह मिथ्यात्व कहलाता है। हमेशा ही मिथ्यावृत्ति एवं मिथ्याबुद्धि केकारण मिथ्यात्वी जीव की दृष्टि भी मिथ्या-विपरीत बन जाती है। अत: उसे मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं। इसकी गंगा हमेशा उल्टी ही

चलती है, अर्थात् देखने, जानने, मानने, समझने, आचरण करने आदि क्षेत्र में मिथ्यात्वी जीव हमेंशा विपरीतता ही रखता है । तत्त्व एवं सत्य सिद्धांत विषयक उसका ज्ञान ही अज्ञान रूप में परिणत है, एवं उसकी बुद्धि सदा विपरीत ही चलती है । यहां अज्ञान शब्द के दो अर्थ हैं। एक तो ज्ञान का अभाव और दूसरा अल्प या नाम मात्र का ज्ञान और वह भी उल्टा । ज्ञान का अभाव लिखने का अर्थ यह है कि-पदार्थ के सही-सम्यग् यथार्थ ज्ञान का अभाव मिथ्यात्वी में होता है ।

परंतु ऐसा अर्थ यहां नहीं है कि सर्वथा ज्ञान ही नहीं है, क्योंकि सर्वथा ज्ञान के अभाव वाला तो अजीव ही होता है, जबकि ज्ञान एक मात्र जीव द्रव्य का गुण है । मिथ्यात्वी भी मूलत: जीव ही है,अत: वह भी ज्ञानगुणवान् तो है परंतु उसका ज्ञान यथार्थ सम्यग्ज्ञान से सर्वथा विपरीत ही होता है । अत: वह ज्ञानवान् नहीं अपितु अज्ञानवान् कहलाता है। ऐसी अज्ञानवृत्ति वाला मिथ्यात्वी जीव मुख्यत: नास्तिक ही होता है । आत्मा-परमात्मा, लोक- परलोक, पुण्य-पाप, कर्म-धर्म, स्वर्ग-नरक, पूर्वजन्म-पूनर्जन्म, आश्रव-संवर तथा बंध-मोक्षादि ऐसे तात्विक विषयों में मिथ्यात्वी की वृत्ति हंमेशा ही निषेधात्मकविपरीत ही रहती है । इन तत्त्वों के विषय में वह न तो सही ज्ञान, जानकारी रखता है, न ही उनमें श्रद्धा-मान्यता रखता है तथा सही दृष्टि से कभी सही आचरण भी नहीं करता है । ऐसे मुख्य ६ पद है, जिनमें वह नकारात्मक दृष्टि अपनाता है ।

नास्ति नित्यो, न कर्ता च, न भोक्तात्मा, न निर्वत:।
तदुपायश्च नेत्याहुर्मिथ्यात्वस्य पदानि षट् ।।

(अध्यात्म-सार)

१) आत्मा नहीं है २) एकांत नित्य ही है ३) आत्मा कुछ भी कर्ता-हर्ता नहीं है ४) आत्मा भोक्ता भी नहीं है ५) मुक्ति-मोक्ष जैसा कुछ भी नहीं है ६) मोक्ष प्राप्ति का उपाय-मार्ग-धर्मादि कुछ भी नहीं है । इस तरह इन मुख्य ६ विषयों में मिथ्यात्वी की वृत्ति नकारात्मक ही रहती है । वह पंच महाभूतों के अलावा जन्म-जन्मांतर में जाने आने वाले आत्मा नामक कोई पदार्थ को नहीं मानता है। उसी तरह आत्मा को कर्म-धर्म का कर्ता-भोक्ता भी नहीं मानता है । इस तरह सर्वथा नास्तिक वीचारधारा वाला वह अज्ञानी होता है । अत: संसार के वैषयिक, भौतिक एवं पौद्गलिक सुखों में ही स्वर्ग का सुख मानकर जीता है । ऐसा मिथ्यात्वी जीव विशेष पाप रुचि वाला होता है । तत्त्वों में न तो उनकी श्रद्धा होती है, और न ही धर्म के आचरण की कोई भावना रहती है । वह मात्र अपने दैहिक-भौतिक सुखों की इच्छा

करता है। बस, इसके सिवाय भगवान, गुरु,धर्म आदि उसकेलिए कुछ भी नहीं है।

देव-गुरु-धर्म स्वरूप विषयक मिथ्यात्व :-

मिथ्यात्व जीव अपनी अज्ञानपरक मिथ्यावृत्ति के कारण देव=गुरु-धर्म आदि तत्त्वों को नहीं मानता है तथा जैसा स्वरूप देव-गुरु-धर्म का है, ठीक उससे विपरीत ही मिथ्यात्वी मानता है। यह बताते हुए लिखा है कि -

अदेवे देव बुद्धिर्या, गुरुधीरगुरौ च या ।
अधर्मे धर्म बुद्धिश्च, मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात्।।

जो देव (भगवान) नहीं है, उनमें भगवानपने की बुद्धि, जो त्यागी-तपस्वी गुरु नहीं है, उनमें गुरुपने की बुद्धि, जो धर्म नहीं है ऐसे हिंसादि पापाचार में धर्म-बुद्धि रखना यह अज्ञानपरकविपरीत होने केकारण मिथ्यात्व कहलाता है। जो परम अर्थात् सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ, सर्वोच्च कक्षा की सर्व कर्म रहित, सवर्ज्ञ, वीतरागी आत्मा है उसे परमात्मा कहते हैं। उन्हें भी मिथ्यात्वी जीव भगवान के रूप में मानने या स्वीकारने के लिए तैयार नहीं है। जिस तरह सुअर मिष्टान्न आदि शुद्ध भोजन को छोड़कर मल-मूत्र ही पसंद करता है, उसी तरह मिथ्यात्वी जीव भी वीतरागी-सर्वज्ञ अरिहंत को छोड़कर रागी-द्वेषी, संसारी-भोगलीला एवं पापलीला में आसक्त ऐसे को भगवान के रूप में मानने की विपरीत बुद्धि रखता है।

वैसे ही कंचन-कामिनी के त्यागी विरक्त वैरागी, पंचमहाव्रतधारी, समस्त पाप के त्यागी, मोक्षमार्ग के उपदेशक ऐसे ३६ गुण संपन्न पवित्र साधु-संत-मुनिमहात्माओं को गुरु केरुप में न मानता हुआ मिथ्यात्वी जीव अपनी विपरीत वृत्ति एवं अज्ञान दशा के कारण उनसे जोगी-जोगटा: बाबा-फकीर आदि को गुरु के रूप में मानने लगता है, जबकि वे लोभी-धूर्त, विषय कषाय केकामी, कंचन-कामिनि के संगी, भोग एवं पापलीला केरागी, व्रत-महाव्रत रहित ऐसे बहूलकर्मी मिथ्यात्वी गुरु के रूप में मानने की वृत्ति रखता है।

मिथ्यात्वी जीव धर्म के विषय में भी श्रद्धा नहीं रखता है, परंतु ठीक इससे विपरीत वह अधर्म में रुचि रखता है। धर्म से विपरीत अधर्म तो पाप ही कहलाता है। फिर भी मिथ्यादृष्टि जीव अधर्म-पाप में रुचि रखता है। वह अधर्म या पापचार को ही धर्म मानकर चलता है। जैसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा दया-दान-शीयल-भाव, तप-तपश्चर्या, यम-नियम, संयम-व्रत, महाव्रत, पच्चक्खाण, विरती, भक्ति आदि धर्म के किसी भी प्रकार में श्रद्धा या रुचि नहीं रखता है, क्योंकि

धर्म से आत्मा का कल्याण होता है, या मोक्ष होता है ऐसी बात वह नहीं मानता है, क्योंकि मूलत: आत्मा या मोक्षादि को ही नहीं मानता है, फिर आत्मा के कल्याण या मोक्ष की बात ही कहां रही ? अत: वह व्रत-महाव्रत से विपरीत मौज-शौक में एवं तप-तपश्चर्या से विपरीत खान-पान में, यम-नियम संयम से विपरीत-हिंसा झूठ-चोरी आदि में, ब्रह्मचर्य से विपरीत, रंग-राग में एवं भोगादि में मस्त रहना, ऐसा विपरीत रूप मानता है ।

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निर्वृत्तिस्तु महाफला ।।

वह मानता है कि मदिरापान-शराब पीने में कोई दोष नहीं है, न मांस खाने में दोष है, न जूआं खेलने में दोष है और नहीं मैथुन सेवन करने में पाप है, इसलिए जब तक जीना है, सुख पूर्वक जीना है, चाहे सिर पर कर्ज करके घी पीकर भी जीना पड़े । इस तरह मिथ्यात्वी जीव किसी में पाप मानने को तैयार नहीं है । वह ऋण-कर्ज बढ़ाकर भी घी पीने केलिए तैयार है । उसी तरह पापों का सेवन करके भी सुख से जीने के लिए तैयार है । मिथ्यात्वी की ऐसी विपरीत अज्ञानवृत्ति एवं पापबुद्धि उसके आचार-विचार और व्यवहार में हमेशा ही स्पष्ट दिखाई देती है । इस तरह मिथ्यात्वी जीव ज्ञान एवं श्रद्धा के विषय में तथा चारित्र (आचार, क्रिया) के विषय में, विपरीत मिथ्यावृत्ति वाला ही रहता है ।

मिथ्यात्व और अज्ञान :-

मिथ्यादर्शन का लक्षण - **'अतत्त्वे तत्त्वबुद्धिरूपत्वं मिथ्यादर्शनस्य लक्षणम्'** अतत्त्व अर्थात् जो पदार्थ तत्त्व रूप नहीं है, उनमें तत्त्वपने की बुद्धि रखना यह मिथ्यादशर्न कहलाता है । यहां दर्शन शब्द दृष्टि अर्थात् देखने केअर्थ में प्रयुक्त है, इसलिए मिथ्यात्वी को देखने की वृत्ति या दृष्टि हमेशा ही विपरीत रहती है । अत: वह अतत्त्व में तत्त्व देखने की कोशिश करता है, क्योंकि उसकी ऐसी मिथ्याबुद्धि अज्ञानता के कारण रहती है । अज्ञान का लक्षण करते हुए बताया है कि - **मिथ्यात्वमोहोदये सति अतत्त्वज्ञानरूपत्वमज्ञानस्य लक्षणम्** । मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के उदय के कारण उत्पन्न हुए अतत्त्वज्ञान को अज्ञान कहा जाता है अर्थात् जो वस्तु स्वरूप पदार्थ का वास्तविक ज्ञान नहीं है, उसे अज्ञान कहते हैं । इस तरह विचार किया जाय तो अज्ञान और मिथ्यात्व में कोई विशेष अंतर नहीं है, क रीब-करीब दोनों ही एक दुसरे के अर्थ में सामानार्थक है । अत: मिथ्यात्वी-

अज्ञानी कहलाता है । अज्ञानी दो प्रकार के होते हैं एक तो वह जो वस्तु तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को न जानता हो ।जो तत्त्व का स्वरूप जानता ही नहीं है ऐसा अज्ञानी। इस तरह एक विपरीत ज्ञान वाला और दूसरा ज्ञान केअभाव वाला, अज्ञानी होता है । एक तर्क इस बात को और स्पष्ट करने के लिए पूछा जाता है कि जो जो मिथ्यात्वी होता है, वह अज्ञानी होता है ? या जो जो अज्ञानी होता है वह मिथ्यात्वी होता है ?

जैसे धुएं और अग्नि का तर्क होता है वैसे ही यह भी एक तर्क है । जहां जहां धुआ होता है, वहां वहां अग्नि होती है या जहां जहां अग्नि रहती है, वहां धुआं होता है ? यहां धुएं का अग्नि हे साथ अविनाभाव सम्बंध है । अत: कार्य-कारण भाव की दृष्टि से सत्य यह है कि जहां भी धुआं रहेगा वहां अग्नि अवश्य ही होगी । परंतु जहां अग्नि होगी वहां धुंआ रहे या न भी रहे, जैसे तपे हुए लोहे के गोले में अग्नि जरूर रहती है, परंतु वहां धुंआ नहीं होता है । ठीक इसी आधार पर समझो किजहां जहां मिथ्यात्व होता है वहां अज्ञान अवश्य ही होता है, परंतु जहां अज्ञान होगा वहां मिथ्यात्व हो या न भी हो, क्योंकि मिथ्यात्व का अज्ञान के साथ अविनाभाव सम्बंध है ।

ज्ञान के विपरीत भाव रूप अज्ञान के साथ मिथ्यात्व अवश्य ही रहेगा, परंतु एक विषयक ज्ञान के अभाव रूप अज्ञान या अल्प ज्ञान रूप अज्ञान के साथ मिथ्यात्व नहीं रहेगा । अत: मिथ्यात्वी अवश्य अज्ञानी कहलाएगा, परंतु अज्ञानी मिथ्यात्वी नहीं भी कहलाएगा । अल्पज्ञानी या ज्ञान के अभाव रूप अज्ञानी के अज्ञान की निवृत्ति शीघ्र ही हो जाएगी, परंतु विपरीत ज्ञान वाले अज्ञानी (मिथ्यात्वी) केअज्ञान की निवृत्ति शीघ्र होना सम्भव नहीं हैं । अत: मिथ्यात्वी अच्छा या अज्ञानी अच्छा ? यह प्रश्न कोई पूछे तो हम मिथ्यात्वी को भूल से भी कभी अच्छा नहीं कह सकते हैं, परंतु एक दृष्टि विशेष से, अल्पज्ञानी या विषय के अभाव रूप अज्ञानी को थोड़ी देर के लिए, अच्छा ज़रूर कह सकते हैं । ऐसा अज्ञानी जल्दी समझ जाएगा । ज्ञान का स्वीकार कर लेगा, परंतु मिथ्यात्वी-विपरीतज्ञानी-अज्ञानी लाख प्रयत्न के बावजूद भी समझेगा या नहीं यह शंकास्पद है । इस तरह मिथ्यात्वी और अज्ञानी में कुछ तात्त्विक भेद है ।

मिथ्यात्व का लक्षण – मिथ्यात्वमोहनीयकर्मपुद्गलसाचित्यविशेषादात्मपरिणामविशेषरूपत्वं मिथ्यात्वस्य लक्षणम् ।

मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के पुद्गल की प्रधानता के कारण आत्मा का जो

परिणाम विशेष उत्पन्न होता है, उसे मिथ्यात्व कहते हैं, अर्थात् दर्शनमोहनीय कर्म। मिथ्यात्वमोहनीय कर्म प्रकृति के उदय से आत्मा में विपरीतज्ञान-अज्ञानरूप जो मिथ्या परिणाम उत्पन्न होते हैं उसे मिथ्यात्व कहते हैं। इसे ही, संक्षिप्तरूप से, सरल शब्दों में, इस तरह कह सकते हैं कि सवर्ज्ञ प्ररूपित तत्त्व के विषय में श्रद्धा के अभावरूप जो विपरीतज्ञान-अज्ञानवृत्ति होती है उसे मिथ्यात्व कहते हैं अर्थात् तत्त्व में यथार्थ स्वरूप के विपरीत ज्ञानरूप अज्ञान को मिथ्यात्व कहते हैं।

२१ रूप से मिथ्यात्व :-

शास्त्रों में मिथ्यात्व को समझाने के लिए भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से विस्तृत विचार किया गया है। यद्यपि मिथ्यात्व अपने अर्थ में विपरीत मिथ्या भाववाला ही है, तथापि भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से भेद किये गये हैं; जिसमें प्रमुख रूप से, मिथ्यात्व की १० संज्ञाएं, स्वरूपगत पांच भेद एवं लौकिक- लोकोत्तर दृष्टि से देव-गुरू-धर्मगत ६ प्रकार का मिथ्यात्व है। ये कुल मिलाकर २१ प्रकार बनते हैं।

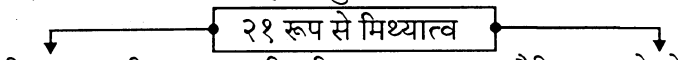

उपरोक्त २१ प्रकार के मिथ्यात्व का विस्तृत स्वरूप जानकर या समझकर उनसे बचने का विशेष प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि मिथ्यात्व पापरूप है एवं कर्मबंध का कारण है, अनंत संसार में परिभ्रमण का मुख्य कारण है, आत्मगुण घातक है एवं विपरीतज्ञान तथा अज्ञान की जड़ है। अत: इससे सर्वथा बचना ही लाभदायक है।

मिथ्यात्व को पापस्थानक क्यों कहा ?

शास्त्रों में मुख्यत: १८ पापस्थानक बताए गये हैं। इनमें अठारहवां मिथ्यात्वशल्य है। यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि मिथ्यात्व को पापस्थानक क्यों कहा? प्रश्न भले ही आश्चर्यकारी हो लेकिन वास्तविकता में उतनी सच्चाई है। पहले तो हम यह सोचें कि पाप क्या? पाप क्यों और कैसा बनते हैं ? पाप से कर्म कैसे बंधता है ? तथा पाप का विपाक कैसा होता है ? यद्यपि इस विषय में प्रथम भाग में विचार किया है, फिर भी प्रस्तुत अधिकार में संक्षेप में कुछ और सोच लेते हैं। जीव मन-वचन-काया केद्वारा प्रवृत्तियां करता रहता है। १. मन से सोचना विचारना २. वचन से बोलना आदि वाग्व्यवहार तथा ३. काया (शरीर) से शारीरिक प्रवृत्ति खाना-पीना-सोना-उठना-बैठना, चलना-फिरना, आना-जाना, देखना-सुनना

आदि प्रवृत्तियां करता रहता हैं । उपरोक्त मन-वचन-काया के तीनों तरीकों से जो भी प्रवृत्तियां होती है वह मात्र दो ही प्रकार की होती है अच्छी या बुरी । अच्छी को दूसरी भाषा में शुभ तथा बुरी को अशुभ कहते हैं ।

तत्त्वार्थ सूत्र में पूज्य उमास्वाती म. ने **'शुभः पुण्यस्य' 'अशुभः पापस्य'** इस सूत्र से स्पष्ट किया है । जीव मन से जो भी कुछ सोचता-विचारता है तथा वचन योग से जो भाषा का व्यवहार करता है एवं काया और इन्द्रिय से खाने-पीने, देखने-सुनने आदि की जो क्रिया करता है उसे शुभ-अशुभ, अच्छी-बुरी, या पुण्य-पाप की ही मुख्य दो प्रकार की प्रवृत्तियां होती है । शुभ-अच्छी प्रवृत्ति से पुण्योपार्जन होता है; और अशुभ-खराब प्रवृत्ति से पाप का उपार्जन होता है । ४२ प्रकार केकारण जिन क ार्मण-वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का आत्मा में आश्रव (आगमन) होता है, तथा आत्मसात् होकर जो कर्म पिंड बनता है, उसे कर्म कहते हैं । इस तरह पाप-कर्म (क्या है और कैसे बनते हैं) की प्रक्रिया है ।

मिथ्यात्व को पापस्थानक इसलिए कहते हैं कि इसमें मन के द्वारा तत्त्वादि के विषय में जो कुछ सोचा विचारा जाता है वह वास्तविक सत्य से विपरीत ही होता है, एवं अश्रद्धा तथा अज्ञानरूप होता है, उसी तरह जैसा विचारता है वैसा व्यवहार में बोलता-चालता है । अत: इस प्रकार की मन-वचन-काया की विपरीत मिथ्या प्रवृत्ति पाप-कर्म बंधाने में कारण बनती है । मिथ्यात्व को अव्वल नम्बर का कर्मबंध का मुख्य हेतु गिना है । उमावस्वाति म. ने तत्त्वार्थ में बताया है कि **-मिथ्यादर्शना-विरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः** मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच मुख्य रूप से कर्मबंध केहेतु हैं । इनमें सबसे पहला बंध हेतु मिथ्यात्व को बताया गया है । मिथ्यात्व आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण का अवरोधक है । अत: इसे अच्छा कैसे कह सकते हैं ? जो आत्मा को विपरीतज्ञान-अज्ञान-अश्रद्धा में रखे उसे अशुभ-पाप न कहें तो पुण्यरूप शुभ कैसे कह सकते हैं ? जब शुभ नहीं है तब अशुभ रूप यह मिथ्यात्व पाप ही कहलायेगा । जो आत्मा को अनेक प्रकार के भारी कर्म बंधाता है, जिस मिथ्यात्व में कर्म बंध की स्थितियां उत्कृष्ट कक्षा की पड़ती हो, जो आत्मा का विकास होने ही न दे, तथा जो आत्मा को संचारचक्र में दीर्घकाल तक परिभ्रमण कराता रहे, ऐसे मिथ्यात्व को किसी भी रूप में अच्छा कहना यह बड़ी भारी मुर्खता होगी । अत: इसे आत्मा का पहले नम्बर का खतरनाक शत्रु रूप पाप-कर्म क हा गया है ।

जहर (विष) को कैसे अच्छा कहें ? विषैले साँप को कैसे अच्छा मानें ? वेश्या को कैसे अच्छी मान सकते हैं ? विष प्राणघातक है, उसके सेवन से मृत्यु हो जाती है। मृत्यु बड़ी दु:खदायी होती है। जहरीला साँप भी बड़ा खतरनाक होता है। उसके काटने से भी मौत की सम्भावना रहती है। अत: जहरीले साँप को यमराज समझकर लोग डरते हैं। वेश्या भी एक प्रकार का सामाजिक दूषण है। सन्निष्ठ सदाचारी सज्जन इसे चारित्रघातकएवं जीवन कलंकी मानकर इसे अस्पृश्य समझता हुआ बचकर रहता है। इस दृष्टिकोण से सोचने पर यह स्पष्ट लगता है कि - जहर, सांप और वेश्या आदि कीसी को भी अच्छा नहीं कह सकते है। वे अनर्थकारी है।

जैसे हम इनसे बचकर रहते हैं, वैसे ही मिथ्यात्व भी आत्मगुणघातक है जहर, सांप और वेश्या से जितना नुकसान नहीं होगा, शायद उससे भी अनेक गुना ज्यादा नुकसान मिथ्यात्व से होता है। सांप केकाटने से, या जहर से सम्भव है किएक ही बार मौत होगी, परंतु मिथ्यात्व केकारण अनेक बार मुत्यु पाकर जीव को नरक आदि गति में जाना पड़ता है। मिथ्यात्व आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण का घात करता है, तथा आत्मा की ज्ञान-स्वभावी दशा को कुंठित करता है। ज्ञान आत्मा का मूलभूत गुण है। जिस ज्ञान से आत्मा समस्त व्यवहार करती थी, उस ज्ञानदशा को मिथ्यात्व सर्वथा विपरीत ही कर देता है। परिणाम स्वरूप आत्मा अज्ञान के घेरे में फंसकर समस्त प्रवृत्ति एवं व्यवहार भ्रममूलक विपरीत करती है। जैसे अंधेरे में पड़ी हुई टेढी-मेढी रस्सी को भ्रमवश साँप मानकर रोना, चिल्लाना, दौड़ना, भागना आदि क्रिया करता है या कभी ठीक उल्टा सांप को भ्रमवश रस्सी मानकर पकड़ने जाता है और मौत के मूँह में गिरता है, ठीक इसी प्रकार मिथ्यात्वी जीव की भ्रममूलक संदेहास्पद विपर्यय-विपरीत ज्ञानजनक, मान्यता, प्रवृत्ति होती है।

अत: मिथ्यात्वी यथार्थ सत्य को विपरीत असत्य मानता है, और असत्य को भ्रमवश सत्य मानता है। ऐसे मिथ्यात्व को शुभ या अच्छा कैसे कहें ? एक शराबी शराब केनशे में चकचूर होकर माता, पत्नि, पुत्री, बहन, बेटी, भाभी आदि परिवारजनों के साथ अंट-संट बोलता हुआ असभ्य, अश्लील आदि विपरीत व्यवहार करता है। ऐसी शराब एवं शराबी को कौन भला-अच्छा मानेगा ? मिथ्यात्व भी ठीक शराब के जैसा ही विकृतिकारक है। शराब का नशा तो शायद एक-दो दिन रहता होगा, परंतु मिथ्यात्व का नशा अज्ञान एवं अश्रद्धा के रूप में जन्मों जन्म तक रहता है। ठीक शराबी की तरह मिथ्यात्वी जीव को अजीव, अजीव को जीव, आत्मा को अनात्मा,

मन, इन्द्रियों आदि को आत्मा मानता है, पुण्य को पापरूप और पाप को पुण्यरूप मानता है, धर्म को अधर्म रूप और अधर्म को धर्म रूप मानता है, जो स्वर्ग नरक है, उसे न मानकर यहां पर ही सुख-दुःख की चरमावस्था में ही स्वर्ग नरक मानता है, लोक-परलोक कुछ भी न मानता हुआ जो कुछ है वह यही है ऐसा मानता है, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म कुछ भी नहीं है, इस मान्यता केआधार पर चलता हुआ खा-पीकर मौज में मस्त रहना, बंध-मोक्षादि तथा आत्मा-परमात्मा आदि किसी भी तत्त्व में श्रद्धा न रखता हुआ विषय-वासना के वैषयिक भौतिक एवं पौद्गलिक सुखों में लीन रहना चाहता है, कर्म-धर्म को कुछ न मानता हुआ, आत्म कल्याण की बात को सर्वथा न सोचता हुआ मात्र शरीर की ही चिंता में लगा रहता है। पुद्गलानंदी और देहानंदी बनकर वह जीवनभर पाप करता रहता है, परंतु जैसे जहर जाणकार या अनजान सभी केऊपर समान असर करता है, वैसे ही पाप-कर्म सभी के जीवन में समान रूप से उदय में आते हैं। मिथ्यात्वी जीव दुःखों के सामने त्राहीमाम पुकार उठता है। अतः महापुरुषों ने मिथ्यात्व को पाप ही नहीं परंतु सभी पापों में सबसे बड़ा महापाप कहा है। ऐसा महापाप सर्वथा हेय-त्याज्य एवं अनाचरणीय होता है। अतः हमें इससे बचना ही चाहिए।

जिस मिथ्यात्व के विषय में इस प्रकार की चर्चा की जा रही है, उस मिथ्यात्व का अधिकारी कौन है ? यह मिथ्यात्व किसमें होता है ? इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट ही दिखाई देता है कि मिथ्यात्व मानसिक वैचारिक एवं अश्रद्धारूप कर्मजन्य स्थिति है। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि मिथ्यात्व अजीव ही नहीं परंतु जीव को ही होता है। अजीव-ज्ञान दर्शनादि चेतनादि रहित निर्जीव पदार्थ है। अतः वह मिथ्यात्व का अधिकारी नहीं है। यद्यपि मिथ्यात्व अज्ञानमूलक है तथापि ज्ञान के अभावरूप नहीं है, परंतु विपरीत ज्ञानरूप अज्ञान है। अजीव पुद्गलादि पदार्थ मूलतः ज्ञानादिमान ही नहीं है। अतः अजीव का सम्यक्त्वी-मिथ्यात्वी होने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता है। ज्ञान-दर्शनादि चेतनावान जीव द्रव्य ही मिथ्यात्व या सम्यक्त्व का अधिकारी होता है। अतः मिथ्यात्वादि जीव विपाकी कर्म प्रकृति है। मिथ्यात्व का अधिकारी जीव होता है।

भव्य (भवी) अभव्य (अभवी) जीव :-

संसार में जीव भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में बताए सूत्रानुसार **-जीव भव्या-भव्यत्वादीनि च ।। २-७।।** जीव मुख्यतः दो प्रकार के

होते हैं। १) भव्य और २) अभव्य भव्य और अभव्यपना यह जीव का पारिणामिक भाव है।

भवी का लक्षण -- सिद्धिगमनयोग्यत्वं भव्यस्य लक्षण्। मोक्ष में जाने की योग्यता जिसमें पड़ी है वैसा जीव भवी या भव्य कहलाता है। भव्य अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता वाला जीव। मोक्ष प्राप्ति योग्य-उपयोगी साधन सामग्री मिलने पर जो जीव मोक्ष प्राप्त कर सके उसे भवी-भव्य जीव कहते हैं। **अभवी का लक्षण - सिद्धिगमनायोग्यत्वं अभव्यस्य लक्षणम्।** जिस जीव में मोक्ष में जाने की योग्यता ही नहीं है वह अभव्य-अभवी जीव कहलाता है। मोक्ष के लिए अयोग्य जीव अभवी जीव है। अर्थात् मोक्ष प्राप्ति की सभी साधन-सामग्रीयां प्राप्त होने के बावजूद भी जो कभी भी मोक्ष न पा सके और न ही मोक्ष प्राप्ति की इच्छा हो वह अभव्य जीव कहलाता है। जीवत्व की दृष्टि से दोनों प्रकार के जीव समान होते हुए भी मोक्षगमन की योग्यता और अयोग्यता केकारण जीव में भव्य और अभव्य दो भेद होते हैं। समझने केलिए उदाहरण है कि-गाय-भैंस का दूध और आंकड़े के वृक्ष का दूध दोनों ही दूध की दृष्टि से तो समान ही दिखाई देते हैं, लेकिन दोनों में भेद बहुत बड़ा है। गाय-भैंस का दूध जमा सकते हैं, उसमें से दहीं, मक्खन, घी आदि बना सकते हैं, परंतु आकड़े के वृक्ष के दूध में से दही, मक्खन, घी आदि बनने सम्भव ही नहीं हैं। ठीक वैसे ही जीवत्व की दृष्टि से सभी जीव समान होते हुए भी मोक्ष प्राप्ति की अयोग्यता और योग्यता के कारण जीवों के दो भेद होते हैं। गाय-भैंस के दूध की तरह भव्य जीव में मोक्षप्राप्ति की योग्यता पड़ीं है, जबकि आंकड़े के दूध की तरह अभवी जीव में मोक्ष प्राप्ति रूप योग्यता की सम्भावना ही नहीं है।

भव्य जीव में भी जाति भव्य या दुर्भव्य प्रकार केजीव भी होते हैं। उस तरह भव्य, अभव्य और दुर्भव्य भेद से मूलत: जीव तीन प्रकार के होते हैं। जाति भव्य जीव यद्यपि भव्य की जाति का ही है, उसमें मोक्ष प्राप्ति की योग्यता पड़ी है, परंतु उसे मोक्ष प्राप्ति की साधन-सामग्री कभी उपलब्ध ही नहीं होती है। अत: मोक्ष प्राप्ति की योग्यता होते हुए भी वह कभी भी मोक्ष में न जा सके उसे दुर्भव्य या जाति भव्य कहते हैं। इन भेदों को समझाने के लिए स्त्री का उदाहरण उपयोगी सिद्ध होगा। जैसे तीन प्रकार की स्त्रियां होती है। १. जिसमें पुत्र को जन्म देने की योग्यता होती

है । २. जिसमें पुत्र को जन्म देने की योग्यता ही नहीं हैं । अर्थात् जो वंध्या है । ३. जिसमें पुत्र को जन्म देने की योग्यता होते हुए भी जो संन्यास-दीक्षा लेकर साध्वी बन चुकी है ।

१) पहली स्त्री के समान भवी जीव कहलाता है । जैसे प्रथम प्रकार की स्त्री में अवंध्यत्व अर्थात् पुत्र को जन्म देने की योग्यता होती है । शादी होने पर पति संयोग आदि की सामग्री मिलने पर वह भविष्य में पुत्र को जन्म दे सकती है । ठीक वैसे ही भव्य जीव में मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता है । मोक्ष प्राप्त योग्य सर्व साधन-सामग्रीयां उपलब्ध होने पर जो मोक्ष प्राप्ति कर सकता है उसे भव्य जीव कहते हैं ।

२) वंध्या स्त्री जिसमें पुत्र को जन्म देने की योग्यता मूलत: ही नहीं है, उसे भले ही शादी, पति संयोग आदि सामग्री उपलब्ध होजाय तो भी वह कदापि पुत्र को जन्म नहीं दे सकती है । ठीक वैसा ही अभवी जीव होता है, जिसमें मोक्ष प्राप्ति की योग्यता मूलत: ही नहीं है। अत: भले ही मोक्ष प्राप्ति योग्य साधन-सामग्री कितनी भी प्राप्त हो, परंतु वह कदापि मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है । अर्थात् अभवी के लिए मोक्ष प्राप्ति असंभव ही है ।

३. तीसरे प्रकार की स्त्री जो शादी के पूर्व कन्यावस्था में ही संसार से विरक्त-वैरागी होकर दीक्षा लेकर साध्वी बन जाती है, उसमें पुत्र को जन्म देने की योग्यता यद्यपि है, परंतु दीक्षित साध्वी होने के कारण शादी-पति संयोग आदि सामग्रियां कभी भी प्राप्त हो ही नहीं सकती है । अत: पुत्र को जन्म देने की योग्यता होते हुए भी पुत्र को जन्म दे ही नहीं सकती है । ठीक ऐसा ही जाति भव्य या दुर्भव्य जीव होता है । भव्य की जाति का होने के कारण इसे जाति भव्य कहते हैं । इसमें यद्यपि मोक्ष प्राप्ति की योग्यता जरूर पड़ीं है, परंतु मोक्ष प्राप्ति योग्य साधन-सामग्रियां कभी भी प्राप्त होती ही नहीं है, अत: योग्यता होते हुए भी कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है ।

जैसे मूँग में दो प्रकार होते हैं । एक मूँग जल्दी पक जाता है और दूसरा को रड़े जाति का मूँग जिसे कितने ही घंटों तकचुल्हे पर पानी में चढ़ाया जाए फिर भी नहीं पकता है । अग्नि, पानी आदि साधन-सामग्रियां प्राप्त होने पर भी जो कभी भी परिपक्व नहीं होता है, उसी तरह भव्य और अभव्य जीव होते है । भव्य जीव पकने वाले मूँग के जैसा होता है, और अभव्य जीव कोरडे मूँग के जैसा होता है ।

भव्य-अभव्य जीव की परीक्षा :-

शास्त्र में अभवी के विषय में कहा है कि वह सिद्धक्षेत्र शत्रुंजय के दर्शन भी नहीं कर पाता है । **'पापी अभवि न नजरे देखे, हिंसक पण उद्धरिये ।'**- अर्थात् अभवी जीव सिद्धक्षेत्र - शंत्रुजय को देखने, मानने एवं श्रद्धा का विषय बनाने के लिए तैयार नहीं होता है, यद्यपि यह भूमि सिद्ध-मुक्त होने की भूमि है । यहां से अनेकआत्माएं मुक्त होकर मोक्ष में गई है और भविष्य मे भी जाती रहेगी। अभवी जीव मोक्ष एवं मोक्ष प्राप्ति के उपाय तथा मोक्षमार्ग आदि कुछ भी मानने एवं स्वीकार करने केलिए तैयार ही नहीं है । अत: मोक्ष प्राप्ति की भूमि सिद्धक्षेत्र-सिद्धाचल को वह दृष्टिगोचर भी नही कर पाता है । इसका अधिकारी शास्त्रकारों ने भव्य जीव को ही बताया है । अत: सिद्धक्षेत्र-सिद्धाचल की यात्रा एवं दर्शनादि से भव्यपने या भवी की मुहर लगती है । अत: भवी जीव ही सिद्धक्षेत्र-सिद्धाचल की यात्रा एवं दर्शनादि कर पाता है ।

अब यहां प्रश्न उठता है कि हम स्वयं भवी है या अभवी है ? इसकी परीक्षा कैसे करें ? हमें स्वानुभूति कैसे हो कि हम भवी हैं या अभवी ? इसका उत्तर स्पष्ट ही है कि जिस कारण से भव्य-अभव्य के भेद पड़े हैं, उसी कारण या लक्षण को हम अपने में देखने की कोशिश करें । अर्थात् आत्मनिरीक्षण करते हुए हम स्व आत्मा को पुछें कि तुझे मोक्ष के विषय में श्रद्धा है या नहीं ? हे जीव! तू मोक्षतत्त्व को मानने या स्वीकार करने के लिए तैयार है या नहीं ? यदि इनके उत्तर में आत्मा मोक्षतत्त्व के विषय में स्वीकृति प्रदान करें तो निश्चित ही समझना चाहिए कि मैं भव्य जीव हूँ । मानों भले ही एक क्षण के लिए भवी जीव मोक्ष- श्रद्धा के लिए तैयार न भी हो; परंतु मोक्ष के अस्तित्व को स्वीकारने में नहीं हिचकिचाएगा । यदि भवी होते हुए भी सम्यक्त्वी होगा तो (सम्यग्दर्शन प्राप्त किया हुआ) वह मोक्ष, मोक्षमार्ग, मोक्षप्राप्ति के उपाय एवं आत्मा या मोक्षादि सभी तत्त्व अवश्य स्वीकार करेगा, अन्यथा नहीं, क्योंकि भवीजीव में भी मिथ्यात्वी-सम्यक्त्वी आदि के भेद पड़ते हैं ।

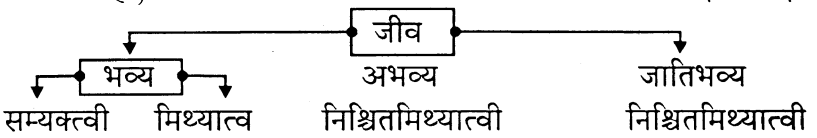

भव्य-अभव्य जीव में मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व :-

उपरोक्त तालिका के अनुसार तर्क-युक्ति पूर्वक इस तरह विचार कर सकते हैं - जो अभव्य होता है वह मिथ्यात्वी होता है या जो मिथ्यात्वी होता है वह

अभव्य होता है । इस प्रकार केतर्क युक्ति पूर्ण वाक्य सत्यता की सुक्ष्मता को स्पष्ट क रते है । धुएं और अग्नि के तर्क की तरह यहाँ भी तर्क का स्वरूप ऐसा ही है । अत: उत्तर स्पष्ट ही है कि जो अभवी होता है वह निश्चित मिथ्यात्वी ही होता है, क्योंकि अभवी जीव अनंतक ाल में भी क दापि, क भी भी सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) या मोक्षादि तत्त्व विषयक-श्रद्धा को प्राप्त नहीं करता है । अत: अभव्य जीव अनंत क ाल तक एवं तीनों क ाल में सदा निश्चित मिथ्यात्वी ही रहता है, लेकि न सभी मिथ्यात्वी जीव अभव्य नहीं होते है, क्योंकि भव्यजीव भी मिथ्यात्वी होता है । ठीक उसी तरह जाति भव्य जीव भी तीनों काल में निश्चित ही मिथ्यात्वी होता है । यद्यपि वह भव्य की जाति का है फिर भी उसे मोक्षाप्राप्ति योग्य सामग्री का मिलना असम्भव ही है, अत: कदापि सम्क्त्व प्राप्त नहीं कर पाता है ।

क्या जो भव्य होता है वह मिथ्यात्वी होता है या जो मिथ्यात्वी होता है वह भव्य जीव होता है ? पहले की भांति इसका उत्तर नहीं मिलता है । इसमें दानों ही पक्ष एक-दूसरे हे अनुपूरक है, अर्थात् जो भव्य होता है वह मिथ्यात्वी भी होता है और जो मिथ्यात्वी होता है वह भव्य भी होता है, क्योंकि मिथ्यात्व का भव्य के साथ निश्चित होना अनिवार्य नहीं है । होता भी है और नहीं भी होता है । मोक्ष प्राप्तियोग्य साधन-सामग्रियाँ उपलब्ध होने पर भव्य जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है । सम्यक्त्व की उपस्थिति में मिथ्यात्व नहीं रहता है । इस तरह जब तक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं करता तब तक भव्य जीव मिथ्यात्वी कहलाता है । परंतु अभव्य नहीं । मिथ्यात्व के नष्ट होने के कारण जीव सम्यक्त्वी कहलाता है । इस तरह भव्य जीव दो प्रकार के होते हैं ।

१. सम्यक्त्वी भव्य और २. मिथ्यात्वी भव्य । अभव्य जीव अनादि अनंत त्रैकालिक मिथ्यात्व वाला ही होता है जबकि भव्य जीव अनादि सांत मिथ्यात्व वाला होता है । भव्य जीव के मिथ्यात्व का काल भूतकाल में अनादि होते हुए भी अनंत नहीं है । सांत है । एक दिन उस मिथ्यात्व का नाश होता है और भव्य जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है, जबकि अभव्य केलिए सम्यक्त्व का प्रश्न अनंतभवों में भी खड़ा नहीं होता है ।

मोक्ष का अधिकारी कौन भव्य या सम्यक्त्वी ?

मोक्ष विषयक निमित्त को लेकर ही भव्य और अभव्य जीव का भेद लक्षण बनता है । अत: भव्य और अभव्य जीव में यह स्पष्ट हो ही गया है कि - भव्य

ही मोक्ष का अधिकारी है । अभव्य अनंत काल में भी कदापि नहीं । अब प्रश्न यह उठता है कि भवी और सम्यक्त्वी जीव में मोक्ष का अधिकारी कौन है ? उत्तर में शास्त्रकार महर्षि ने दोनों को मोक्ष प्राप्ति के योग्य बताए हैं । पारिणामिक भाव से मूलत: जीव के भवी और अभवी दो भेद होते हैं । 'सम्यक्त्वी' यह कोई स्वतंत्र भेद नहीं है । अत: भव्य जीव ही मिथ्यात्व नाश केबाद सम्यक्त्वी बनता है । यहां सत्य के स्पष्टिकरणार्थ युक्तिपूर्ण तर्क का आकार इस तरह होगा कि जो भवी होता है वह मोक्ष में जाएगा या जो मोक्ष में जाएगा वह भवी होगा? इस तर्क के उत्तर से स्पष्ट है कि जो मोक्ष में जाएगा वह निश्चित ही भवी कहलाएगा । इसमें अंश मात्र भी संदेह नहीं है, परंतु जो भवी है वह मोक्ष में निश्चित जाएगा ही ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते हैं, यद्यपि मोक्ष विषयक योग्यता भव्य-जीव में ही है ।

भव्यातिरिक्त अभव्यजीव के मोक्षगमन का प्रश्न ही नहीं उठता है, परंतु जातिभव्य या दुर्भव्य जीव केलिये, भव्य की जाति केहोते हुए भी, मोक्ष प्राप्ति योग्य साधन सामग्री की उपलब्धि के अभाव में कदापि मोक्ष गमन सम्भव ही नहीं है । दूसरी तरफ अनंतानंत भव्य जीवों की संख्या इतनी है कि अनंत अनंत काल तक मोक्ष में जाते रहें तो भी समाप्त नहीं होगी । न तो काल की समाप्ति होगी और न ही भव्य जीवों की संख्या की समाप्ति होगी । यदि संसार में भव्य जीवों की संख्या समाप्त हो जाये तो एक दिन मोक्ष प्राप्ति का अंत आ जाएगा । मोक्ष प्राप्ति रुक जायेगी, लेकिन अनंत भूतकाल इस बात का प्रमाण है किभूतकाल अनादि अनंत काल बीतने के बावजूद भी न तो भव्य जीवों की संख्या समाप्त हुई है और न ही क ाल की समाप्ति हुई है । ठीक ऐसे ही भविष्य में अनंतानंत काल बीतने के बाद भी एक दिन भी ऐसा नहीं आएगा जिस दिन संसार में मोक्ष जाने वाला कोई भव्य जीव शेष ही न बचा हो, और न ही कोई ऐसा दिन आयेगा जब मोक्ष में जाने वाले कई भव्य जीव कतार में खड़े रहे होंगे और काल ही समाप्त हो गया हो, शेष न रहा हो । ऐसे 'न भुतो न भविष्यति' न हुआ है, और न होगा । अत: निष्कर्म यह निकलता है कि संसार अनादि-अनंत है, काल भी अनादि-अनंत है, मोक्षगमन की प्रक्रिया भी अनादि-अनंत काल तक है, और मोक्ष में जाने वाले भव्यजीवों की संख्या भी अनंतानंत हैं । अत: भव्य जीवों का मोक्षगमन अंनातनंत काल तक होता ही रहेगा । अनेक भव्य जीव ऐसे हैं जो अनंत काल बीतने के बाद भी मोक्ष में न जाते हुए संसार में ही रहे होंगे । अत: निश्चित रूप से कहना हो तो ऐसा कह सकते हैं कि जो मोक्ष में

जाएगा वह भव्य अवश्य ही होगा, परंतु जो भव्य होगा वह मोक्ष में जाएगा भी, या नहीं भी जाएगा।

इसी बात को सम्यक्त्वी के दृष्टिकोण से देखने पर तर्क का आकार इस तरह होगा किजो सम्यक्त्वी होता है वह मोक्ष में जाता है या जो मोक्ष में जाता है वह सम्यक्त्वी होता है ? इसके उत्तर में स्पष्ट है कि दोनों एक दूसरे के अविनाभाविपूरक है, अर्थात् जो सम्यक्वी होगा वह अवश्य ही मोक्ष में जाएगा और जो मोक्ष में जाएगा वह अवश्य ही सम्यक्त्वी होगा। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति ही मोक्ष प्राप्ति की सूचक निशानी है। अत: सम्यग्दर्शन प्राप्त सम्यक्त्वी जीव अवश्य ही मोक्ष में जाएगा। इसमें रत्तीभर भी संदेह नहीं है। सम्यक्त्व को भव्य ही प्राप्त करता है। इसलिए भव्य जीव अवश्य ही मोक्ष में जाएगा, ऐसा न कहकर'भव्य-सम्यक्त्वी जीव अवश्य ही मोक्ष में जाएगा।' यह कहना स्पष्ट सत्य होगा। भव्य जीव कब और कैसे मोक्ष प्राप्त करता है ? यह प्रक्रिया अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसे अब आगे देखेंगे।

अनंत संसार में जीव का परिभ्रमण :-

आत्मसत्तारूप से जीव स्वद्रव्य से नित्य रहता है। स्वद्रव्य स्वरूप से जीव का अस्तित्व अनादि-अनंत नित्यरूप होता है। जीव द्रव्य अनुत्पन्न अविनाशी द्रव्य है। जो उत्पन्न होता है वह विनाशी होता है और जो अनुत्पन्न होता है वह अविनाशी होता है। उत्पन्न द्रव्य अनित्य एवं नाशवंत होता है, जबकि अनुत्पन्न द्रव्य जो कभी उत्पन्न ही नहीं होता है, वह नित्य-अविनाशी-शाश्वत होता है। पुद्गल-जड़ पदार्थ उत्पन्न द्रव्य है, अत: वह क्षणिकएवं नाशवंत है। जीवद्रव्य (आत्मा) अनुत्पन्न होने से त्रैकालिक शाश्वत है।संसार,यह जीव और अजीव की संयोगी-वियोगी अवस्थाविशेष है। अत: संसार अपने रूप में कोई स्वतंत्र अस्तित्ववान् द्रव्य नहीं है। जीव की अजीव पुद्गल पदार्थ के साथ संयोगी-वियोगी अवस्था को संसार कहते हैं। अत: न तो संसार को किसी ने बनाया है और न ही आत्मा को किसी ने निर्माण की है, और आत्मा न तो बनती है, न ही बनाई जाती है,न ही इसका कोई कर्ता-निर्माता है। जीव स्वयं अपने संसार का निर्माता है। वह अपने रहने के लिये पुद्गल परमाणु पदार्थों का देहरूप पिंड बनाकर उसमें रहता है। अत: जीव ही अपना शरीर बनाता है। इस तरह नित्य-अनित्य, उत्पन्न-अनुत्पन्न, विनाशी-अविनाशी, ऐसे जड़-चेतन दो द्रव्यों केसंयोग-विशेष का बना हुआ यह संसार चलता रहता है। संयोगी द्रव्य का ही वियोग होता है। जीव का देह के साथ संयोग, व्यवहारिक भाषा में जन्म क

हलाता है, और मात्र अल्पकाल केलिये देह वियोग को व्यवहारिकभाषा में मृत्यु क हते हैं । अत: जन्म-मरण यह आत्मा और पुद्गल की मात्र संयोगी-वियोगी अवस्थाविशेष है । नियम यह है कि - **'जातस्य ध्रुवो मृत्यु:'** जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु निश्चित ही होती है, तथा जो उत्पन्न होता है, उसका विनाश अवश्य ही होता है । मुत्यु का अर्थ आत्मा का नाश नहीं है, परंतु मात्र आत्मा का देह केसाथ कु छ काल का वियोग विशेष है ।

आत्मा अजर-अमार एवं शाश्वत द्रव्य है । द्रव्य को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त **(उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्)** द्रव्य कहते हैं । पर्याय स्वरूप से द्रव्य उत्पाद-व्यय युक्त होता है, और स्वद्रव्य के अस्तित्व से नित्य होता है । आत्मा स्वद्रव्यरूप अस्तित्व से नित्य है, परंतु जन्म-मरण की पर्याय केकारण वह उत्पाद्-व्यय युक्त है । अमुक प्रकार की गति में जन्म लेकर नाम-देहधारी आत्मा मनुष्य पशु-पक्षी, देव-नारकी, आदि पर्यायवान् कहलाती है । यह पर्याय जन्म से उत्पन्न होती है, और मृत्यु से नष्ट होती है, जैसे सोने के गहने-आभूषण की आकृतियाँ (पर्याय) सैंकड़ो बार बदलने के बावजूद भी सोना, पर्यायरूप से उत्पन्न-नष्ट होता हुआ भी, अपनी मूलभूत धातुरूप से सदा ही नित्य (ध्रौव्य) रहता है । वैसे ही आत्मा भी मनुष्य-पशु-पक्षी-देव-नारकी आदि जन्म में नाम-देहधारी पर्याय (आकृति) विशेष से उत्पाद् व्यय (उत्पन्न-नष्ट) रूप होती हुई भी स्वद्रव्य रूप अस्तित्व से ध्रौव्य अर्थात् अजर-अमर शाश्वत नित्य एवं अविनाशी रहती है । अत: जन्म-मरण की प्रक्रिया में आत्मा की मृत्यु नहीं होती है, लेकिन नाम-गति-जाति-शरीर आदि का ही परिवर्तन मात्र होता है, अर्थात् पर्याय बदलती है और आत्मा नित्य रहती है ।

इस तरह इस आत्मा ने अनंत बार जन्म-मरण धारण किये हैं । आत्मा उत्पन्न द्रव्य न होने के कारण उसकी आदि न होने से अनादि अवस्था है । अनादिका ल से आत्मा संसार में जन्म-मरण धारण करती ही रहती है । अनंत जन्म-मरण बीत चुके हैं । इस तरह काल भी अनंत बीत गया है । अत: अनादि-अनंत काल से संसार की चार गतियों में परिभ्रमण करती हुई एवं ८४ लक्ष जीवयोनियों में जन्म-मरण धारण करती हुई, इस आत्मा ने अनंत-अनंत भव बिता दिये हैं । (इसका विस्तृत विवेचन पहली पुस्तिका में किया गया है) जब जन्म-मरण अनंतानंत बीते है, तब स्वाभाविक है कि काल भी निश्चित रूप से अनंत ही बीता है । यद्यपि जन्म की संख्या का अनंतपना ज्यादा है ? या काल के वर्षों की संख्या का अनंतपना ज्यादा

है? उत्तर स्पष्ट ही है कि जन्म के बाद जीवन अमुक घटों-महीनो-वर्षों का होता है । अत: भव संख्या की अपेक्षा काल की अनंत संख्या बहुत बड़ी है । हम सर्वज्ञ प्रभु को पूछे कि हमारी आत्मा को संसार में जन्म-मरण करते हुए कितने वर्ष बीते हैं ? तो इसके उत्तर में सर्वज्ञ प्रभु ऐसा फरमाएंगे कि -'वर्ष' यह संज्ञा उत्तर देने में बहुत छोटी पड़ती है । वर्ष, युग, आरे, पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी,कालचक्र आदि संज्ञाएं इतनी छोटी पड़ती है कि-वे भी 'कितने वर्ष बीते' इसकी गिनती का सही उत्तर नहीं दे पाती है। अत: सर्वज्ञ प्रभु इसके उत्तर में अनंतपुद्गलपरावर्तकाल नामक संज्ञा का प्रयोग करते हैं । अब यह अनंतपुद्गलपरावर्तकाल क्या है ? इसका विचार करें तब अनंतपुद्गलपरावर्तकाल समझ में आएगा ।

TIME-THEORY काल पद्धति :-

काल द्रव्य अजीवतत्त्व है । अजीव तत्त्व के १४ भेद में काल की गणना की गई है । यह प्रदेश समूह रूप अस्तिकाय न होने से पंचास्तिकाय में नहीं गिना जाता है । 'वर्तनालक्षणो काल:' इस सूत्र के आधार पर वस्तु के नए-पुराने आदि परिवर्तन सूचक लक्षण वाला काल द्रव्य है । काल की गणना के आधार पर ही हम नये-पुराने, उम्र में छोटी-बड़ी तथा भूत-वर्तमान-भविष्य आदि का व्यवहार करते हैं । सुक्ष्म से स्थूल की तरफ जाते हुए काल की गणना छोटी से बड़ी संख्या होती जाती है । इस तुलना का स्पष्टीकरण निम्न कोष्ठक से स्पष्ट किया जा रहा है -

सूक्ष्मतम अविभाज्य काल	=	समय (निश्चिय काल)
असंख्य समय	=	१ आवलिका
२५६ आवलिका का	=	१ क्षुल्लक भव निगोद में
साधिक १७।। क्षुल्लकभव	=	१ श्वासोश्वास
७ श्वासोश्वास (प्राण)	=	१ स्तोक
७ स्तोक	=	१ लव
३८ लव	=	१ घड़ी
१ घड़ी	=	२४ मिनट
२ घड़ी	=	४८ मिनट
४८ मिनट (दो घड़ी)	=	१ अंतमुहूर्त
३७७३ श्वासोश्वास	=	६५५३६ निगोद के क्षुल्लक भव ।
६५५३६ क्षुल्लकभव	=	१६७७७२१६ आवलिका

एगा कोडी सतसट्ठी, लक्खा सत्तहत्तरी सहस्सा य ।

दोय सया सोलहिआ, आवालिया इग मुहुत्तम्मि ।।

१, ६७,७७,२१६ आवलिका	=	१ अंतर्मुहूर्त (२ घड़ी)
३० मुहूर्त	=	१ दिन (अहोरात्र)
१५ दिन (दिन + रात)	=	१ पक्ष (पखवाड़ा)
२ पक्ष (कृष्ण-शुक्ल)	=	१ महिना (मास)
२ मास	=	१ ऋतु
३ ऋतु	=	६ मास
६ मास (३ ऋतु)	=	१ अयन (उत्तरायन, दक्षिणायन)
२ अयन (१२ मास)	=	१ वर्ष
५ वर्ष	=	१ युग
१० वर्ष	=	१ दशक
१०० वर्ष	=	१ शतक (शताब्दि)
१००० वर्ष	=	१ सहस्त्राब्दि
१० सहस्त्राब्दि	=	१०००० वर्ष
१००००० (शतसहस्त्राब्दि)	=	१ लाख वर्ष
८४ लाख वर्ष	=	१ पूर्वांग
पूर्वांग + पूर्वांग	=	१ पूर्व ।
१ पूर्व	=	७०५६०००००००००००वर्ष (७०,५६०अरब वर्ष)

ऐसे ८४ लाख पूर्व का ऋषभदेव भगवान का एक आयुष्य था ।

असंख्य वर्ष	=	१ पल्योपम
१० कोडाकोडी पल्योपम	=	१ सागरोपम

१ करोड (कोडि) को १ करोड़ से गुणाकार करने पर जो संख्या आती है उसे एक कोटा-कोटि कहते हैं, १०००,००,००,००,००,००,००० । एक के अंक ऊपर १४ शुन्य की संख्या जिसे 'शंकु' कहते हैं, वह कोटा-कोटी कहलाती हैं ।

ऐसे १० कोटा-कोटि पल्योपम	=	१ सागरोपम
१० कोटा-कोटि सागरोपम	=	१ उत्सर्पिणी
१० कोटा-कोटि सागरोपम	=	१ अवसर्पिणी
१ उत्सर्पिणी + १ अवसर्पिणी	=	१ कालचक्र
१ कालचक्र	=	२० कोटा-कोटि सागरोपम
अनंत कालचक्र	=	१ पुद्गलपरावर्तकाल
ऐसे अनंत पुद्गलपरार्वतकाल	=	जीव का संसार परिभ्रमण

६. आरे का स्वरूप :-

(१) सुखम्-सुखम् नामक पहला आरा = ४ कोटा कोटि सागरोपम ।
(२) सुखम् - नामक दूसरा आरा = ३ कोटा कोटि सागरोपम ।
(३) सुखम्-दुःखम् नामक तीसरा आरा = २ कोटा कोटि सागरोपम
(४) दुःखम्-सुखम् नामक चौथा आरा = ४२००० वर्ष न्यून ऐसा १ कोटाकोटि सागरोपम वर्ष।
(५) दुःखम् नामक पांचवां आरा = २१००० वर्ष
(६) दुःखम् दुःखम् नामक छट्ठा आरा = २१००० वर्ष
६ आरे = १ उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी

पल्योपम का स्वरूप :-

कितने वर्षों का एक पल्योपम होता है ? इसके उत्तर में शास्त्रकार महापुरुषों ने असंख्य वर्षों का एक पल्योपम होता है ऐसा बताया है, परंतु असंख्य वर्षों की गणना कैसे की जाय ? या असंख्य वर्ष बराबर कितने वर्ष होते हैं ? इसे समझने के लिए शास्त्रों में एक कुंए का दृष्टांत दिया है जो १ योजन लम्बा १ योजन चौड़ा एवं १ योजन गहरा हो । उसमें तुरंत के जन्मे हुए नवजात युगलिक शिशु के सिर केबालों को इकट्ठा करके, उनके बारीक टुकड़े करें कि जिसके पुनः टुकडे हो ही न सकें। इतने टुकड़ो को इस कुएँ में इतने दबा-दबा कर भरें कि जिसमें खुब दबाने के बाद एक बाल भी जा न सके । इस पर से चक्रवर्ती की चतुरंगी सेना चली जाय तो भी उन्हें कुएँ का ख्याल ही न आए । इतना कुएं का जमीन के समकक्ष लेवल बन जाय ।

इस कुएं में से सौ-सौ (१००-१००) वर्ष के अंतर से एक- एक बाल का टुकड़ा निकालने पर वह कुआं जितने वर्षो में खाली हो, उस काल को १ पल्योपम कहते हैं । इसका बादर पल्योपम नाम है ।

उन बाल के टुकड़ो के फिर असंख्य छोटे-छोटे टुकड़े करकेवही कुआ भरा जाय और उन सुक्ष्मतम बाल के टुकड़ों को पुनः (१००-१००) सौ-सौ वर्ष के अंतर से निकालते हुए जितने वर्षों में पूरा कुआ खाली हो, उतने असंख्य वर्षों का एक पल्योपम होता है । इसे सूक्ष्म अद्धा पल्योपम काल कहते हैं ।

इस प्रकार जैन दर्शन की काल गणना में भिन्न-भिन्न ६ प्रकार के पल्योपम बताए गए हैं ।

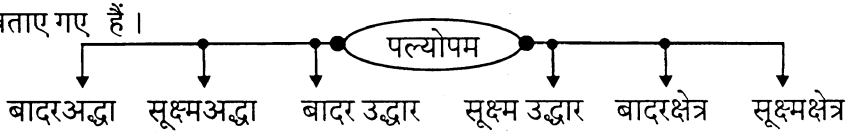

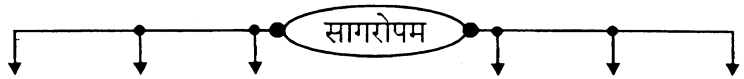

इस तरह बादर और सूक्ष्म के भेद से ६ प्रकार के पल्योपम और ६ प्रकार के सागरोपम होते हैं प्रत्येक प्रकार के पल्योपम को दश कोडाकोडी से गुणाकर करने पर जो संख्या आती है, उसे अमुक प्रकार का सागरोपम कहते हैं, अर्थात् १० कोडाकोडी बादर उद्धार पल्योपम का एक बादर उद्धार सागरोपम होता है। इस तरह सभी समझने चाहिए। सूक्ष्म अद्धा सागरोपम काल का प्रमाण-नारकी-देव-तिर्यंच-मनुष्य गति के जीवों की उत्कृष्ट कर्मबंध स्थिति कायस्थिति और भव स्थिति आदि को दर्शाने में लगता है। इससे देव-नारकी जीवों के आयुष्य को गिना जाता है। मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट बंध स्थिति ७० कोडाकोडी सागरोपम की है, वैसे ही आठों ही कर्म की उत्कृष्ट बंध स्थितियों को नापने एवं समझने के लिए इस सागरोपम संज्ञा का आधार लेना पड़ता है।१० कोडाकोडी सागरोपम का एक उत्सर्पिणी काल और १० कोडाकोडी सागरोपम का एक अवसर्पिणी काल होता है। इस तरह उत्सर्पिणी+अवसर्पिणी मिलकर (१०+१०=२०) २० कोडा कोडी सागरोपम का एक कालचक्र बनता है।

उस्सप्पिणी अणंता, पुग्गल-परिअट्टओ मुणेअव्वो।
तेऽणंता-तीअद्धा, अणागयद्धा अणंतगुणा ।।

अनंत-उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का एक पुद्गलपरावर्त काल होता है ऐसी कालचक्रकी अनंत उत्सर्पिणीयां और अवसर्पिणियां बीतने पर १ पुद्गलपरावर्त काल होता है, ऐसा कह सकते हैं। ऐसे पुद्गलपरावर्तकाल भी भूतकाल में अनंत बीत चुके हैं, तथा भविष्यकाल में और अनंतगुने होने वाले हैं। इस तरह भूतकाल (अतीत) भी अनंत है, और अनागत-भविष्यकाल भी अनंत है। काल का कहीं अंत ही नहीं है। काल अनादि-अनंत है।

ऐसे अनंत कालचक्र या अनंत उत्सर्पिणीयां मिलकर 'एक पुद्गल परावर्तकाल' बनता है। 'पुद्गल परावर्त' यह जैन पारिभाषिक शब्द है। अनंत-अनंत वर्षों के काल की संज्ञा का द्योतक है।योगबिंदु ग्रंथ में हरिभद्रसूरिजी ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि -**चरमे पर्यन्तवर्तिनि पुद्गलावर्ते द्रव्यतः सामान्येय सर्वपुद्गलग्रहणोज्झनरूपे प्रवृत्ते सति।**

द्रव्य से सामान्य रूप से सर्व पुद्गलों का ग्रहण और त्याग (उंज्झन) कि

या जाय, उसमें जितना काल बीते, उसे पुद्गल परावर्तकाल कहते हैं । चौदह राजलोक परिमित समस्त संसार में अनंत पुद्गल परमाणु हैं, जिनकी मुख्य रूप से सात महावर्गणाएं हैं ।

१. औदारिक वर्गणा २. वैक्रिय वर्गणा ३. तैजस वर्गणा ४. कार्मण वर्गणा ५. श्वासोश्वास वर्गणा और ६. मनोवर्गणा ७. भाषा । इसमें ८. आहारक वर्गणा साथ में गिनने पर अष्ट महावर्गणा कहलाएगी । इन सब वर्गणाओं के अनंतपुद्गल परमाणु जो लोक में भरे हुए हैं, उन्हें जीव ग्रहण करके परिणमन करता हुआ पुनः छोड़ दें, इसमें जितना काल बीते उसे १ द्रव्य बादर पुद्गल परावर्तकाल कहते हैं । इसमें यदि वर्गणाओं के कर्मानुसार यदि भोगे अर्थात् सभी वर्गणाओं के सभी पुद्गल परमाणुओं को वर्गणा रूप में ग्रहणपरिणमन, उंज्झन आदि करता हुआ, जीव जितना काल बिताता है, उसे द्रव्य से सूक्ष्म पुद्गल परावर्त काल कहते हैं । इस तरह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादि चार प्रकार से सूक्ष्म-बादर के साथ कुल आठ प्रकार के पुद्गल परावर्त काल होते हैं ।

पुद्गल परावर्त काल

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)
बादरद्रव्य पुद्गल परावर्त काल	सुक्ष्मद्रव्य पुद्गल परावर्त काल	बादरक्षेत्र पुद्गल परावर्त काल	सूक्ष्मक्षेत्र पुद्गल परावर्त काल	बादरकाल पुद्गल परावर्त काल	सूक्ष्मकाल पुद्गल परावर्त काल	बादरभाव पुद्गल परावर्त काल	सूक्ष्मभाव पुद्गल परावर्त काल

ऐसे पुद्गल परावर्त काल जीव ने भूतकाल में अनंत बिताए हैं ।

शास्त्रकार महर्षि यहां तक कहते हैं कि -जीव ने भूतकाल में जो अनंत पुद्गलपरावर्त बिताये हैं, वे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के सूक्ष्मपुद्गलपरावर्तकाल बिताये हैं । बादर तो मात्र सूक्ष्म को समझने की पूर्व भूमिका है । संसार में जीव ने इतने अनंत पुद्गलपरावर्तकाल बिताए हैं कि जिसकी गणना भी सम्भव नहीं है । जैसे जीवविचार में कहा है कि -

एवं अणोरपारे, संसार सायरंमि भीमंमि ।
पत्तो अणंतखुत्तो, जीवेहिं अपत्त-धम्मेहिं ।।

-'अणोरपारे' अर्थात् जिसका कभी पार न पाया जाय, ऐसे भयंकर संसार रूप महासागर में बिना धर्म की प्राप्ति केजीव अनंतबार गिरा है । बड़ी गहराई तक फंसा हुआ रहा है।इस तरह अनंतबार इस अनंत संसार में गिरता-फँसता जीव परिभ्रमण

करता हुआ समय बिताता रहा । जहां तक सम्यग् सत्य धर्म प्राप्त नहीं हुआ, वहां तकजीव की यही स्थिति रही । जैसा कि हम पहली पुस्तकमें विवेचन कर चुके हैं, उतना अनंतकाल जीव ने सूक्ष्म निगोद (सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय) में बिताया है, उसी तरह निगोद से बाहर निकलकर बाह्य संसार में भी अनंतकाल बिताया है । चार गति में एवं एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक की पांचों जातियों में एवं ८४ लक्ष जीवयोनियों में परिभ्रमण करते हुए अज्ञान दशा में बीताया है । अत: ऐसे मिथ्यात्व को अनादि मिथ्यात्व भी कह सकते हैं । जन्म जरा मरण रूप जल तरंगों से व्याप्त भीषण भयंकर भवरूप संसार समुद्र में मिथ्यात्वमोहनीय आदि प्रबल गाढ़ कर्मप्रकृतियों केकारण जीव अनंत पुद्गलपरावर्तकाल तकपरिभ्रमण करता रहा । सूक्ष्म अव्यवहार राशि निगोद में जीव ने अनंत जन्म बिताए । अकाम निर्जरा आदि उपयोगी एवं सहयोगी कारणों से तथाभव्यत्व परिपक्व होने पर वह किसी आत्मा केसंसार से मुक्त होने पर अव्यवहार राशि निगोद का जीव सूक्ष्म निगोद में से बाहर निकलकर बादर पर्याय में आया और क्रमश: भव परम्परा में आगे बढ़ता हुआ ८४ लक्ष जीवयोनियों में भटकता हुआ सुख:दुख की थपड़े खाता हुआ अनंत भव एवं अनंतपुद्गलपरावर्तकाल बिताता हुआ आगे बढ़ता है ।

चरमावर्त में प्रवेश :-

इस तरह महाभयंकर दु:खदायी संसार समुद्र में अनंतपुद्गलपरावर्तकाल में अनंत दु:खों को सहन करता हुआ जीव चरमावर्त में प्रवेश करता है । चरम =अंतिम=कालचक्र के गोलाकार वलय । चरमावर्त अर्थात् कालचक्र के अंतिम वलय-आकार अवस्था में जीव का प्रवेश करना । जैसे मानों कि तैली का बैल दिन-रात घूमता-घूमता अंतिम बार के चक्कर में आकर खड़ा रहता है, ठीक वैसे ही भव्यजीव अपना 'तथाभव्यत्व' परिपक्व होने के कारण अन्तिम बार के पुद्गलपरावर्तकालचक्र के गोले में अर्थात् चरमावर्त में आकर प्रवेश करता है । जैसे जैसे अग्नि के तीव्र तापादि कारण से चूल्हे पर चावल, दाल या खिचड़ी पक जाने पर 'परिपक्व' होने पर अब उसे अन्तिमबार देखकर पुन: रखकर फिर उतारने की तैयारी की जाती है, वैसे ही अनंत संसार के अनंत दु:खों में दु:खी होता हुआ, एवं ८४ लक्ष जीवयोनियों में अनंत पुद्गलपरावर्तकाल तथा अनंतकाल बिताता हुआ जीव तथाभव्यत्व परिपक्व होने पर भवभ्रमण के अन्तिम पुद्गलपरावर्तचक्र के चरम काल में पहुँचता है । जैसे प्रकाश, पानी, हवा आदि सहयोगी कारण मिलने से एक

बीज मे अंकुरोत्पत्ति होती है और बीज जैसे वृक्ष बनने की दशा में आगे बढ़ता है, ठीक वैसे ही काल, स्वभाव, नियति पूर्वकृतकर्म, पुरुषार्थ आदि पांच समवायी कारणों केयोग को प्राप्त करके,तीव्र अकामनिर्जरा केबल पर अपना तथाभव्यत्व परिपक्व करता है। ऐसा तथाभव्यत्व परिपक्व भव्यजीव का भव्यत्व सामान्य भव्य के भव्यत्व से (केशरी दूध की तरह) भिन्न कक्षा का होता है। ऐसा तथाभव्यत्व वाला भव्य जीव ही संसार क्षय एवं मोक्ष प्राप्ति के लक्ष्य की तरफ आगे बढ़ने की योग्यता वाला होता है।

धर्मसन्मुखीकरणकाल :-

ऐसा तथाभव्यत्व परिपक्ववाला जीव चरमावर्त में प्रवेश करके शुद्ध अध्यवसायों की तरफ अग्रसर होता है। यहां पर जीव अपनी अनादि काल की 'ओघ' दृष्टि को छोड़कर 'योग' दृष्टि में प्रवेश करता है। मित्रा एवं तारा दृष्टि में जीव स्वल्प मात्र बोध प्राप्त करता है। धर्म श्रवण करने की उसकी जिज्ञासा जागृत होती है। मन में उद्भूत धर्म श्रवण एवं दुःख निवृत्तिरूप शुभ भाव रूप धर्म श्रवण करने की जिज्ञासारूप अभिलाषा के काल को 'श्रवण-सन्मुखीकाल' कहा है। धर्मसन्मुखीक रणकाल का यह प्रथम सोपान है। प्रथम श्रवणसन्मुख होने के बाद ही धीरे-धीरे जीव धर्मसन्मुख होता है। इस तरह अनादि अनंत संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव को मुक्ति के लिए या आत्मा की सर्वोत्कृष्ट शक्ति के आविर्भाव के लिए पहले की अपेक्षा परिणामों की विशुद्धि निर्माण होती है, और वह चरमावर्तकाल में ही 'मार्गसन्मुखी बनाती है। यहां 'मार्ग' शब्द से धर्म अर्थ लिया है। वास्तव में यह जीव पूर्ण धर्मी नहीं बनता है, परंतु धर्मी बनने की पात्रता एवं 'धर्मयोग' को अनुसरने की योग्यता प्राप्त करता है। यह धर्मसन्मुखीकरण का योग्य काल है। इन कालों को भिन्न-भिन्न नामकरण द्वारा कहा गया है।

अचरमो परिअट्टुं कालो भवबालकालमो भणिओ।
तरमो अधम्मजुव्वण, कालो तह चित्तभेओत्ति ।।
ता बीअपुव्वकालो, णेओ भवबालकाल अवेह।
इयरो उधम्मजुव्वण-कालो विहिलिंगगम्मुत्ति ।।

अचरम पुद्गलपरावर्तकाल अर्थात् चरमपुद्गलपरावर्त काल में आने के पहले के जो अनंत पुद्गलपरावर्त का काल था, वह संसार परिभ्रमण का कारण होने से उसे 'संसारबालकाल' कहा है, जबकि अन्तिम चरम पुद्गलपरावर्तकाल

धर्मसन्मुखीकरण या धर्मप्रवेश का काल होने से इसे 'धर्मयौवनकाल' कहा है। इस धर्मयौवनकाल में सत्य-सम्यग् धर्म को प्राप्त करके इस दुःखरूप संसार से मुक्त होने के शुभ परिणाम से जीव तथाभव्यत्वदशा का परिपाक होने के कारण यथाप्रवृत्ति-करण करने में अग्रसर होता है।

यथाप्रवृत्तिकरण :-

'यथाप्रवृत्ति शब्द का सामान्य अर्थ यह है कि यथा + प्रवृत्ति = यथाप्रवृत्ति। जैसी कर्मक्षय की प्रवृत्ति जीव पूर्वकाल में करता था अर्थात् अकामनिर्जरावश जो कर्म खपाता था, वैसी ही प्रवृत्ति विशेष रूप से करता हुआ कर्मक्षय के लिए आगे बढ़ना, इसे यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। अनादि काल की कर्म बांधने और खपाने की प्रवृत्ति को यथाप्रवृत्ति कहते हैं। विशेष आदि सहयोग से इस यथाप्रवृत्तिकरण में जीव कर्मक्षय की दिशामें और प्रबल शक्ति से आगे बढ़ता है। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय आदि जीव अनिच्छा से भी भूख, प्यास, धूप आदि दुःखों को परवशरूप से जो सहन करता है उसमें जो कर्म निर्जरा होती है उसे अकाम निर्जरा कहते हैं। ऐसे प्राणी मनुष्य, पशु-पक्षी आदि पंचेन्द्रिय पर्याय केभी हो, उनमें भी यदि इच्छा के बिना एवं समझशक्ति आदि के बिना, जो पढ़ना, चढ़ना, गिरना, भूख, प्यास, धूप, जाड़ा, गरमी एवं मजबूरी वश किये जाते कामों में, जो दुःख पराधीनपने सहन करता है, उस समय जो कर्म की निर्जरा होती है, उसे अकामनिर्जरा कहते हैं। ऐसी अकामनिर्जरा करता हुआ जीव कई कर्मों की स्थितियां कम करता है। यद्यपि यह स्वेच्छा एवं समझपूर्वक नहीं होता है, तथापि कम स्थितियां जरूर घटती है।

- उदाहरण के लिए समझिये कि - जैसे 'घूण' नामक कीड़ा जो लकड़े में रहता है और लकड़ा काटता हुआ एक किनारे से दूसरे किनारे तक आता-जाता है, उस समय न जानते, न समझते हुए भी जो अक्षर उस काष्ठ पर पड़ते हैं, उसे घूणाक्षर कहते हैं, 'घूण' कीड़े को यह खबर नहीं है कि मैं क्या कर रहा हूँ। फिर भी अ, इ, उ, ण, न,क, ड आदि अक्षर बन जाते हैं। ठीक वैसे ही मुझे कर्मनिर्जरा करनी है, ऐसा न जानते, न समझते हुए भी जीव कई कर्मों की अकामनिर्जरा करता जाता है, उसे यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं।

इस विषय में 'नदीगोळपाषाण न्याय' का एक दूसरा दृष्टांत भी है। उदाहरण के लिए समझिए कि- एक पहाड़ की घाटी के बीच में से एक नदी बह रही है। पानी के प्रवाह के साथ कई छोटे-बड़े पत्थर भी घसीटे जा रहे हैं। यद्यपि पत्थर

अपनी तरफ से कुछ भी प्रयत्न नहीं कर रहा है, फिर भी पानी के प्रवाह के साथ घसीटा जाता हुआ वह पत्थर घिसते-घिसते एक दिन बड़ा ही सुंदर मनोहर गोल आकृ ति वाला बन जाता है, जैसे मानों वह कोई मणि या रत्न हो । इसे 'नदी+पाषाण+न्याय' अर्थात् नदी के प्रवाह में जैसे पत्थर (पाषाण) गोल हो जाता है ठीक इसी तरह पत्थर के स्थान पर मिथ्यात्व दशा में पडा हुआ जीव पाषाण की तरह स्वयं कोई प्रयत्न विशेष स्वेच्छा से न करता हुआ, सुख-दु:ख की थपेड़ें खाता हुआ भी चतुर्गतिरूप संसार में अनंत पुद्गलपरावर्तकाल से परिभ्रमण करता हुआ, यथाप्रवृत्तिकरण के लिए उद्यत होता है । इस तरह 'नदी-गोलपाषाण न्याय' या 'घूणाक्षर' न्याय की तरह जीव अनाभोगभावरूप अर्थात् बुद्धि-समझ या स्वेच्छा के बिना भी जीव जो कर्मों के स्थिति बल को घटाता है तथा मिथ्यात्व को मंद करता है इसे यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं ।

यथाप्रवृत्तिकरण

सामान्य विशेष (विशिष्ट) या पूर्वप्रवृत्त

यथाप्रवृत्तिकरण दो प्रकार का होता है । (१) सामान्य यथाप्रवृत्तिकरण जिसे अभव्य जीव भी कर सकते हैं । (२) दूसरा विशिष्ट यथाप्रवृत्तिकरण जिसे शास्त्रों में पूर्वप्रवृत्त-यथाप्रवृत्तिकरण कहा है - जिस करण के बाद निश्चित रूप से अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण की प्राप्ति होती ही है । ऐसे यथाप्रवृत्तिकरण को पूर्वप्रवृत्त-विशिष्ट यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं । अर्थात् इसे करने वाला निश्चित ही ग्रंथभेद करके अन्य करणों को करता हुआ आगे बढ़कर सम्यक्त्व पा लेता है । सही अर्थ में देखा जाय तो ऐसा यथाप्रवृत्तिकरण आत्मोन्नति या आत्मविकास की दशा में प्रयास करने वाले जीव के लिए यह पहला स्टेशन है । इस पहले स्टेशन पर आए बिना जीव आत्म विकास का कार्य प्रारम्भ ही नहीं कर सकता है । अत: प्रथम यथाप्रवृत्तिकरण करना आवश्यक है ।

यद्यपि अभव्य जीव जो कि मोक्ष प्राप्ति के लिए योग्य पात्र भी नहीं हैं मोक्ष प्राप्ति की जिसकी इच्छा भी नहीं है, ऐसा अयोग्य जीव भी यथाप्रवृत्तिकरण कर लेता हैं, परंतु आगे बढ़ नहीं पाता है । भव्यात्मा जो योग्यता वाला जीव है, वह यदि आगे के अपूर्वकरण आदि करण न करे, तो पूर्व में किया हुआ यथाप्रवृत्तिकरण भी निष्फल जाता है । जीव ने अनंतकाल में ऐसे यथाप्रवृत्तिकरण तो अनंत बार कर लिए, परंतु ग्रंथिभेद न कर सकने के कारण वापिस चला गया और पुन: कर्मबंध की उत्कृ ष्ट स्थितियां बांधने लग जाता है । मिथ्यात्व पुन: तीव्रगाढ हो जाता है ।

यथाप्रवृत्तिकरण में प्रयुक्त 'करण' शब्द आत्मबल, आत्म-अध्यवसाय के अर्थ में प्रयुक्त है । ओघदृष्टि में से योगदृष्टि में आया हुआ शुक्लपाक्षिक तथाभव्यत्व परिपक्व हुआ है जिसका ऐसा भव्य जीव जो पूर्वप्रवृत्त विशिष्ट प्रकार का यथाप्रवृत्तिक रण करता हुआ अपनी बांधी हुई कर्मों की उत्कृष्ट बंधस्थितियों को अकामनिर्जरा के बल से घटाता हुआ कम करता है । मिथ्यात्व यहां मंद पड़ता है और आत्मा के अध्यवसाय विशुद्ध बनते हैं । अत: वह जीव स्थितिघात करने में विशेष उद्त बनता है । जैसे कच्चे आम को घास में रखकर गरमी से परिपक्व किया जाता है, वैसे ही यथाप्रवृत्तिकरण में जीव सातों कर्मों की उत्कृष्ट बंधस्थितियां काटकर, कम करता हुआ, अंत: कोडाकोडी प्रमाण करता है । आठों कर्मों की अपनी-अपनी उत्कृष्ट बंध स्थितियां निश्चित है । वे इस प्रकार बताई गई है -

कर्म की बंध स्थितियां :-

*** आदितस्तिृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम कोटीकोट्य: परा स्थिति : ।। (८-१५)**

*** सप्ततिर्मोहनीयस्य: ।। (८-१६) * नामगोत्रयोर्विंशत: ।। (८-१७)**

*** त्रायस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्ककस्य ।। (८-१७)**

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में उपरोक्त सूत्रों में पू.उमास्वाति महाराज ने आठ कर्मों की उत्कृष्ट बंध स्थितियां इस प्रकार बताई है -

(१) ज्ञानावरणीय कर्म की	-	३० कोडाकोडी सागरोपम,उत्कृष्ट स्थिति
(२) दर्शनावरणीय कर्म की	-	३० कोडाकोडी सागरोपम, उत्कृष्ट स्थिति
(३) बेदनीय कर्म की	-	३० कोडाकोडी सागरोपम, उत्कृष्ट स्थिति
(४) अंतराय कर्म की	-	३० कोडाकोडी सागरोपम, उत्कृष्ट स्थिति
(५) मोहनीय कर्म की	-	७० कोडाकोडी सागरोपम, उत्कृष्ट स्थिति
(६) नाम कर्म की	-	२० कोडाकोडी सागरोपम, उत्कृष्ट स्थिति
(७) गोत्र कर्म की	-	२० कोडाकोडी सागरोपम, उत्कृष्ट स्थिति
(८) आयुष्य कर्म की	-	३३ सागरोपम वर्ष, उत्कृष्ट स्थिति ।

इस तरह आठों कर्मों की जो उत्कृष्ट स्थितियां है उनमें से आयुष्य कर्म की बंध स्थिति को छोड़कर शेष सात कर्मों की उत्कृष्ट बंध स्थितियों का स्थितिघात क रता हुआ अर्थात् घटाकर कम करता हुआ जीव आगे बढ़ता है और अंत: कोडाकोड़ी सागरोपम के अंदर की कर लेता है, अर्थात् अब सिर्फ १ कोडाकोडी सागरोपम के अंदर की स्थिति कर लेता है । अब आगे इतनी ही खपानी शेष रहती है । यह बड़ा

भगीरथ कार्य जीव यहां पर करता है।

आयुष्य कर्म एकभवाश्रयि होने केकारण इसका प्रश्न बीच में नहीं आता है। इसका स्थितिघात करने की आवश्यकता नहीं रहती जबकि शेष सात कर्म जन्म-जन्मांतराश्रयि रहते हैं। अत: उनकी लम्बी स्थिति को काटकर जीव कम कर लेता है। बस,यही यथाप्रवृत्तिकरण करने का मुख्य प्रयोजन था। इससे कर्मों की उत्कृष्ट बंध स्थिति का घात (स्थिति घात) करने का कार्य सिद्ध होता है। इसके बाद जीव ग्रंथिप्रदेश के समीप आकर आगे के अपूर्वकरण आदि करण करता है। प्राथमिक कक्षा की इस आत्म-विकास की प्रक्रिया को निम्न चित्र से सरलता से समझा जा सकता है।

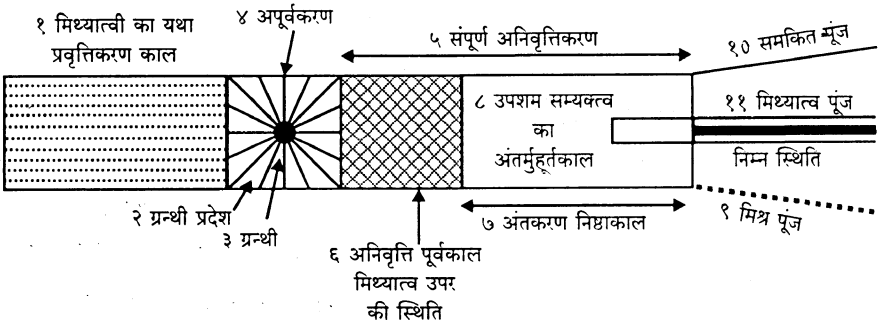

चित्र की विशेष समझ :-

(१) जीव का अनादि मिथ्यात्व दशा का काल 'मिथ्यात्व' गुणस्थानक कहलाता है। इस प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थानक पर जीव 'नदीगोलपाषाणन्याय' की तरह यथाप्रवृत्तिकरण की प्रवृत्ति करकेकर्मों की उत्कृष्ट स्थितियों को घटाकर अंत: कोडाकोडी सागरोपम में भी पल्योपम के असंख्यात वें भाग न्यून जितनी स्थिति घटाने का काम यहां करता है।

(२) राग-द्वेष के तीव्र उदयरूप ग्रंथि प्रदेश के समीप जीव अनेक बार आता है, परंतु ग्रंथि (गांठ) से डरकर वापिस चला जाता है या वहीं रुक जाता है।

(३) ग्रंथी (गांठ) अथवा मिथ्यात्व के उदयवाला तीव्र राग-द्वेष का काल।

(४) एकही अंतर्मुहूर्त काल में कोई जीव 'अपूर्वकरण' रूप आत्मा के निर्मल विशुद्ध अध्यवसाय से राग-द्वेष के अधीन न होते हुए ग्रंथि (गांठ) का छेदन-भेदन क रता है वह 'अपूर्वकरण' काल कहलाता है।

(५-६) अनिवृत्तिकरण के अंतर्मुहूर्त का पूर्व अंतर्मुहर्त काल। (क्रियाकाल) इस काल को पसार करता हुआ भविष्य केअंतर्मुहूर्तकाल में उदय में आने वाले

मिथ्यात्व केदलिकों में से कुछ वर्तमानकालीन अंतर्मुहूर्त में खींच लाता है और कुछ भविष्यद् अंतर्मुहूर्त में डाल देता है। इस प्रकार बीच का अंतर्मुहूर्त मिथ्यात्व दलिकों से रहित बना देता है। यहां पर मिथ्यात्व की सतत लम्बी स्थिति के २ भाग करने से बीच में जो अंतर पड़ता है उसे 'अंतकरण कहते हैं। अनिवृत्तिकरण काल के क्रियाकाल के अंतर्मुहूर्त को अनिवृत्तिकरण तथा निष्ठाकाल के अंतर्मुहूत को अंतरकरण मानते हैं। दोनों का संयुक्तकाल भी अंतर्मुहूर्त ही होता है उसे सम्पूर्ण अनिवृत्तिकरण कहते हैं।

(७) अंतःकरण-अनिवृत्तिकरण के ही इस अंतरकरण रूप निष्ठाकाल में मिथ्यात्व दलिक नहीं रहने से यहां पर प्रथम समय में ही उपशम समकित प्राप्त करता है। इसे चतुर्थ गुणस्थान कहते हैं। कोई-कोई जीव चौथे से भी ज्यादा गुणस्थान भी अंतरकरण में ही प्राप्त कर लेता हैं।

(८) अंतरकरण के अंतर्मुहूर्त की अंतिम ६ आवलिकारूप सास्वादन का काल। कोई मंद परिणामी जीव उपशम-समकित में ही यहां पर अनंतानुबंधी का उदय होने पर मलिन परिणाम वाला हो जाय, और ६ आवलिका पूर्ण होने पर अवश्य ही मिथ्यात्व का उदय हो जाता है।

(९) अंतरकरण के समय में ही भावी मिथ्यात्व के तीन पुंज करता है उसमें से (अर्धशुद्ध किया हुआ) मिश्र पुंज।

(१०) सम्पूर्ण शुद्ध किया हुआ समकित पुंज।

(११) अशुद्ध रहा हुआ मिथ्यात्व पुंज।

इस तरह चित्र में दिए हुए नंबर के साथ यहां विशेष विस्तृत परिचय देते हुए स्पष्टीकरण किया गया है। प्रयत्न करने पर स्पष्ट समझ में आ सकता है।

राग-द्वेष की निबिड़ ग्रंथि :-

'ग्रंथि' यह एक संस्कृत शब्द है। इसका अर्थ 'गांठ' होता है। धागे, सुतली या रस्सी की गाँठ, उसके दो भागों को मजबूती से पकड़े रहती है। गन्ने के बांस में जो थोड़ी-थोड़ी दूरी पर, अर्थात् संधि स्थल पर, जो गाँठ होती है वह अन्य स्थान की अपेक्षा ज्यादा कठोर होती है। गन्ना खाने वाला व्यक्ति गाँठ वाले भाग को आसानी से नहीं चबा पाता है। बांस वृक्ष के मूल में दीर्घकाल से रही हुई गाँठ अत्यंत कठोर व दुर्भेद्य होती है।

कहा जाता है कि रेशम की गाँठ सबसे ज्यादा कठिन होती है। रेशम के धागे की गाँठ खोलना कोई सरल कार्य नहीं है। इसे खोलने में बड़े से बड़े

शक्तिशाली व्यक्ति कोभी छट्ठी का दूध याद आ जाता है । ठीक इसी तरह समझ लीजिये कि आत्मा पर लगे हुए मोहनीय आदि कर्मों की तीव्रता के कारण 'राग-द्वेष' की गांठ बंध जाती है । विशेषावश्यक भाष्य में कहा है कि :-

गंठि त्ति सुदुब्भेओ कक्खडघणरूढ़गूढगंठिव्व ।
जीवस्स कम्मजणिओ घणराग - द्दोसपरिणामो ।।

- आत्मा के कर्म जनित राग-द्वेष के परिणामस्वरूप जो गाँठ बंधता है वह अत्यंत कठोर, निबिड़, दुर्भेद्य बांस वृक्ष की (संधि) गाँठ की तरह होती है । आत्मा का राग-द्वेष रूप, कर्म जनित, अतिशय मलिन परिणाम रूप यह गांठ होती है । वैसे यह ग्रंथि और कुछ नहीं लेकिन अनंतानुबंधी कषायों की चौकड़ी है । यह दीर्घकाल से आत्मा में पड़ी हुई है ।

जैसे वस्त्र पर बैलगाड़ी केपहिये का कीट रूप मल (काला दाग) लग जावे और वह भी अधिक गहरा कि वस्त्र फट जावे तो भी न छूटे (इस पर वह काला दाग यदि धूल आदि से दबा हुआ रहे तो पता भी न चले) ठीक इसी तरह आत्म-प्रदेश रूपी वस्त्र पर तीव्र गाढ़ राग-द्वेष की अत्यंत मलिन कर्म परिणति रूप कीट के दाग की तरह गांठ बांधकर, आत्मा के साथ चिपका रहता है; और ऊपर से उस पर कर्मबंध की उत्कृष्ट स्थिति रूपी धूल जम जाने से अनादि काल तकजीव को पता ही नहीं चलता और वह जीव अनंतानुबंधी कषायादि राग-द्वेष की वृत्ति एवं प्रवृत्ति में काल निर्गमन करता रहता है ।

यथाप्रवृत्ति करने का यह लाभ है कि जीव आयुष्य कर्म को छोड़, शेष सातों कर्मों की उत्कृष्ट कर्मबंध स्थितियों का ह्रास करके, इस ग्रंथि प्रदेश के समीप में आता है । ठीक ही कहा है कि -

अन्तिमकोडाकोडीए सव्वकम्माणमाउवज्जाणं ।
पलियासंखिज्जइमे, भागे खीणे हवइ गंठी ।।

आयुष्य कर्म के सिवाय अन्य सातों कर्मों की अंतिम कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थिति में से पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति का क्षय होने पर जीव ग्रंथि देश को प्राप्त करता है । ऐसे भयंकर राग-द्वेष की निबिड़-गाढ़ गांठ को भेदने के लिए जीव को अभूतपूर्व शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है । जो जीव शक्ति का प्रयोग करके, विजय पाकर, आगे बढ़ जाय, वह सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है । लेकिन सभी जीव समान शक्ति वाले नहीं होते हैं । कई जीव हार मानकर ग्रंथि भेद का दुर्भेद्य कार्य छोड़कर पुन: लौट भी जाते हैं । इस बात को विशेषावश्यक

भाष्य में चींटी एवं पुरुषों के दृष्टांत से समझाई है।

खितिसाभावियगमणं थाणूसरणं तओ समुप्पयणं ।
थाणं थाणुसिरे वा ओरुहणं वा मुंइगाणं ।।
खिइगमणं पिव पडमं थाणूसरणं व करणमपुव्वं ।
उप्पयणं पिव तत्तो जीवाणं करणमनियट्टि ।।
थाणुव्व गंठिदेसे गंठियसत्तस्स तत्थवत्थाणं ।
ओयरणं पिव तत्तो पुणोऽवि कम्मट्ठिइविवुड्ढी ।।

स्वाभाविक गति से चींटियाँ पृथ्वी तल पर इधर-उधर चलती रहती है। ते इन्द्रिय कक्षा का यह जीव आँख, कान रहित सिर्फ तीन इन्द्रियों वाला ही है। दिखाई न देते हुए भी चींटी इधर-उधर आती जाती रहती है। कई चींटियाँ वृक्ष के तने (स्तम्भ) पर चढ़ती है। कई दीवार के सहारे किले पर चढ़कर उड़ भी जाती है। कई किले पर न चढ कर वहीं आस-पास घूमती रहती हैं, और किले पर चढ़-उतर करती रहती है।

चींटियों की स्वाभाविक गति की तरह, जीव का सहज स्वभाव यथा-प्रवृत्तिकरण रूप होता है, किले पर चढ़ने के जैसा अपूर्वकरण होता है, किले पर से उड़ जाने की तरह अनिवृत्तिकरण होता है। इस तरह कई जीव सहज स्वाभाविक यथाप्रवृत्तिकरण करते हुए किले के समीप आते हैं, दूसरे कई जीव किले पर चढ़ी हुई चींटियों की तरह अपूर्वकरण से ग्रंथि भेद करते हुए आगे बढ़ते हैं। तथा किले पर न चढ़कर वहीं चींटी की तरह कई जीव ग्रंथि देश में पड़े रहते हैं।इसी बात को तीन प्रकार के पुरुषों के दृष्टांत से विशेष स्पष्ट समझा जाता है।

तीन मित्रों को चोर मिले :-

जह वा तिन्नि मणूस जनडविपहं सहाविगमणेण ।
वेलाइक्कमभीया तुरंति पता यदो चोरा ।।
ददठुं मग्गतडन्थे ते एगो मग्गओ पडिनियत्तो ।
बितियो गहिओ तइओ समइक्कंतो पुरं पतो ।।
अडवी भवो मणूसा जीवो कम्मट्ठिई पहो दाहो ।
गंठी य भयत्थाणं राग-दोसा य दो चोरा ।।
भग्गो ठिइपरिवड्ढी गहिओ पुण गंठिओ गओ तइओ ।
सम्मत्तपुरं एवं जोएज्जा तिण्णि करणाइं ।।

तीन मित्र व्यापार करने के लिए विदेश जा रहे थे। चलते-चलते वे एक घने जंगल में पहुँचे। क्रमशः आगे बढ़ते हुए, एक, एक मित्र को मार्ग में दो-दो चोर

मिले। पहला मित्र दोनो चोरों को देखकर, वहां से नो-दो ग्यारह हो गया। दूसरा मित्र कायरता से चोरों की शरण स्वीकार कर, वहीं बैठ गया। तीसरा मित्र जो साहसी था, उसने चोरों से संघर्ष किया। उसने लड़कर चोरों पर विजय प्राप्त करके, आगे प्रयाण किया और इच्छित स्थान पर पहुँच गया।

इस दृष्टांत के उपनय में कहते हैं कि घने जंगल के समान यह संसार है। दो चोर राग और द्वेष है। चोरों का घने जंगलों में छिपने जैसा ग्रंथि (गाँठ) प्रदेश है तथा मित्रों की तरह तीन प्रकार के जीव होते हैं - पहले मित्र की तरह कुछ जीव ऐसे होते हैं जो राग-द्वेष की ग्रंथि की दुर्भेद्य स्थिति को देखकर वापिस लौट आते हैं। दूसरे प्रकार के मित्र के समान कई जीव ऐसे होते हैं जो घबराकर राग-द्वेष की गांठ के शरण होकर, हिम्मत हारकर ग्रंथि प्रदेश केसमीप बैठे रहते हैं। जबकिकुछ भव्य जीव शक्तिशाली, साहसिक, तीसरे मित्र जैसे होते हैं, जो दुर्भेद्य राग-द्वेष की गांठ को अपूर्वकरण बल से भेदकर, पार उतरते हुए सम्यक्त्व को प्राप्त करते है। लेकिन ऐसे जीव विरले ही होते हैं।

तीन मित्रों के स्वाभाविक गमन के जैसा, ग्रंथि प्रदेश है, समीप लाने वाला यथाप्रवृत्तिकरण, हिम्मत से संघर्ष करके चोरों को परास्त करने जैसा अपूर्वक रण है, तथा इच्छित स्थान तक पहुँचाने वाला अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्त कराने जैसा अनिवृत्तिकरण है।

तीन करणों की आवश्यकता :-

करणं अहापवत्तं अपुव्यमनियट्टिमेव भव्वाणं।
इयरेसिं पढमं चिथ भन्नइ करणंति परिणामो ।।

मोक्ष प्राप्ति चरम फल है, जबकि तीन प्रकार के करण करना, मोक्ष प्राप्ति हेतु सर्व प्रथम कर्तव्य है। अनादिकालीन गाढ़ मिथ्यात्व की मात्रा कम करती हुई आत्मा मंद, मंदतर मिथ्यात्व में आकर तथाभव्यत्वपरिपक्व से मोक्ष प्राप्ति की दशा में अग्रसर होती हुई, प्रथमावस्था में, १. यथाप्रवृत्तिकरण २. अपूर्वकरण ३. अनिवृत्तिकरण करती है। यहां पर 'करणमिति परिणामो' करण अर्थात् आत्मा का परिणाम विशेष। परिणाम = आत्मा के अध्यवसाय, भाव या विचार आदि।

अनादिकालीन कर्म क्षयार्थ प्रवर्तमान आत्मा के अध्यवसाय, परिणाम विशेष को पहला यथा-प्रवृत्तिकरण कहते हैं, जिसमें कर्म बंध की उत्कृष्ट स्थितियों का घात करते, अत: कोड़ाकोड़ी सागरोपम की करके आत्मा को ग्रंथि प्रदेश के समीप लाने का काम होता है। इसके बाद कभी भी जिस शक्ति का प्रयोग नहीं कि या हो ऐसी अपूर्वअभूतपूर्व आत्मिक शक्ति का प्रयोग करके स्थिति-घात, रसघात आदि करने के अध्यवसायपरिणाम विशेष को अपूर्वकरण कहते हैं। सम्यग्दर्शन की

प्राप्ति होने तकपरिणाम पुन: न गिर जावे अर्थात् निवृत्ति न हो जावे, ऐसे आत्मा के अध्यवसाय विशेष को अनिवृत्तिकरण कहते हैं ।

उपरोक्त तीनों ही आत्मिक अध्यवसाय (परिणाम) रूप करण क्रमश: अधिक- अधिक विशुद्ध-विशुद्धतर होते हैं । इन तीन करणों में से अभव्य जीव को मात्र पहला करण ही होता है । वह कदापि उससे आगे नहीं बढ़ पाता है, जबकि भव्य जीवों के लिए तीनों करण आगे बढ़ने में अनिवार्य होते हैं । तीनों करण कब और कहां किए जाते हैं , इस विषय में लिखते हैं कि -

जा गंठी ता पढमं गंठी समइच्छाओ अपुव्वं तु ।
अनियट्टीकरणं पुण सम्मत्तपुरक्खडे जीवे ।।

१. ग्रंथि स्थान पर्यंत आगमन पुर्व पहला यथाप्रवृत्तिकरण किया जाता है ।

२. ग्रंथि भेद करते समय अपूर्वकरण नाम का दूसरा करण होता है । इसमें ग्रंथि भेद करके अर्थात् राग-द्वेष की गाँठ का छेदन करके जीव सम्यक्त्वाभिमुख होता है

३. इसके आगे अत्यंत विशुद्ध अध्यवसायरूप तीसरा अनिवृत्तिकरण, करके जीव तुरंत सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है ।

२. अपूर्वकरण :-

अपूर्व 'न पूर्वमित्यपूर्वम्' पूर्व अर्थात् पहले कभी भी नहीं किया है, ऐसा आत्मिक अध्यवसाय रूप शक्ति का प्रयोग करना, इसे अपूर्वकरण कहते हैं , अर्थात् अनादिकाल केअनंत पुद्गल परावर्तकाल तक के संसार परिभ्रमण में जिसका प्रयोग जीव ने पूर्व में कभी भी नहीं किया था, ऐसे शुभ प्रशस्त आत्मिक अध्वसाय रूप शक्ति का अभूतपूर्व प्रयोग करके राग-द्वेष की निबिड़ ग्रंथि का छेदन-भेदन करना यह अपूर्वकरण कहलाता है । यह अपूर्वकरण पहले यथाप्रवृत्तिकरण की अपेक्षा ज्यादा शुद्धतर-विशुद्ध कक्षा का है । पूर्व प्रवृत्ति विशिष्ट यथाप्रवृत्तिकरण करने वाला भव्य जीव ही इस अपूर्वकरण को कर सकता है । यह अपूर्वकरण यथाप्रवृत्तिकरण का कार्य हुआ, जबकि यह आगे के तीसरे अनिवृत्तिकरण का कारण होता है । एकेन्द्रिय से चउरेन्द्रिय तक के चींटी, मकोड़े, मक्खी, मच्छर आदि विकलेन्द्रिय जीवों तक के लघु जीव इसकेअधिकारी ही नहीं है । पंचेन्द्रिय जीव उसमें भी पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव, ही इसे करने वाले अधिकारी बनते हैं । उसमें भी सभी पंचेन्द्रिय नहीं, लेकिन मात्र वे ही, जिसका मोक्ष प्राप्ति का समय अर्द्ध पुद्गलपरावर्तकाल ही शेष रहा हो, ऐसा तथाभव्यत्व जिसका परिपक्व हुआ है, ऐसा भव्य जीव ही अपूर्वकरण करने का सच्चा अधिकारी होता है ।

राग-द्वेष की निबिड़ ग्रंथि का भेदन करने में समर्थ ऐसा भव्य जीव इस अपूर्वकरण का उपयोग शस्त्र के रूप में करता है । अत: ग्रंथिभेद यह अपूर्वकरण की

क्रिया का फल है। अनादिकालीन अनंत पुद्गल परावर्तकाल में बीते अनंत भवों में, जीव ने ऐसा जो कभी नहीं किया था, वह ग्रंथि भेद का कार्य 'अपूर्वकरण क्रिया से आज प्रथम बार ही किया है।

पुद्गल परावर्तकाल में, अनंत जन्म तक, अनादि मिथ्यात्व के कारण, जिसके सम्यग् दर्शन रूप नयनयुगल नष्ट हो चुके थे, जो वर्षों से सत्य तत्त्व को देख ही नहीं सका था, ऐसे भवाभिनन्दी जीव को योगानुयोग तथाभव्यत्व परिपक्व होने पर, अपूर्वकरणादि तीनों करण की सहायता से, ग्रंथि भेद होने पर, सम्यग् दृष्टि रूप जो नेत्रोन्मिलन होता है, उससे मिथ्यात्व तिमिर नाश रूपी, जो यथार्थ सत्य तत्त्व का जो श्रद्धान् होता है, उसका आनंद जन्मांध की अपेक्षा भी अनेक गुना होता है। ऐसे अनेक दृष्टांत शास्त्रों में बताए गए है।

एक अन्य दृष्टांत ऐसा भी है कि सशक्त शक्तिमान योद्धा भी भयंकर संग्राम में युद्ध करते-करते अंत में हारने की स्थिति में, घोर निराशा के सागर में डूब जाता है। ऐसे में योगानुयोग अंतिम क्षण में तीर के सही निशाने पर लगने से, शत्रु राजा की मुत्यु होते ही, उसे युद्ध में विजय रूपी जो आनंद का अनुभव होता है, उससे भी अनेक गुणा आनंद, भव्य जीव को संसार संग्राम में मोहनीय कर्म की प्रकृति रूपी सेना के साथ युद्ध करते करते हारने के अंतिम क्षण में अपूर्वकरण आदि योगों से राग-द्वेष की ग्रंथि का भेद करके, मानो दुश्मन के दुर्भेद्य किले को भेदकर विजय प्राप्त करता है। उसी तरह ग्रंथि भेद करने रूप दर्शन मोहनीय एवं अनंतानुबंधी कषाय आदि मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का भेद करके सम्यक्त्व प्राप्ति के विजय से जो आनंद होता है, वह जीवन का प्रथम आनंद होता है।

इस प्रकार के कई दृष्टांत शास्त्रों में दिये गये हैं। यद्यपि ये दृष्टांत से सर्व आंशिक तुलना भी नहीं कर सकते है, फिर भी उस आनंद को समझने के लिए अनुमान जन्य स्थिति का परिचय करा सकते हैं। स्वाभाविक है कि अनादिकाल से जिस जीव ने जिस सम्यक्त्व को कभी प्राप्त नहीं किया था। उसे उस प्रकार के सम्यक्त्व को प्राप्त करके, सदा के लिए संसार से मुक्त होकर, मैं मोक्ष में एक दिन निश्चित ही जाऊंगा, इस प्रकार के दृढ़ संकल्प से उसे अभूतपूर्व आनंद होता है।

सर्व प्रथम जीव कौन सा सम्यक्त्व प्राप्त करता हैं ? इसके बारे में शास्त्रकार महर्षि कहते हैं कि अनादि मिथ्यादृष्टि जीव यथाप्रवृत्ति आदि तीन करणों के द्वारा सर्वप्रथम औपशमिक प्रकार का सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

कोई जीव क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी प्राप्त करता है। सिद्धांतकारों का मत है कि मिथ्यात्व के गुणस्थानक से जीव सीधे चौथे, अविरत सम्यक् दृष्टि गुणस्थानक पर आता है। यद्यपि चौथे गुणस्थानक पर व्रत, विरति, पच्चक्खाण न

होते हुए भी उसकी श्रद्धा सम्यग् होती है ।

सम्यक्त्व प्राप्ति के दो प्रकार :-

'तन्निसर्गादधिगमाद् वा' (१/३)

निसर्गादधिगमाद् वा, जायते तच्च पंचधा ।
मिथ्यात्वपरिहाण्यैव, पंचलक्षणलक्षितम् ।।

(धर्मसंग्रह - २२)

सम्यक्त्व प्राप्ति

निसर्ग से अधिगम से

निसर्ग = अर्थात् बिना किसी निमित्त से, स्वाभाविक, सहज रूप से ।

निसर्ग से - तीर्थंकर भगवान, गुरु उपदेश आदि किसी भी प्रकार का निमित्त न प्राप्त होते हुए भी जो जीव स्वयं सहज, स्वाभाविकभाव से तथाभव्यत्वादि प्राप्त करकेयथाप्रवृत्ति, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण आदि करण करता हुआ, अंतरंग विशुद्धि एवं अध्यवसाय शुद्धि के आधार पर जो जीव नैसर्गिक अर्थात् स्वाभाविक प्रक्रिया से सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं, उसे निसर्ग सम्यक्त्व कहते हैं । सम्यगदर्शन की उत्पत्ति अंतरंग और बाह्य दो निमित्तों से होती है । अत: निसर्ग यह अंतरंग निमित्त है, और अधिगम यह बाह्य निमित्त जन्य है ।

निसर्ग और अधिगम ये दोनों सम्यक्त्व के प्रकार नहीं है, लेकिन सम्यक्त्व प्राप्ति की प्रक्रिया के मात्र दो मार्ग है ।

(१) निसर्ग सम्यक्त्व :- जीव विशेष को योग्यता विशेष, परिपक्व होने पर, किसी देव-गुरु आदि के उपदेश के अभाव में भी, वह नैसर्गिक रूप से अंतरंग विशुद्धि के आधार पर, तीनों करण करके जो सम्यक्त्व प्राप्त करता है, उसे निसर्ग सम्यक्त्व कहते हैं ।

(२) अधिगम सम्यक्त्व - अधिगम अर्थात् तीर्थंकर, गुरु आदि के उपदेश रूप बाह्य निमित्त ।

इसमें देव-गुरु के उपदेश, धर्मोपदेश, जिन प्रतिमा दर्शन-पूजन, जिनागम, प्रवचन श्रवण आदि बाह्य निमित्तों की प्रधानता रहती है । इन प्रेरकनिमित्तों से जिसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है, उसे अधिगम सम्यक्त्व कहते हैं । ऐसा सम्यक्त्व चाहे बाह्य निमित्त से हो या बिना निमित्त के हो, दोनों ही प्रकार के प्रधान (मुख्य) अंतरंग निमित्त है ।

अंतरंग निमित्त की शुद्धता के बिना, बाह्य निमित्तादि मिलने पर भी, सम्यक्त्व नहीं होता है । इसलिए अंतरंग निमित्त की शुद्धता परम आवश्यक है ।

बाह्य निमित्त रूप देव-गुरु धर्मोपदेश आदि की प्राप्ति भी अंतरंग निमित्त को शुद्ध या जागृत करने में सहायक बनती है। इस तरह अनादि मिथ्या दृष्टि जीव बाह्य निमित्त के सद्भाव या अभाव में, निसर्ग या अधिगम दोनों ही मार्ग से सम्यक्त्व प्राप्त करता है। दोनों ही तरह से मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का क्षयोपशम होता है। बाह्य निमित्त द्वारा जो अंतरंग निमित्त प्रकट होता है, उसे अधिगम सम्यक्त्व कहते हैं। लेकिन दोनों में ही जीव का भव्यत्व परिपक्व होना मुख्य आधार है।

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षयोपशम आदि का कार्य ही उपरोक्त -१. निसर्ग २. अधिगम द्वारा होता है। अत: सम्यक्त्व की प्राप्ति निसर्ग और अधिगम दो प्रकार से होती है। जब जंगल में लगा हुआ दावानल बढ़ते-बढ़ते, ऊखर भूमि तक पहुँचते ही, अपने आप (स्वमेव) शांत हो जाता है, तब दावानल की शांति में कोई बाह्य निमित्त नहीं है। ठीक इसी तरह अनादि मिथ्यादृष्टि जीव में जो मिथ्यात्व अनादिकाल से चला आ रहा है। वह मिथ्यात्व तथाभव्यत्व परिपक्व होने पर, यथाप्रवृत्ति आदि तीनों करण करते हुए, ग्रंथि भेद करके जो सहज स्वाभाविक सम्यक्त्व प्राप्त होता है, उसे बाह्य निमित्त भाव रूप नैसर्गिक सम्यक्त्व कहते हैं। लेकिन जंगल का वही दावानल यदि किसी केद्वारा पानी, रेत, धूल आदि डालकर बुझा दिया जावे, ठीक इसी तरह किसी अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व को देव-गुरु धर्मोपदेश की वाणी रूपी पानी से शांत कर दिया जाय और मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उपशम वा क्षयोपशम से जो औपशमिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है, उसे बाह्य निमित्त सद्भावरूप अधिगम सम्यक्त्व कहते हैं।

सम्यक्त्व प्राप्ति का महाफल :-

अनंत पुद्गल परावर्तकाल के परिभ्रमण में अनादिकाल के इस संसार में मिथ्यादृष्टि जीव ने जब तक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं किया था, तब तक उसका संसार असीमित एवं अनंत था, लेकिन जब जीव ने यथाप्रवृत्तिकरण आदि तीन करणों के महापुरुषार्थ से सर्वप्रथम सम्यक्त्व प्राप्त किया, तभी से मानो उसके भव संसार में सूर्योदय हुआ हो। सम्यक्त्व रूपी सूर्योदय से उसके जीवन में मानो ज्ञान का प्रकाश फैला हो। अब उसके सामने देव-गुरु-धर्म तथा जीवादि तत्त्व सही अर्थ में दिखाई देने लगे। जैसे छोटे बालक को शाला में प्रवेश कराते और नाम लिखाते समय, माता-पिता आदि बालक के भविष्य के प्रति आशान्वित होते हैं कि हमारा बालक एक दिन पढ़ लिखकर डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, प्रोफेसर आदि बनेगा। वे ऐसे भावी सपने बालक के विद्यालय में प्रवेश के प्रथम दिवस से ही देखने लगते हैं। खेत में बीज बोते समय ही किसान उत्तम फसल और उससे प्राप्त होने वाले भावी फल की प्राप्ति का विचार करके, मन में अभूतपूर्व आनंद का अनुभव करता है। ठीक

इसी तरह सम्यक्त्व की प्राप्ति, मोक्ष प्राप्ति का बीज रूप है । जिस तरह बीज के बिना वृक्ष की कल्पना करना असंभव है, वैसे ही सम्यक्त्व के बिना मोक्ष प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं है । सम्यक्त्व की प्राप्ति होना, याने भव्य जीव के संसार रूपी खेत में मोक्ष रूपी बीज का वपन (बोया जाना) है । इसे हम इस रूप में भी कह सकते हैं कि सम्यक्त्व प्राप्ति, मोक्ष प्राप्ति की पूर्व भूमिका है । प्राथमिक कक्षा में सम्यक्त्व प्रप्ति रूप नामांकन से जीव भावी में मोक्ष प्राप्ति रूप सिद्धावस्था की उपाधि प्राप्त करता है; या इस तरह कहिए कि मोक्ष रूपी रस्सी का प्रथम सिरा (किनारा) सम्यक्त्व है, तो आगे बढ़ती हुई उसी रस्सी का अंतिम सिरा मोक्ष का है ।

मोक्ष रूपी सीढ़ी का प्रथम सोपान सम्यक्त्व है तो अंतिम सोपान मोक्ष है । अत: मोक्ष की मंजिल पाने वालों को सम्यक्त्व के प्रथम सोपान पर चढ़ने से ही अपनी मोक्षयात्रा प्रारंभ करनी पड़ती है । अत: ज्ञानी महापुरुषों ने कहा है कि - **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग : (१-१)** इस सूत्र में सम्यग्दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् चारित्र को मोक्ष मार्ग बताया है । इस मार्ग का प्रारंभ सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से होता है और अंत मोक्ष प्राप्ति से है । अत: सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र मिलकर मोक्ष का मार्ग बनता है ।

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एयमग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छंति सुग्गई ।।

(उत्तरा - ३)

ज्ञान-दर्शन-चारित्र, तप का सम्यग् मार्ग प्राप्त करके जीव मोक्ष रूपी सदगति प्राप्त करता है । ऐसा सम्यक्त्व प्रथम बार प्राप्त होते ही सबसे बड़ा लाभ यह है कि उस जीव का मोक्ष उसी समय निश्चित हो जाता है । ऐसा निश्चित हो जाता है कि यह जीव अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करेगा । इसमें कोई संदेह नहीं ; भले ही काल का अंतर हो । इसलिए सम्यक्त्व और मोक्ष मार्ग के बीच अविनाभाव (परस्पर-पूरक) सम्बंध जोड़कर यह कह सकते हैं कि जो-जो सम्यक्त्व पाएगा, वह मोक्ष में अवश्य जावेगा, तथा जो मोक्ष में जावेगा वह अवश्यमेव सम्यक्त्व प्राप्त किया हुआ होगा । यह सम्बंध ठीक वैसा ही है, जैसे दिन होगा तो सूर्य होगा ही, व सूर्य है तो वहां दिन अवश्यमेव होगा । इस कथन को हम इस रूप में कह सकते हैं कह सकते हैं कि दोनों एक दूसरे के साथ ही होते हैं ।

अत: सूर्य होने पर दिन और दिन होने पर सूर्य निश्चित ही होगा । ठीक इसी तरह सम्यक्त्वी को मोक्ष अवश्य होगा । और जिसे मोक्ष होगा वह सम्यक्त्वी निश्चित होगा । अत: सम्यक्त्व मोक्ष प्राप्ति का लाइसेंस या सर्टिफिकेट (प्रमाण) है ।

अब रहा प्रश्न बीच में सिर्फ काल (समय) का । सम्यक्त्व पाने के कि

तने समय बाद जीव मोक्ष पाएगा ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि -

अन्तोमुहुत्तमितं पि फासियं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं ।
तेसिं अवडढ् पुग्गल परियट्टो चेव संसारो ।।

(नवतत्त्व - ५३)

ऐसा सम्यक्त्व अंतर्मुहूर्त (दो-घड़ी = ४८ मिनिट) मात्र काल भी जिसे स्पर्श या प्राप्त हुआ हो, वह जीव अवश्य ही अर्धपुद्गल परावर्त परिमित काल में मोक्ष प्राप्त करता है; अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद अर्धपुद्गल परावर्तकाल ही संसार शेष रहता है । जब तक जीव ने सम्यक्त्व नहीं पाया था,तब तकजीव ने अनंत पुद्गल परावर्तकाल का संसार बिताया था । ऐसे अनंत के सामने अब मात्र अर्धपुद्गल परावर्तकाल ही शेष बचा है । यह कितने आनंद की बात है ? एक उत्सर्पिणी और एक अवसर्पिणी दोनों मिलकर एक कालचक्र बनता है, और अनंत कालचक्र का एक पुद्गलपरावर्त काल बनता है । ऐसे अनंत पुद्गल परावर्तकाल का संसार जीव ने सम्यक्त्व के अभाव में,मिथ्यादशा में बिताया है ।अब सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद वह काल अनंत न रहकर सिर्फ अर्धपुद्गलपरावर्त काल ही शेष रहा है ।

इसे ऐसे समझिये कि मानो एक लाख योजन ऊंचे सुमेरु का मात्र कुछ कंकड़ शेष रहता है । या अगाध महासमुद्र सूखकर एक लघु खड्डा पानी रह जाता है । वहां कुछ कंकड़ और एक लघु खड्डा पानी सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद शेष रहा, अल्पकाल को समझाने के लिए रूपक अर्थ में हैं, दृष्टांत रूप है ।

मानो, कोई मुसाफिर समुद्र में तैरकर यात्रा करता हो, वह वर्षों तक तैरते-तैरते थककर क्लांत हो चुका हो, और उसे किनारा सामने दिखाई देते ही, शेष रहे अल्प अंतर को देखकर वह जितना प्रसन्न होता है, उसी तरह संसार यात्रा का मुसाफिर, मिथ्यादृष्टि भव्य जीव, मिथ्यात्व के महासमुद्र में अनंत पुद्गल परावर्तकाल तक परिभ्रमण करके, थककर क्लांत होने पर तथाभव्यत्व के परिपक्व से यथाप्रवृत्तिकरण आदि तीनों करण ग्रंथि भेद से सम्यक्त्व प्राप्त करके, जब मोक्षमार्ग पर आकर सामने देखता है, तब समुद्र यात्री को किनारा दिखाई देने के समान, सम्यक्त्वी जीव को मोक्ष की क्षितिज सामने दिखाई देती है । इस अनंत दु:ख रूप संसार से मुक्त होकर अवश्य ही मैं मोक्ष में जाऊंगा । इस आभास मात्र से उसे कितना आनंद प्राप्त होता होगा? यह अकल्पनीय होकर अवर्णनीय है ।

इस तरह अनंत पुद्गलपरावर्तकाल की तुलना में शेष बचा हुआ मात्र अर्धपुद्गल परावर्तकाल का अन्तिम संसार सम्यक्त्वी जीव के लिए बहुत अल्पकाल अवधि है ।

अत: वह अनुपम आनंद एवं सुखानुभूति करता है । भले ही

अर्धपुद्गलपरावर्त काल में असंख्य भव भी हो, फिर भी सम्यक्त्वी जीव को अनुपम आनंद है, क्योंकि अनंत के सामने अब काल या भव की यह संख्या मात्र संख्यात् या असंख्यात् रूप में ही अवशिष्ट रही है। यह बड़ी खुशी की बात है क्योंकि भूतकाल में बीते हुए अनंत काल के सामने अवशेष या अवशिष्ट काल या भव की संख्या मात्र अनंतवें भाग ही शेष हैं,यह जानकर जीव को अत्यंत खुशी होती है। अत: आगामी अर्धपुद्गलपरावर्त काल में संख्यात् या असंख्यात् वर्ष या भव भी बिताने पड़े तो भी वे अनंत नहीं है, और मोक्ष निश्चित एवं सामने है, यह जानकर सम्यक्त्वी जीव का आनंद अद्भुत एवं अनुपम होता है। शास्त्रकार महर्षि यहां तक कहते हैं कि -

सम्मदिट्ठि जीवो, गच्छइ नियमा विमाणवासिसु ।
जइ न विगयसम्मत्तो, अहव न बद्धाउओ पुव्वि ।।
जं सक्कइ तं कीरइ, जं च न सक्कइ तयंभि सद्दहणा ।
सद्दहमाणो जीवो, वच्चइ अयरामरं ठाणं ।।

(धर्मसंग्रह - २- ३)

सम्यग्दृष्टि जीव ने यदि सम्यक्त्व प्राप्ति हे पहले, परभव का आयुष्य न बांधा हो और सम्यक्त्व का वपन न हुआ हो तो (अर्थात् सम्यक्त्वावस्था में यदि आयुष्य कर्म बांधे तो) निश्चित रूप से वैमानिक देवगति में ही जाता है। वैमानिक दैवगति यह अन्य सभी गति की अपेक्षा उच्च सुख की श्रेष्ठ गति है।

दूध में शक्कर या सोने में सुगंध मिलाने के समान, यदि सम्यग् दर्शन के साथ-साथ द्रव्य-क्षेत्र-काल व भाव आश्रययादि, जब जब जितना शुभ धर्मानुष्ठान करना शक्य (संभव) हो, उतना यदि साथ करता जाय, जिसमें विशेष ज्ञान, चारित्र, तपादि की साधना हो, उसे करता रहे, और अशक्य के प्रति यथा शक्ति करने की सद्हणा-श्रद्धा पूरी बनाए रखे, और सम्यक्त्पूर्वकआगे की साधना एवं भावना बनाये रखने वाला ऐसा श्रद्धावान् सम्यक्त्वी जीव अवश्य ही अल्पकाल या भवों में अजर-अमर पद मोक्ष को अवश्य ही प्राप्त करता है। यह सम्यक्त्व प्राप्ति का महाफल है।

सम्यक्त्व प्राप्ति से ही भव संख्या का निर्णय :-

शास्त्रों में ऐसा नियम बताया गया है कि जब से जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है तभी से उसके भवों की गणना की जाती है। जब जीव मोक्ष प्राप्त करता है, तब तक के भवों की गिनती की जाती है। तात्पर्य यह कि सम्यक्त्व प्राप्ति से मोक्ष गमन तक के भवों की गणना प्रधान रूप से होती है। यही गणना संभव है। लेकिन सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व का काल जो अनादि मिथ्यात्व का था, उस काल की गणना एवं उस मिथ्यात्व के काल में हूए भवों की गणना करना कदापि सम्भव नहीं

है। इसका कारण यह है कि अनादि मिथ्यादशा में काल भी अनंत बीता और भव भी अनंत बीते हैं। एक तरफ तो दोनों की संख्या अनंत की है और दूसरी तरफ से अनादि है। अत: ऐसे अनादि, अनंत संसार काल एवं भवों की संख्या में गणना क रना असंभव सा है। साथ ही निरर्थक भी है। इसलिए शास्त्र का यह नियम सही है किभवों की गणना सम्यक्त्व प्राप्ति से की जाती है, और मोक्षगमन तक के अंतिम भव तक के भवों की गणना की जाती है। इसी नियम के आधार पर चरम तीर्थंकर प्रभु महावीर स्वामी के २७ भवों का होना आगम मे वर्णित है, सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व-काल में भगवान महावीर की आत्मा भी अनंत पुद्गल परावर्तकाल के अनादि अनंत संसार में चार गति एवं पांच जाति के ४८ लाख जीव योनियों में परिभ्रमण क रती हुई, अनंत भव कर चुकी थी। ये अनंत भव (जन्म) अनादि मिथ्यात्व की कक्षा में हुए थे। अत: इनकी गणना व्यर्थ होने से नहीं की गई है। लेकिन सम्यक्त्व प्राप्ति से मोक्षगमन तक के भवों की गणना की गई है, वह २७ भवों की है।

भगवान महावीर की आत्मा ने प्रथम भव-नयसार के रूप में पूर्व में बताई हुई प्रक्रिया से सम्यक्त्व प्राप्त किया था। उन्होंने अधिगम मार्ग से साधु-मुनि महाराज के उपदेश से सम्यक्त्व पाया था।

नयसार हे रूप में प्रथम भव में जो सम्यक्त्व के बीज बोए गए थे, वे ही अंहुरित एवं पल्लवित होते हुए आगामी भवों में फलदायी बने। अत: २७ भव में वे मोक्ष में गए।

इसी तरह प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की आत्मा धनसार्थवाह के प्रथम भव में अधिगम विधि से धर्मघोष-सूरि आचार्य भगवान के दिए गए धर्मोपदेश श्रवण से सर्व प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त करती है। सम्यक्त्व प्राप्ति के कारण ही इसे प्रथम भव माना गया है। इसके बाद की संसार यात्रा में १३ भव करके वे ऋषभदेव प्रभु बनकर मोक्ष में गए। इस प्रकार सम्यक्त्व प्राप्ति से मोक्ष तक की उनकी भव संख्या १३ हैं।

मरुभूति के रूप में प्रथम जन्म में अधिगम भेद से गुरु उपदेश द्वारा सम्यक्त्व प्राप्त करके, भव भ्रमण को सीमित करते हुए, १० वें भव में भगवान पार्श्वनाथ बनकर मोक्ष में गए।

इस तरह व इसी नियम के आधार पर सभी तीर्थंकरों की एवं मोक्ष में गई अन्य सिद्ध आत्माओं की भव संख्या की गणना की जाती है। सम्यक्त्व की अनुपस्थिति में अर्थात् मिथ्यात्व के उदय में जितने भव बीतते हैं, उनकी गणना नहीं की जाती है। अत: इससे यह स्पष्ट होता है कि सम्यक्त्व कितना महत्वपूर्ण है, एवं सम्यक्त्व की प्राप्ति कितनी उपयोगी एवं अनिवार्य है। यह समझकर जैसे भी हो

सम्यक्त्व प्राप्त करना ही चाहिए ।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह सम्यक्त्व कैसा होता है ? इसका स्वरूप कैसा होता है ? सम्यक्त्व किसे कहते हैं ? सम्यक्त्व की व्याख्या क्या है ? सम्यक्त्व प्राप्ति की रीत एवं प्रक्रिया को हम पहले देख चुके हैं । अत: यहां पर सम्यक्त्व की व्याख्या एवं स्वरूप का विवेचन किया जाता है ।

सम्यक्त्व की व्याख्या एवं स्वरूप :-

तत्त्वार्थश्रद्धानंसम्यग्दर्शनं । तत्त्व+अर्थ=श्रद्धानं=सम्यग्दर्शन तत्वरूप जो पदार्थ हैं, उनकी दृढ़ श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं । तत्त्व जो जीवादि पदार्थ हैं उनकेयथार्थ स्वरूप की जानकारी एवं मानने की वास्तविक श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं । अर्थात् तत्त्वभूत जीवादि पदार्थों को परिणाम जन्य श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

जीवादि तत्त्व कौन से हैं ? यह बताने के लिए आगे के चौथे सूत्र में कहते हैं कि - १. जीव, २. अजीव, ३. पुण्य, ४. पाप, ५. आश्रव, ६. संवर, ७. बंध, ८. निर्जरा, ९. मोक्ष आदि नौ तत्त्व जानने जैसे हैं । समस्त जगत में ये ही मूलभूत नौ तत्त्व है । इनके अतिरिक्त संसार में किसी तत्त्व का अस्तित्व नहीं है । अत: तत्त्वोंकी संख्या न्यूनाधिक न रखते हुए निश्चित ही रखी गई है । इन्हीं तत्त्वों के साथ जुड़ने वाले भिन्न-भिन्न नामों से हम तत्त्वों का स्वरूप कुछ सदृश्य नामकरण से भी जान सकते हैं, जैसे - जीव (चेतन), अजीव (जड़), आत्मा-परमात्मा, कर्म, धर्म, पुण्य, पाप, स्वर्ग-नरक,लोक-अलोक, इहलोक-परलोक, पूर्वजन्म, पूनर्जन्म, आश्रव,संवर, बंध, क्षय, मोक्ष आदि मूलभूत मुख्य तत्त्व है । लोक व्यवहार के दृश्यमान पदार्थों को ही पदार्थ मात्र मानकर नहीं चलना है, परंतु ऐसे तत्त्वभूत, तात्त्विकपदार्थों को मानकर चलने से एवं उनकी यथार्थ श्रद्धा रखने को सम्यग्दर्शन कहते हैं । जैसा कि नवतत्त्वकार कहते हैं कि -

जीवाइ नव पयत्थे, जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्तं ।
भावेण सद्दहंतो, अयाणमाणेवि सम्मत्तं ।।

जीवादि नौ पदार्थों को जो सम्यग् रूप से जानता है, उसे सम्यक्त्वी कहते हैं । इन नौ तत्त्वों का ज्ञान तीर्थंकर प्ररुपित कथन (जिनवाणी) के अनुसार एवं अनुरूप यथार्थ ही होना चाहिए । उसी को श्रद्धारूप सम्यक्त्व कहते हैं । श्लोक की दूसरी पंक्ति में जो बात कही गई है, उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि ज्ञानावरणीय आदि कर्म के कारण यदि तत्त्वभूत पदार्थों का ज्ञान कोई विशेष कक्षा का न भी हो पाया हो, परंतु सद्गुरु योग से श्रवणादि द्वारा समझकर उन तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धा रखना भी सम्यक्त्व क

हलाता है; अर्थात् भाव से श्रद्धा रखता हुआ भी सम्यक्त्वी कहलाता है । इस तरह यहां पर तत्त्वभूत नौं पदार्थों का यथार्थ सम्यग् ज्ञान एवं उनकी भावपूर्वक दृढ़ श्रद्धा इन दोनों को सम्यक्त्व के जनक बताए हैं । इसी बात को उत्तराध्ययन सूत्र आगम के प्रस्तुत श्लोक से आधार मिलता है –

तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं ।
भावेण सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहिणं ।।

यथार्थ सत्य स्वरूप सम्यक्त्व :–

सम्यक्त्व की व्याख्या क रते हुए क हते हैं कि सम्यग् अर्थात् सही,सत्य,यथार्थ एवं वास्तविक आदि । तत्त्वभूत पदार्थ के वास्तविक सत्य को स्वीकारना ही सम्यक्त्व कहलाता है । अर्थात जगत् का कोई भी पदार्थ, अपने स्वरू प में जो जैसा है, उसे उसी स्वरूप में, ठीकवैसा ही मानना इसे सम्यक्त्व कहते हैं । **यद् यथा तद्तथैव इति श्रद्धा एवं ज्ञानं सम्यक्त्वं उच्यते।** अर्थात् जो तत्त्वभूत पदार्थ अपने स्वरूप में जैसा है उसे उसी स्वरूप में ठीकवैसा ही मानना एवं जानना सम्यक्त्व कहलाता है । इसी व्याख्या को चाहे सम्यक्त्व की व्याख्या कहो, चाहे सत्य की व्याख्या कहो–दोनों बात एक ही है, क्योंकि सत्य को ही सम्यक्त्व कहते हैं । ठीक इसके विपरीत मानना या जानना मिथ्यात्व क हा जाएगा । मिथ्यात्व असत्य एवं अज्ञान रूप होता है । जबकि सम्यक्त्व सत्य एवं सम्यग् ज्ञान रूप होता है । अत: सम्यक्त्व में सत्य का आग्रह होता है और यथार्थता एवं वास्तविकता की दृष्टि होती है जबकि मिथ्यात्व में ठीक इससे विपरीत असत्य का आग्रह होता है । साथ ही अज्ञानतावश कदाग्रह–दुराग्रह की वृत्ति होती है ।

अब प्रश्न यह उठता है किं ज्ञान का चरम सत्य स्वरूप कहां से प्राप्त किया जाय? प्रत्येक व्यक्ति अपनी बात को सच्ची ही कहता है, अत: किसे सत्य मानें ?

''मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना'' इस कथन के अनुसार –''जितने व्यक्ति उतनी मति''या ''जितने मुंह उतनी बात'' वाला ऐसा संसार का स्वरूप है । कोई भी व्यक्ति, मत, पंथ, गच्छ, समुदाय या धर्म अपनी बात को असत्य कहने को तैयार नहीं है । अत: किसे सत्य मानें ? और किसका मत सत्य मानें? यह हमारे सामने एक विकट प्रश्न है ।

एक ओर शास्त्र–सिद्धांत यह कहता है कि चरम सत्य का स्वरूप एक ही होता है । सत्य कभी भी दो रूपों में नहीं होता है । सत्य कभी भी अस्थिर या विनाशी, नाशवंत एवं क्षणिक नहीं होता है । सत्य तो सदा ही स्थिर, नित्य, ध्रुव, अविनाशी व शाश्वत होता है । ऐसे सत्य को कहां से प्राप्त करें ? हमें सत्य के सच्चे स्वरूप के

दर्शन कहां से होंगे? किसकी बात पर हम आँख मूंदकर पूर्ण विश्वास रखें ? किन की बात को पूर्ण सत्य मानें ? और यह समझें कि इसमें अंशभर भी असत्य की संभावना ही नहीं है। जिसमें अंशमात्र भी शंका न हो, ऐसी बात किसकी हो सकती है?

इसके उत्तर में कहते हैं कि - 'सच्चं खु भयवं' अर्थात् सत्य ही भगवान है। भगवान ही पूर्ण सत्य स्वरूप है और भगवान का कहा हुआ ही चरम सत्य है। इस सत्य और भगवान में अविनाभाव (एकात्म) सम्बंध है। तर्क बुद्धि से सोचने पर तर्क का आकार इस प्रकार का हो सकता है कि-जो जो सत्य है वह भगवान ने कहा है ? या जो-जो भगवान ने कहा है वह सत्य है ? या जितना सत्य है, उतना भगवान ने कहा है ? या जितना भगवानने कहा है उतना सत्य है? सत्य बड़ा है या भगवान ? भगवान से सत्य की उत्पत्ति हुई है या सत्य से भगवान की उत्पत्ति हुई है ? ऐसे कई प्रश्नों का सारांश यह है कि सत्य सर्वज्ञ कथित एवं सर्वज्ञोपदिष्ट है।

सर्व प्रथम भगवान के विषय में ही सही (सत्) निर्णय करलें ताकि सत्य का मूल आधार स्पष्ट हो जावे। इसे भी तर्क की कसौटी पर कस कर देखें -जो-जो सर्वज्ञ हैं वे भगवान हैं या जो जो भगवान हैं वे सर्वज्ञ हैं ? जो-जो, वीतरागी अरिहंत हैं वे भगवान हैं या जो-जो भगवान हैं वे वीतरागी अरिहंत हैं ? सत्य की इस कसौटी पर बात स्पष्ट दिखाई दे रही है कि जो-जो सर्वज्ञ, पूर्ण ज्ञानी, सम्पूर्ण ज्ञानी, अनंतज्ञानठ या केवलज्ञानी हैं, वे ही भगवान हैं। उन्हें ही भगवान हे रूप में स्वीक ारना चाहिये। यही सत्य है। लेकिन अपने मन से बन बैठे भगवान तो इस संसार में अनेक हैं। सभी सर्वज्ञ नहीं है। आज ी अल्पज्ञ, अज्ञानी, विपरीतज्ञानी भी भगवान बन बैठे हैं। अत: उन्हें भगवान कैसे मानें ? इसी तरह जो राग-द्वेष वाले हैं, काम- क्र ोधादि आत्म शत्रु रूप कर्म अरियों से युक्त हैं, ग्रस्त हैं उन्हें भगवान कैसे मानें। अत: जो अरिहंत वीतरागी हैं वे अवश्य भगवान कहे जा सकते हैं परंतु जो स्वयं अपने आप भगवान बन बैठे हो, जो रागद्वेष युक्त हो, जो काम-क्रोधादि दोषग्रस्त हो, जो भोग लीला, प्रधान जीवन जीने वाले हो, जो कंचन-कामिनी एवं वैभव-विलास वाले हो, उन्हें भगवान कैसे कहा जा सकता हैं ?

भगवान शब्द वाच्य १४ अर्थों में से किसी भिन्न अर्थ में या भिन्नार्थ में वे भले ही अपे आपको भगवान मानें या उन्हें कोई भगवान कहे, लेकिन वे सच्चे अर्थ में भगवान कहलाने योग्य नहीं हैं। अत: भगवान को पहचानने के लिए एवं उनकी परीक्षा के लिए सिर्फ दो ही शब्द पर्याप्त हैं - एक उनका वीतराग होना (२) सर्वज्ञ होना। जैसे सोने की परीक्षा कसौटी पर कस कर करते हैं ठीक इसी तरह 'वीतराग' व 'सर्वज्ञ' होने सम्बंधी इन दो शब्दों की कसौटी पर कसके भगवान के सच्चे स्वरूप को जान सकते हैं। यही बात निम्न श्लोक में कही गई है -

मोक्षमार्गस्य नेतारं, ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां ।
भेत्तारं कर्म भूभृतां, वंदेऽहं तद्गुणलब्धये।।

जो मोक्ष मार्ग के उपदेशक हों, जो समस्त विश्व के तत्वों हे ज्ञाता-सर्वज्ञ हों, तथा सर्वकर्मभूभृत अर्थात् कर्म के पहाड़ों को भेदने वाले विजेता अर्थात् वीतराग हो ऐसे भगवान के उन गुणों को प्राप्त करने के लिए, मैं उन्हें वंदन करता हूं । सोचिये ! इस स्तुति में भगवान हे गुण बताकर, उन्हें वंदन किया गया है । अत: इन गुणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे गुण वाले ही भगवान होते हैं । भगवान और इन सर्वज्ञता वीतरागतादि गुणों में परसर अविनाभाव एवं अन्योन्याभाव सम्बंध है । ये दोनों अन्योन्याश्रय हैं । राग-द्वेष सहित एवं सर्वज्ञता रहित स्वरूप को भगवान कभी नहीं कह सकते हैं । भगवान वीतरागता एवं सर्वज्ञता रहित नहीं हो सकते हैं । भगवान बनने के लिये ये गुण आवश्यक होते हैं । परंतु इन गुणों को प्राप्त किये बिना या इस अवस्था पर पहुँचे बिना ही यदि कोई रागी-द्वेषी, अल्पज्ञ, विपरीतज्ञ ही अपने आपको भगवान कहने लगे या राग-द्वेष,भोग-विलास करने वाले भी भगवान बन जावे अथवा उन्हें भगवान मानकर उनके अनुयायी बनकर यदि कोई उनके पीछे पागल होता है, तो समझिये कि- **'स्वयं नष्टा परान्नाशयति'** वे खुद भी नष्ट हो चुके हैं और अन्यों को भी नाश करेंगे । **'विनाश काले विपरीत बुद्धि'** की तरह नाश-विनाश काल में उनकी मति विपरीत हुई कि उन्होंने रागी-द्वेषी-भोग विलास वाले अल्पज्ञ को भगवान माना । वे स्वयं तो असत्य मिथ्यात्व एवं अज्ञान के खड्डे में गिरे ही लेकिन अपने कदाग्रह-दुराग्रह केखड्डे में दूसरों को भी गिराया, फंसाया इस तरह 'स्वयं नष्टा परान्नाशयति' जैसी परिस्थिति निमार्ण कर दी ।

अत: सम्यक्त्व का मुख्य आधार जो भगवान पर है उन्हें सर्वप्रथम सर्वज्ञ, वीतरागी अवस्था वाले को ही भगवान मानना अनिवार्य है और ऐसे सर्वज्ञ वीतरागी को ही भगवान मानना ही शुद्ध सच्चा सम्यक्त्व कहलाएगा ।

'आप्तस्तु यथार्थवक्ता' इस सूत्र से पूज्य तार्कि क शिरोमणि वादिदेवसूरी महाराज ने 'प्रमाणनय तत्त्वालोक' ग्रंथ में यथार्थ वक्ता को ही आप्त महापुरुष कहा है । लौकिक आप्त पुरुष जो संसार के व्यवहार में जबकि इनसे श्रेष्ठ सर्वोच्च कक्षा के लोकोत्तर आप्त महापुरुष जो वीतरागी सर्वज्ञ हैं, उनके वचन में सर्वोच्च रखना ही सम्यक् श्रद्धा है ।

इस तरह स्पष्ट सत्य स्वरूप ऐसा है कि जो जो वीतरागी होते हैं वे ही भगवान होते हैं , परंतु अल्पज्ञ रागी-द्वेषी, भोग-लीला वाले भगवान नहीं कहलाते हैं । इसलिये वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा (भगवान) ने जो-जो कहा है वही सत्य है और वास्तव में जो सत्य है और वास्तव में जो सत्य है उसे परमात्मा ने ही कहा है, क्योंकि

वीतरागता के गुण के कारण, राग-द्वेष, काम क्रोधादि करणों का परिहार हो जाने के कारण अब असत्य बोलने या कहने का उनके पास कोई कारण ही शेष नहीं बचा है। क्रोध-लोभ-भय, हास्यादि ये ही असत्य बोलने के प्रमुख कारण हैं जबकि सर्वज्ञ वीतरागी भगवान जो - **'अष्टादश दोष वर्जितो जिन:'** अठारह दोष या सर्व दोष रहित जिन भगवान कहलाते हैं उनमें काम, क्रोध, लोभ, भय, हास्यादि किसी भी दोष की जब संभावना ही नहीं है तो फिर वे असत्य क्यों व किस कारण बोलेंगे ? हमारे सामने तो काम, क्रोध, लोभ, भय, हास्यादि अनेक कारण उपस्थित रहते हैं, इसलिये हम असत्य बोलते रहते हैं । परंतु वीतराग परमात्मा जो सर्व दोष रहित है, जिनमें उपरोक्त दोषभूत क्रोध, लोभ, भय व हास्यादि कारण ही नहीं है तो वे असत्य बोल ही कैसे सकते हैं ? कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? ऐसा सर्वथा असंभव ही है । अत: यह स्वीकारना निर्विवाद है किजो-जो भगवान ने कहा है वह पूर्ण सत्य है । साथ ही जो-जो सत्य है वह भगवान ने ही कहा है ।

सर्वज्ञ वीतरागी भगवान के सिवाय सत्य का चरमस्वरूप बताने वाला जगत में और कोई है ही नहीं । जैसे सूर्य के कारण दिन और दिन के कारण सूर्य, अन्योन्याश्रित कारण रूप हैं, ठीक वैसे ही भगवान के कारण सत्य और सत्य के कारण भगवान ये भी अन्योन्याश्रित कारण रूप होने से दोनों ही जन्य-जनक कारण रूप हैं । सत्य का कारण भगवान और भगवान का कारण सत्य । इसलिए जो सर्वज्ञ वीतरागी भगवान हैं, वे ही चरम सत्य का स्वरूप बता सकते हैं । इसलिए आगम शास्त्र में सम्यक्त्व की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है कि - **'जं जं जिणेहिं भासियाइं तमेव नि:संकं सच्चं ।'- तमेव सच्चं नि:संकं जं जिणेहिं पवेइयं ।''** जो-जो सर्वज्ञ जिनेश्वर भगवान ने कहा है वही शंका रहित सत्य है, ऐसा मानना स्वीकारना ही सम्यक्त्व है । सर्वज्ञ जो अनंतज्ञानी हैं , जिन्होंने समस्त लोक- अलोक रूप सारा संसार जाना है, देखा है । अनंत पदार्थो के अनंत गुण-पर्यायों का सम्पूर्ण ज्ञान जिन्हें है, वे जो तत्त्व का स्वरूप प्रतिपादित कर गये हैं, वही चरम सत्य है व भविष्य में भी होगा । अत: ऐसे चरम सत्य रूप तत्त्वार्थ पदार्थ में जो पदार्थ जैसा है उसे उसी रूप में, वैसा ही देखना, जानना एवं मानना, उसमें अंश मात्र भी शंका न रखना, यही सम्यक्त्व की उत्तम व्याख्या है । जिनेश्वर प्रतिपादित तत्त्व में यथार्थ बुद्धि रखनी, वास्तविक सच्चे ज्ञान के प्रति श्रद्धा रखनी, यही सम्यक्त्व है । इससे बढ़कर श्रेष्ठतम व्याख्या क्या हो सकती है ? इस प्रकार सम्यक्त्वी सत्य का पक्षपाती, सत्य का आग्रही एवं सत्यान्वेषी होता है । वह प्रत्येक वस्तु एवं तत्त्वभूत पदार्थ को यथार्थ, वास्तविक स्वरूप में देखता, जानता व मानता है । ऐसे सम्यक्त्वी की दृष्टि भी सम्यक् (सच्ची), ज्ञान जानकारी सम्यक्(सच्चा), और उभय रूप से मानना श्रद्धा भी सम्यग् (सच्ची) होती

अत: वह सच्चा सम्यक्त्वी होता है।

अत: देखने, जानने और मानने की तीन रीतियों से जिसने अपनी वृत्ति सम्यक् बनाई है वह सच्चा सम्यक्त्वी है। ऐसा सम्यक्त्वी जो सम्यग् ज्ञानी है, जो प्ररूपणा प्रतिपादन करेगा, उसमें भी सत्य, पानी पर तैल की तरह तैरता हुआ, स्पष्ट दिखाई देता है, सम्यक्त्वी का सम्यग्ज्ञान और सम्यक् श्रद्धा किसी से छिपी नहीं रह सकती है। वह जीवादि सभी तत्त्वों को तथा देव-गुरु-धर्मादि के स्वरूप को उसी अर्थ एवं स्वरूप में देखेगा, जानेगा व मानेगा, जिस स्वरूप में जीवादि तत्त्व या देव-गुरु-धर्मादि हैं। तत्त्व पदार्थ के यथार्थ वास्तविक स्वरूप से सम्यक्त्वी के देखने, जानने मानने एवं कहने में विसंगतता एवं विषमता कभी भी नहीं आयेगी। हमेशा सुसंगतता एवं सुसंवादिता ही रहेगी, क्योंकि तत्त्व पदार्थ का जैसा वास्तव में स्वरूप है, उसे सम्यक्त्वी तनिक भी परिवर्तन किए बिना वैसा यथार्थ ही मानता है, जानता है और देखता है। अत: कथन भी वैसा यथार्थ वास्तविक ही करेगा। विपरीत प्ररूपणा मिथ्यात्वी कर सकता है, सम्यक्त्वी कदापि नहीं कर सकता है।

देव-गुरु-धर्म का सही स्वरूप :-

या देवे देवता बुद्धिः गुरौ च गुरुतामतिः।
धर्मे धर्म धीर्यस्य सम्यक्त्वं तदुदीरितम्॥

वास्तव में जो देव-देवाधिदेव भगवान है, उनमें ही भगवानपने की, देवपने की बुद्धि रखे तथा वास्तव में सही अर्थ में जो कंचन-कामिनी के त्यागी, पंच महाव्रत धारी, संसार के त्यागी साधु-मुनि महात्मा है, उनमें ही गुरुपने की बुद्धि रखें तथा जो सर्वज्ञ कथिक (सर्वज्ञोपदिष्ट) धर्म है, उसमें ही धर्म बुद्धि रखें उसे सम्यक्त्व कहते हैं।

भगवान का जो सर्वज्ञ-वीतरागी स्वरूप जो पहले कहा जा चुका है, उसी में भगवानपने की सम्यग् बुद्धि रखनी, उसी तरह गुरु से भी जो सच्चे गुरु हैं उनमें ही गुरुपने की यथार्थ सम्यग् बुद्धि रखनी, अर्थात जो सर्वज्ञ, वीतरागी भगवान के बताये हुए मार्ग पर चलते हैं, उन्हें ही गुरुबुद्धि से गुरुपने के रूप में मानना यही सच्ची सम्यक्त्वी मान्यता है। ठीक इसी तरह धर्म भी कौनसा ? और कैसा मानें ? इस विषय में भी मात्र ऐसे लोकोत्तर आप्त महापुरुष जो सर्वज्ञ वीतरागी भगवान हैं, उन्हीं के द्वारा कहे गये सर्वज्ञोपदिष्ट मार्ग को धर्म मानना। इसी में सम्यक्त्व है।

इस तरह सम्यक्त्व की समझ-सम्पूर्ण दृष्टि, वृत्ति आदि सत्य की तरफ होती है। वह प्रत्येक बात में सत्य स्वरूप को ही जानने, देखने, मानने का आग्रह रखता है। अत: सम्यक्त्वी, सत्यान्वेषी, सत्य का आग्रही होता है। ऐसे सम्यक्त्व में जीवादि जो तत्व हैं, उन्हें भी उसी रूप-स्वरूप में मानना-स्वीकारना होता है।

ऐसा नहीं होता कि पदार्थ का स्वरूप कुछ और ही है और उसे जानने में हम कुछ और ही जान रहे हैं या विपरीत जान रहे हैं । तो वह सम्यक्त्व न होकर मिथ्यास्वरूप होगा ।

भ्रम मूलक व्याख्या और अर्थ :-

संसार में ऐसे कई मिथ्यामति जीव हैं जो अपने बुद्धिबल एवं कुतर्क तथा कुयुक्तियों के आधार पर संसार के मूलभूत जो सही तत्वादि पदार्थ हैं उनको अपने ढंग से, अपनी पद्धति की व्याख्या से समझाते हैं । तत्वों के नाम तो वे ही रखेंगे । जीव, अजीव, पुण्य-पाप-मोक्ष आदि नाम तो वही होंगे परंतु अर्थ एवं व्याख्या अपने ढंग की मनमानी तरीके से करेंगे । जैसे आत्मा के बारे में कई कहते हैं - 'देहात्मा' अर्थात् वे देह और आत्मा को एक ही मानते हैं । उनके अनुसार देह ही आत्मा है । वे यह मानने को कदापि तैयार नहीं होते हैं कि आत्मा शरीर से अलग है । आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व है । इसी प्रकार संसार में कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं, जो इन्द्रियों को ही आत्मा मानते हैं । कोई-कोई ऐसे भी हैं जो मन को ही आत्मा मानते हैं । कोई प्राण को आत्मा मानते हैं । कोई बह्म को आत्मा मानते हैं । वे अन्य जीव में आत्मा नहीं मानते ।

संसार में कोई कहते हैं कि एक ही आत्मा है । दूसरे कहते हैं कि आत्मा नाम की कोई वस्तु है ही नहीं । कुछ आत्मा मानकर, उसे क्षणिक विनाशी मानते हैं । तो कोई उसे कूटस्थ, नित्य, एकान्त, नित्य या एकान्त-अनित्य ही मानते हैं । लेकिन **'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त्'** यथार्थ स्वरूप में नहीं मानते हैं । कोई आत्मा को भी जड़ रूप में मानते हैं । तो कोई आत्मा को भी पंच महाभूत जन्य मानते हैं -पृथ्वी, पानी अग्नि, वायु, आकाश आदि पंच महाभूतों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुई, आत्मा को मानते हैं । तो कोई Chemical Compound याने रासायनिकप्रक्रिया से उत्पन्न हुई आत्मा मानते हैं । तो कोई आत्मा को अनादि, अनंत, असंख्य प्रदेशी नहीं मानते हैं । तो कोई आत्मा को ज्ञान-दर्शनादि गुणवान् नहीं मानते हैं । तो कोई ऐसे भी हैं जो आत्मा को शून्य रूप मानते हैं । कुछ कहते हैं, आत्मा है ही नहीं । तो कोई आत्मा शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाते हैं । इस तरह यह तो केवल आत्मा के बारे में विवाद या मतमतांतर की बात हुई । एक आत्मा तत्व के बारे में लोगों की सैकड़ों तरह की भिन्न-भिन्न मान्यतांए हैं । ठीक इसी तरह आत्मा, परमात्मा, जीव, अजीव, पुण्य-पाप, सुख-दुःख, धर्म-कर्म, स्वर्ग-नरक, लोक-परलोक, इहलोक अलोक, पूर्वजन्म-पूनर्जन्म, आश्रव-संवर, बंध-मोक्षादि अनेक तत्वों केविषय में जो यथार्थ वास्तविक स्वरूप एवं अर्थ है, वैसा न मानते हुए, न कहते हुए, वे अपनी

मन घडंत व्याख्या एवं अर्थ करके जगत के भोले-भाले जीवों को माछीमार की तरह अपने जाल में फंसाते हैं। अपने पक्ष में या मत में खींचते हैं। यह सारी स्थिति मिथ्यादशारूपी-मिथ्यात्व की प्रवृत्ति है। इससे कई कोरी-स्लेट या कोरे कागज जैसे जीव भ्रमवश मार्ग-भ्रष्ट हो जाते हैं। वे अज्ञान मूलक मिथ्यात्व की दशा में चले जाते हैं। परिणामस्वरूप सच्चे सम्यग् ज्ञान से वंचित रह जाते हैं। इसलिये - **'तमेव सच्चं निः संकं जं जिणेहिं पवेइयं।'** की व्याख्या अवश्य स्वीकारनी चाहिये। 'वही सत्य, निःशंक (शंका रहित) है जो सर्वज्ञ वीतरागी जिनश्वर भगवान ने प्रतिपादित किया है।' जो सर्वथा सत्य है उसी पर श्रद्धा रखनी चाहिए। इसीको सच्ची सम्यग् श्रद्धा मानेंगे। इसी आधार पर आत्मा से मोक्ष तक के सभी तत्त्वों का ज्ञान भी सम्यग् ही करना चाहिये। सोने में सुगंध की तरह ज्ञान और श्रद्धा (दर्शन व ज्ञान) सम्यग् होने पर यदि आचरण याने चारित्र भी सम्यग् बन जाय, चारित्र इनके साथ मिल जावे तो, इस तरह दर्शन-ज्ञान व चारित्र तीनों सम्यग्रूप से इकट्ठे हो जाएं तो वह मोक्ष मार्ग बन जाता है। इसीलिए कहा है - **'सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।'** ऐसे मोक्षमार्ग को प्राप्त करके जीव मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार मोक्ष की प्राप्ति में सम्यक्त्व की सर्वप्रथम आवश्यकता होती है। इस प्रकार के सम्यक्त्व को समझने के लिए शास्त्रकार महर्षियों ने सम्यक्त्व को अनेक प्रकार से दर्शाया है।

सम्यक्त्व के विविध प्रकार :-

एगविहं दुविह तिविहं, चउहा पंचविह दसविहं सम्मं।
दव्वाइ कारयाई, उवसमभेएहिं वा सम्मं ॥
एगविहं सम्मरूई, निसग्गहिगमेहि भवे तयं दुविहं।
तिविहं तं खइआई, अहवावि हु कारगाइअं ॥
खइगाई सासणजुअं, चउहा वेअग जुअं तु पंचविहं।
तं मिच्छचरमपुग्गल - वेअणओ दसविहं एअं ॥

प्रवचन सारोद्धार ग्रंथ में सम्यक्त्व को विविध प्रकारों से समझाने के लिए संख्या के आधार पर कई प्रकार बनाकर बताए है, जिसमें एक प्रकार से, दो प्रकार से, तीन भेद सें, चार भेद से, पांच भेद से और दस भेद से, इस तरह विविध प्रकारों से सम्यक्त्व का स्वरूप समझाया गया है। अतः इनका क्रमशः विचार करना लाभदायक होगा।

(१) एक प्रकार से सम्यक्त्व - **'एगविहं सम्मरुई'** सम्यक्त्व रूचि को एक प्रकार का सम्यक्त्व कहते हैं या **'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं** तत्त्वार्थ में श्रद्धा

रखना।

(२) दो प्रकार से सम्यक्त्व भिन्न-भिन्न तरीकों से अलग-अलग रूप से होता है।

(अ) दो प्रकार के सम्यक्त्व

निसर्ग सम्यक्त्व अधिगम सम्यक्त्व

(ब) दो प्रकार के सम्यक्त्व

निश्चय सम्यक्त्व व्यवहार सम्यक्त्व

(स) दो प्रकार के सम्यक्त्व

द्रव्य सम्यक्त्व भाव सम्यक्त्व

(द) दो प्रकार के सम्यक्त्व

पौद्गलिक सम्यक्त्व अपौद्गलिक सम्यक्त्व

इस तरह चार प्रकार (अ,ब,स,द) से दो प्रकार के भेद किये गये हैं।

(३) (अ) तीन प्रकार से सम्यक्त्व

कारक सम्यक्त्व दीपक सम्यक्त्व

(ब) तीन प्रकार से सम्यक्त्व

औपशमिक सम्यक्त्व क्षायेपशमिक सम्यक्त्व क्षायिक सम्यक्त्व

चार प्रकार के सम्यक्त्व

औपशमिक सम्यक्त्व | क्षायोपशमिक सम्यक्त्व | क्षायिक सम्यक्त्व | सास्वादन सम्यक्त्व

पांच प्रकार से सम्यक्त्व

औपशमिक सम्यक्त्व | क्षायोपशमिक सम्यक्त्व | क्षायिक सम्यक्त्व | सास्वादन सम्यक्त्व | वेदक सम्यक्त्व

दस प्रकार से सम्यक्त्व

निसर्गरुचि | उपदेशरुचि | आज्ञारुचि | सूत्ररुचि | बीजरुचि
अधिगमरुचि | विस्ताररुचि | क्रियारुचि | संक्षेपरुचि | धर्मरुचि

इस तरह भिन्न-भिन्न तरीकों से सम्यक्त्व का स्वरूप समझने के लिए संख्या निमित्तक भेद बताये हैं, इनका स्वरूप संक्षिप्त रूपसे समझने के लिए कुछ विचार करना यहां आवश्यक है।

(१) एक प्रकार से - **जिनोक्त तत्त्वेषु रूचिः शुद्ध सम्यक्त्वमुच्यते।**

सर्वज्ञ वीतरागी जिनेश्वर भगवंतो ने बताए हुए, जीव-अजीवादि तत्त्वों में अज्ञान, शंका, भ्रम एवं मिथ्याज्ञानादि रहित निर्मल रुचि अर्थात् श्रद्धा रूप आत्म परिणाम विशेष को सम्यक्त्व कहते हैं। जिन कथित तत्त्वों में यथार्थपने की बुद्धि या वास्तविक श्रद्धारूप भाव या तथापि शुद्ध तत्त्वों की श्रद्धा (तत्त्वार्थ श्रद्धानं) को बिना

किसी भेद के एक प्रकार का शुद्ध सम्यक्त्व कहते हैं।

२. **(अ) निसर्ग और अधिगम** इन दो तरीकों से जो सम्यक्त्व उपार्जन किया जाता है, उसे इन दो प्रकार में गिना गया है।

२. (ब)(१) निश्चय सम्यक्त्व :-

निच्छयओ सम्मत्तं, नाणाइमयप्प शुद्धं परिणामो ।
इयरं पुणं तुह समये, भणियं सम्मतं हेउहिं ।।

ज्ञान-दर्शन-चारित्रमय आत्मा का जो शुद्ध परिणाम अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों की एकता रूप जो आत्म परिणाम विशेष होता है उसे ही निश्चय नय की दृष्टि से सम्यक्त्व कहते हैं। आत्मा और आत्मा के ज्ञान-दर्शनादि गुण भिन्न-भिन्न नही हैं, परंतु अभेद भाव से एक ही है। अभेद परिणाम से परिणत आत्मा तद्गुण रूप कहलाती है। जैसा जाना वैसा ही माना, त्याग भाव हो और श्रद्धा भी तद्नुरूप हो ऐसे उपयोगी की आत्मा वही ज्ञान, वही दर्शन, वही चारित्र रूप है। ऐसी रत्नत्रयात्मक आत्मा, अभेद भावसे देह में रही हुई है। रत्नत्रयी के शुद्ध उपयोग में वर्तती हुई आत्मा ही निश्चय सम्यक्त्व कहलाती है। ऐसा निश्चय सम्यक्त्व सातवें अप्रमत्त गुणस्थानक के पूर्व कहीं नहीं होता है।

२. (ब)(२) व्यवहार सम्यक्त्व :-

उपरोक्त निश्चय सम्यक्त्व में हेतुभूत सम्यक्त्व के ६७ भेदों का ज्ञान, श्रद्धा व क्रिया रूप से यथाशक्ति पालन करने को व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं। मुनिदर्शन, जिनभक्ति महोत्सव, जिन दर्शन पूजन, तीर्थयात्रा, रथयात्रा आदि शुद्ध हेतुओं से उत्पन्न होते श्रद्धारूप सम्यक्त्व को व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं। ये हेतु सहायक निमित्त है।

२. (क)(१) द्रव्य सम्यक्त्व -

जिनेश्वर कथित तत्त्वोंमें जीव की सामान्य रूचि को द्रव्य सम्यक्त्व कहते हैं, अर्थात् सर्वज्ञोपदिष्ट जीवादि तत्त्वों में परमार्थ जाने बिना ही वे ही सत्य है 'ऐसी श्रद्धा' रखने वाले जीवों के सम्यक्त्व को द्रव्य सम्यक्त्व कहते हैं।

२. (क)(२)भाव सम्यक्त्व :-

उपरोक्त सामान्य श्रद्धा रूप जो द्रव्य सम्यक्त्व है उसी में विशेष बुद्धि से जानना अर्थात् सर्वज्ञोपदिष्ट जीव-अजीव, मोक्षादि तत्त्वों को जानने के उपाय रूप, नय, निक्षेप, स्याद्वाद, प्रमाण आदि शैली पूर्वक सभी तत्त्वभूत पदार्थों को विशेष ज्ञान से परमार्थ जानने वाले की श्रद्धारूप सम्यक्त्व को भाव सम्यक्त्व कहते हैं। संक्षेप में सामान्य रुचि यह द्रव्य सम्यक्त्व है। यहां पर द्रव्य कारण है और भाव कार्य है। इसलिये भाव सम्यक्त्व के कारण रूप द्रव्य सम्यक्त्व कहा गया है और इसका

विशेष रूप से विस्तार रूचि भाव सम्यक्त्व है ।

२. (उ)(१) पौद्‌गलिक सम्यक्त्व :-

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के पुद्‌गल परमाणु के उपशम या क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले सम्यक्त्व को पौद्‌गलिक सम्यक्त्व कहा गया है । इसमें इन पुद्‌गलों का उपशम क्षयोपशम प्रधान रूप से होता है । ऐसे क्षायापशमिक, वेदक, सास्वादन, मिश्र प्रकार के सम्यक्त्व पौद्‌गलिक सम्यक्त्व में गिने जाते हैं, जबकि क्षायिकऔर औपशमिक सम्यक्त्व ये दोनों आत्मा के घर के होने से अपौद्‌गलिक विभाग में गिने जाते हैं । अत: इन्हें ''अपौद्‌गलिक सम्यक्त्व'' कहते हैं ।

त्रिधा सम्यक्त्व :-

१. कारक सम्यक्त्व -

सर्वज्ञ भगवान ने जैसा 'अनुष्ठान-मार्ग' या चारित्र क्रिया रूप जो मार्ग प्रतिपादित किया है उस मार्ग पर चलने वाले शुद्ध क्रियाशील जीव के श्रद्धाभाव की कारक सम्यक्त्व करते हैं, अर्थात् सूत्रानुसारिणी शुद्ध क्रिया कारक सम्यक्त्व के रूप में है । ऐसी क्रिया से स्व आत्मा को और देखने वाली पर आत्मा को भी सम्यक्त्व प्राप्त होता है । अत: यथार्थ तत्व श्रद्धान् पूर्वक आगमोक्त शैली अनुसार तप-जप-व्रतादि क्रिया करने वाले विशुद्ध चारित्रवान् इस कारक सम्यक्त्व का अधिकारी है ।

(२) रोचक सम्यक्त्व -

सर्वज्ञ-वीतरागी भगवान के वचन में पूर्ण श्रद्धा रखे, उसमें पूर्ण रुचि भी ही एवं जिनोक्त धर्म की तप-जप-विधि-क्रिया आदि करने की तीव्र रुचि हो, परंतु बहुत कर्मी जीव होने के कारण वैसी क्रियाएं कर न सके, परंतु रुचि रूप जो श्रद्धा रहती है, उस सम्यग् क्रिया के रुचि रूप भाव को रोचक सम्यक्त्व कहते हैं । लेकिन इसमें प्रवृत्ति वैसी नहीं कर पाता है । ऐसा रोचक सम्यक्त्व अविरत सम्यग् दृष्टि नामक चौथे गुणस्थानक वाले को होता है । जैसे - श्रेणिक महाराजा आदि को था ।

(३) दीपक सम्यक्त्व -

स्वयं मिथ्यादृष्टि या अभवी जीव हो, फिर भी अपनी उपदेश शक्ति द्वारा अन्य जीवों को सम्यक्त्व भाव उत्पन्न कराने में निमित्त बनता हैं, दूसरों की यथार्थ श्रद्धा की रुचि जगाने में सहायक बनता है, तथा अन्य जीवों पर जीवाजीवादि तत्वों को समझाते हुए, यथार्थ प्रकाश डाल सके, ऐसे मिथ्यात्वी या अभवी जीवों का सम्यक्त्व दीपकसम्यक्त्व कहलाता है । जिस तरह स्वयं दीपक के तले अंधेरा होता है और वह दूर तक प्रकाश पहुँचा कर वस्तुओं को प्रदर्शित करता है, ठीक उसी तरह का कार्य मिथ्यात्वी अभवी जीव करते हैं । अर्थात् वे खुद सम्यक्त्वी न होते हुए

भी, स्वयं मिथ्यात्वी होते हुए भी अपनी बुद्धि शक्ति एवं उपदेश से अन्य भव्य जीवों में सम्यक्त्व जगा सकते हैं। यहां पर व्यवहार नय के कार्य कारण भाव का अभेद मानकर मिथ्यात्वी अभव्य जीवों में उपदेश प्रधान होने से दीपक रूप सम्यक्त्वी क हलाते हैं। वस्तुत: वे मिथ्यात्वी हैं या अभवी ? जैसे अंगारमर्दकाचार्य स्वयं अभव्य जीव होते हुए भी उपदेशक रूप से ऐसे दीपक सम्यक्त्वी कहे जाते थे।

३-४-५ प्रकार के सम्यक्त्व में मात्र थोड़ा सा ही अंतर है। तीसरे प्रकार के सम्यक्त्व में मात्र चौथा सास्वादन मिलाने से चौथा प्रकार होता हैं, और चौथे प्रका र के सम्यक्त्व में पांचवा वेदक सम्यक्त्व मिलाने से पांचवा प्रकार बनता है। इस तरह **१. क्षायिक २. क्षायोपशमिक ३. औपशमिक ४. सास्वादन सम्यक्त्व ५. वेदक** आदि पांच प्रकार के सम्यक्त्व बताए गए हैं।

१. क्षायिक सम्यक्त्व :-

खीणे दंसणमोहे, तिविहंमि वि भवनिआण भूअंमि ।
निपच्चवायमउलं सम्मतं खाइयं होइ ।।

मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय तीनों प्रकार के दर्शन मोहनीय कर्म का सम्पूर्ण रूप से क्षय और साथ ही अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया लोभ चारों कषाय। इस तरह कुल सातों कर्म प्रकृतियों के दर्शन सप्तक का सम्पूर्ण रूप से सर्वथा क्षय हो जाने पर प्राप्त होता हुआ, स्वाभाविक तत्त्वरुचि रूप सम्यक्त्व आत्म परिणाम विशेष को क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। चूंकि यह सर्वथा क्षय से उत्पन्न होता है, इसलिए इसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। यह क्षायिक सम्यक्त्व अप्रतिपाती हैं। अर्थात् उत्पन्न होने के बाद कभी भी नष्ट न होता हुआ अनंतकाल तक रहता है। अत: इसे आदि अनंत भी कहते हैं। क्षायिक भाव से उत्पन्न होने वाला यह सम्यक्त्व क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है।

(२) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व :-

मिच्छतं जमुइन्नं, तं खीणं अणुइययं च उवसंतं ।
मीसीभाव परिणयं, वेइज्जंतं खओवसमं ।।

क्षय + उपशम = क्षयोपशम। क्षयोपशमत्व भाव क्षायोपशमिक अर्थात् उदय में आये हुए मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के दलिकों का सर्वथा मूल सत्ता में से क्षय करना और उदय में नहीं आये हुए मिथ्यात्व मोहनीय कर्म दलिकों का दबा देने रूप उपशमन कर रखना। ऐसे क्षय और उपशम भाव से, क्षय के साथ उपशम रूप क्षायोपशम भाव से जो सम्यक्त्व प्राप्त होता है,उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं

३. औपशमिक सम्यक्त्व :-

मिथ्यात्व मोहनीय और अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ इन कर्म

प्रकृति की अनुदय अवस्था अर्थात् उपशम होने से जो सम्यक्त्व प्राप्त होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। पूर्व में जिनका काफी विवेचन किया गया है ऐसे यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण तथा अंत:करण आदि करणों के द्वारा अनादि मिथ्या दृष्टि जीव को अपूर्वकरण से निबिड़ राग-द्वेष की ग्रंथि का भेदन करने पर अनिवृत्तिकरण के अंत में जो सम्यक्त्व प्राप्त होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इसका काल अंतर्मुहूर्त परिणाम होता है। चारों ही गति में पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को तीनों करण एवं ग्रंथि भेद आदि से यह सम्यक्त्व प्रकट होता है तथा उपशम श्रेणि में चढ़ते हुए जीवों को होता है।

४. सास्वादन सम्यक्त्व:-

स+आस्वादन = सास्वादन :-'आस्वादेन सह वर्तते इति सास्वादनं' अर्थात् कुछ स्वाद-आस्वादन के साथ रहे उसे सास्वादन कहते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व के चौथे गुण स्थानक से पतित होते हुए, सास्वादन नामक दूसरे गुण स्थानक पर जो सम्यक्त्व का आस्वादन मात्र रहता है, उसे सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं। औपशमिक सम्यक्त्ववंत कोई सम्यक्त्वी जीव अंत:करण के अंत में जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छ: आवलिका का समय शेष रहने पर, अनंतानुबंधी कषाय का उदय होने पर, सम्यक्त्व से पतित होता हुआ अर्थात् सम्यक्त्व का वमन करने से जब गिरता है, तब कुछ सम्यक्त्व का स्वाद मात्र अंश शेष रहता है। उसे सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं।

जैसे कोई पाक- दूध, रबड़ी का भोजन करता है और तुरंत भोजन का वमन होने पर जो आंशिक स्वाद रहता है, ठीक वैसे ही उपशम सम्यक्त्व के वमन होने पर, जो कुछ स्वाद रूप अंश रहता है - उसे सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं। उपशम सम्यक्त्व से गिरते समय मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के बीच का काल ६ आवलिका प्रमाण सास्वादन सम्यक्त्व होता है।

५. वेदक सम्यक्त्व :-

क्षपक श्रेणि को प्राप्त करने वाले क्षायिक सम्यक्तवी जीव को अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चारों कषाय एवं मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय के पुंज इन ६ के सम्पूर्ण क्षय होने के बाद सम्यक्त्व मोहनीय के शुद्ध पुंज का क्षय करते समय जब सम्यक्त्व मोहनीय के अन्तिम पुद्गल का क्षय करने का अवसर आता है, तब अन्तिम ग्रास का जो वेदन हो रहा हो उस समय केसम्यक्त्व को वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। इसके बाद अर्थात् अन्तिम ग्रास के क्षय होने पर दर्शन सप्तक का सम्पूर्ण अंत या क्षय होने से अंतर समय में जीव क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

जीवसमासवृत्ति में मलधारी हेमचन्द्रसूरि म. ने लिखा है कि -'वेद्यते - अनुभूयते शुद्ध सम्यक्त्व पुंज पुद्गल अस्मिन्नीति, वेदकं।'अर्थात् शुद्ध सम्यक्त्व के पुद्गल पुंज जिसमें वेदन अनुभव होता है, उसे वेदक सम्यक्त्व कहते हैं।

उपरोक्त पांच प्रकार के सम्यक्त्वों का संक्षेप में विवेचन किया गया है। विशेष रुचि वाले महानुभावों को अन्य शास्त्र आदि ग्रंथों से जान लेना चाहिये।

दशविध सम्यक्त्व :-

''रुचः जिनोक्ततत्त्वेषु, सम्यग् श्रद्धानमुच्यते।'' योगशास्त्र में हेमचन्द्राचार्य म. कहते हैं कि जिनेश्वर भगवान द्वारा कहे हुए तत्त्वों में रुचि निर्माण होना, इसे सम्यक्त्व या सम्यग् (सच्ची) श्रद्धा कहते हैं। ''तत्त्व रुचि'' को सम्यग्दर्शन का कारणभूत प्रबल निमित्त बताया गया है। सिद्धचक्र महापूजन के अनुष्ठान में - **''तत्त्वरुचिरूपाय श्री सम्यग् दर्शनाय स्वाहा।'' ''तत्त्वरुचि''** रूप सम्यग्दर्शन को मंगल रूप मानकर पूजन करते हुए नमस्कार किया गया है। अतः सारांश यह है कि सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए **''तत्त्व रुचि''** जागृत करना परम आवश्यक है। शास्त्रकार महापुरुषों ने सम्यक्त्व कारक ऐसी १० प्रकरा की भिन्न-भिन्न रुचियां दशविध सम्यक्त्व के अन्तर्गत बताई है। वे इस प्रकार है -

निसग्गुवाए स रूई, आणरूइ सुत्त-बीअ रूइमेव।
अभिगम-वित्थाररूई, किरिआ संखेवधम्मरूई॥

(१) निसर्ग रुचि :-

निसर्ग अर्थात् नैसर्गिक, याने स्वाभाविह भाव से जिनेश्वर-सर्वज्ञ भगवान द्वारा प्ररूपित जीवादि तत्त्वों के प्रति स्वाभाविक अभिलाषा या रुचि होना। बिना किसी के उपदेश से जाति-स्मरणज्ञान से या अपनी प्रतिभाशाली मति से जीवादि तत्त्वों के प्रति रुचि जागृत होना, या दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने से मात्र व्यवहार रूप से नहीं परंतु यथार्थ रूप से सत्वस्तु को ही वस्तु रूप मानने का जो शुभ भाव व इससे जीवादि तत्त्व के प्रति आत्मा का यथार्थ तत्त्व श्रद्धा रूप रुचि को निसर्ग रुचि सम्यक्त्व कहते हैं।

(२) उपदेश रुचि :-

गुरु, सर्वज्ञ केवली के उपदेश द्वारा जीवादि तत्त्वों में सत् भूतार्थ रूप, यथार्थपने के रुचि (बुद्धि) को उपदेश रुचि सम्यक्त्व कहते हैं। अर्थात् उपदेश श्रवण से होने वाले बोध की रुचि को उपदेश रुचि सम्यक्त्व कहते हैं।

(३) आज्ञा रुचि :-

विवक्षित अर्थ बोध के बिना भी जिनेश्वर भगवान की आज्ञा को ही सत्य

मानकर कदाग्रह के बिना तत्त्वों में अभिरुचि रखना, आज्ञा रुचि कहलाती है। वीतरागी आप्त पुरुष की आज्ञा मात्र से अनुष्ठान करने की रुचि या आचार्य, उपाध्याय, साधु भगवंत, गुरु की आज्ञा से अनुष्ठान आचरनें में जो रुचि उत्पन्न होती हैं उसे आज्ञा रुचि सम्यक्त्व कहते हैं। जैसे माषतुष मुनि में थी।

(४) सूत्र रुचि : –

आचारंग सूत्र, दशवैकालिक सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र आदि अंग-उपांग-सूत्र, आदि आगम ग्रन्थों का पुनः पुन : अध्ययन, अध्यापन, पुनरावर्तन करने से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा जीवादि तत्त्वों में यथार्थपने की विशेष श्रद्धा जो उत्पन्न हो, उसे सूत्र रुचि सम्यक्त्व कहते हैं। जैसी कि गोविन्दाचार्य को थी।

(५) बीज रुचि :–

जीवादि किसी एक पदार्थ की श्रद्धा से उसके अनुसंधान रूप अनेक पदों में तथा उसके अर्थ में उत्तरोत्तर विस्तार होता जाय, उसे बीज रुचि सम्यक्त्व कहते हैं। जैसे पानी में गिरा हुआ तेल बिन्दु विस्तरता हुआ, चारों तरफ फैल जाता है या एक बीज बोने से जैसे अनेक बीजों का निमार्ण होता है वैसे ही अनेक तत्त्वों के बीज रूप या कारण भूत किसी एक तत्त्व की श्रद्धा होने पर वह विस्तरित होती हुई अनेक तत्त्वों की श्रद्धा निमार्ण कर, वे उसे बीज रुचि सम्यक्त्व कहते हैं।

(६) अधिगम रुचि :–

अधिगम अर्थात् ज्ञान। सर्व आगमों के अभ्यास से अर्थ ज्ञान जो प्राप्त किया हो और उस ज्ञान से पर्व आगम शास्त्रों के अर्थ पर सर्वथा सही है ऐसी श्रद्धा उत्पन्न हो उसे अधिगम सम्यक्त्व कहते हैं।

(७) विस्तार रुचि : –

- प्रत्यक्ष अनुमान, तपमान, शब्द प्रत्यभिज्ञान एवं आगम आदि सर्व प्रमाण, नय और निक्षेप आदि पूर्वक जो सर्व द्रव्यों का और सर्व गुण पदार्थों का ज्ञान होता है और उससे उत्पन्न विशुद्ध श्रद्धा को विस्तार रुचि सम्यक्त्व कहते हैं।

(८) क्रिया रुचि :–

ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार आदि पंच आचार का पालन करने की रुचि एवं विनय, वैयावच्च आदि अनुष्ठान रूप क्रिया करने की रुचि को क्रिया रूप सम्यक्त्व कहते हैं।

(९) संक्षेप रूचि :–

जिसे पर दर्शन का ज्ञान नही हैं और जिन वचन रूप स्वदर्शन से भी अच्छी तरह परिचय नहीं है, अर्थात् जिसने किसी तत्त्व का सही ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, ऐसे जीव को मात्र मोक्ष प्राप्ति की रुचि हो उसे संक्षेप रुचि सम्यक्त्व कहते हैं। जैसेकि

"चिलाती पुत्र" के जीवन में हुआ । जिसे सम्यग् धर्म का एवं तत्त्वादि का कुछ भी ज्ञान नहीं था, फिर भी उपशम-संवर-विवेक रूप पदयत्र के श्रवण मात्र से ही जो मोक्ष रुचि पदयत्र के श्रवण मात्र से ही जो मोक्ष रुचि जागृत हुई उसे संक्षेप रुचि कहते हैं ।

(१०) धर्म रुचि :-

मात्र "धर्म" शब्द सुनने से ही जिसे धर्म के प्रति आदर, सन्मान, प्रेम या प्रीति उत्पन्न हो और धर्म पर से वाच्य ऐसे यथार्थ धर्म तत्त्व के प्रति जो सही कक्षा या रुचि उत्पन्न हो, उसे धर्म रुचि सम्यक्त्व कहते हैं ।

इस प्रकार सम्यक्त्व द्योतक दस प्रकार की भिन्न-भिन्न रुचियाँ है, जो सम्यग् श्रद्धा कारक है । संक्षेप में साधक की सम्यग् श्रद्धा का विश्लेषण करने पर प्रमुख तीन विषयों पर उसकी श्रद्धा का आधार दिखाई देता है, अत: इन तीन विषयों को इस तरह स्पष्ट किया है -

अरिहंतो महदेवो, जावज्जिवं सुसाहुणो गुरुणो ।
जिणपन्नत्तंतत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहिअं ।।

अरिहंत ही मेरे देव भगवान है, सुसाधु मुनिराज ही मेरे गुरु है, एवं सर्वज्ञ जिनोपदिष्ट तत्त्व ही मैं यावत-जीवन (आजीवन) पर्यंत स्वीकार करता हूँ । यहां जिनोपदिष्टि तत्त्व से धर्म तत्त्व लिया गया है । इस तरह देव-गुरु-धर्म रूप तत्त्व की यथार्थता को सम्यग् श्रद्धा पूर्वक स्वीकारने वाला साधक यह कहता है कि ऐसा सम्यक्त्व-सम्यग्दर्शन या सम्यग् श्रद्धा मैंने स्वीकार की है । इसे ही भावना रूप बनाकर साधक प्रतिदिन इसका बार बार स्मरण करता है ।

समकित के ६७ बोल :-

पूज्य उपाध्याय यशोविजय जी महाराज ने सम्यग् दर्शन प्राप्त किए हुए सम्यग् दृष्टि साधक के स्वरूप का विवेचन करते हुए ६७ बोल मुख्य रूप से बताए है, अर्थात् सम्यक्त्वी कैसा होना चाहिए ? उसके लक्षण क्या है ? वैसे ही सम्यक्त्वी की शोभा किस में है ? इस तरह सद्हणा-जयणा-भावना, विनायादि कि तने भेद - प्रभेद से युक्त सम्यक्त्वी का स्वरूप कैसा होता है ? यह प्रदर्शित किया है । उपाध्यायजी ने इस विषय में "समकितना ६७ बोल" की सज्झाय नामक स्वतंत्र पुस्तक रूप में रचना की है । यद्यपि यह स्वतंत्र ग्रंथ रूप से अध्ययन करने योग्य है तथापि यहां पर स्थान एवं विस्तार भय से संक्षेप में उन ६७ बोलों के नाम मात्र का उल्लेख करते हैं -

तीन शुद्धि - मन, वचन, काया ।
तीन लिंग - सुश्रुषा, राग, वैयावच्च ।

पांच लक्षण – शम, संवेग, निर्वेद, आस्तिक्य, अनुकंपा ।
पांच दूषण – शंका, आकाँक्षा, वितिगिच्छा, प्रशंसा और संस्तव ।
पांच भूषण – स्थैर्य, प्रभावना, भक्ति, कुशलता और तीर्थ सेवा ।
आठ प्रभावक – प्रवचनी, धर्म क थनी, वादी, निमित्तभावी, तपस्वी, विद्यासंपन्न,सिद्ध, कवि ।
छः आगार – रायाभियोगेणं, गयाभियोगेणं, बलाभियोगेणं, देवाभियोगेणं, गुरुनिग्रह, वृत्तिकान्तार ।
चार सद्हणा – तत्त्वज्ञान का परिचय, तत्त्वज्ञानी की सेवा, व्यापन्नदर्शनी वर्जन, कुलिंगी संग वर्जन ।
छः जयणा – कुदेव या कुचैत्य के साथ ६ प्रकार का व्यवहार न करना, वंदन, नमन, दान, प्रदान, आलाप, संलाप ।
छः स्थान – अस्ति, नित्य, कर्ता, भोक्ता, मुक्ति, उपाय ।
दश विनय – निर्मलता के लिए इन दस का विनय करना – अरिहंत, सिद्ध, चैत्य, श्रुत, धर्म, साधु, आचार्य, उपाध्याय प्रवचनी, दर्शन ।

उपरोक्त सम्यक्त्व के ६७ अधिष्ठान स्थान है । इनको पहचानना और इनका आचरण करना लाभदायी है । इससे सम्यक्त्व की प्राप्ति भी होती है, या प्राप्त सम्यक्त्व निर्मल होता है । इन ६७ अधिष्ठान स्थानों को सम्यक्त्व के ६७ भेद या प्रकार के रूप में भी समझे जाते हैं । ऐसा सम्यक्त्व प्राप्त जीव सम्यक्त्वी एवं सम्यग् दृष्टि बन जाता है । इसके कारण प्रत्येक क्षेत्र में वह यथार्थ एवं वास्तविक ज्ञान की बुद्धि से देखता है, जानता है और उसे मानता है ।

सम्यग् दर्शन में – जानना और मानना :–

सम्यग् ज्ञान से जीव जानता है और सम्यग् दर्शन से जीव मानता है । इसलिए यदि सम्यग् ज्ञान है तो उसकी जानकारी भी सम्यग् एवं सच्ची होगी । ठीक इससे विपरीत यदि ज्ञान मिथ्या या विपरीत या भ्रमपूर्ण या संदेहास्पद या संशयात्मक होता है तो उसकी जानकारी एवं श्रद्धा भी वैसी ही विपरीत होगी । अत: सही श्रद्धा के लिए ज्ञान भी सही होना अत्यन्त आवश्यक है । दर्शन अर्थात् श्रद्धा यदि सम्यग् (सच्ची) होगी तो जीव की तत्त्वों के विषय में मान्यता अर्थात् मानने की वृत्ति भी सम्यग् होगी । अत: जानना और मानना यद्यपि स्वतंत्र और भिन्न-भिन्न है, तथापि यदि वे सहयोगी एवं सहभागी बन कर साथ रहेंगे तो दुगुना चौगुना लाभ होगा । नहीं तो यथेच्छ लाभ नहीं भी होता है । तर्क बुद्धि से देखने पर ऐसा प्रश्न खड़ा होता है कि जो जानता है वह मानता है? या जो मानता है वह जानता है ? जो जितना और जैसा जानता है, क्या वह उतना ही और वैसा ही मानता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि

ऐसा अनिवार्य नहीं है कि जो जाने वह माने ही, वैसे ही जो माने उसे जाने ही । यह भी कई बार अनिवार्य नहीं दिखाई देता है ।

ज्ञान संग्रह के रूप में कई लोग सैंकड़ों विषयों का ज्ञान (जानकारी) जरूर रखते हैं, जैसे कि मिथ्यादृष्टि जीव भी आत्मा, परमात्मा, मोक्षादि विषयों की जानकारी रखता भी है, और आजीविका के लिए दूसरों को पढ़ाता भी है, परंतु स्वयं इन विषयों को नहीं भी मानता है अर्थात् स्वयं आत्मा परमात्मा मोक्षादि तत्त्वों में श्रद्धा नहीं रखता है ।

अभव्य जीव भी कई बार आत्मा-परमात्मा, मोक्षादि तत्त्वों की जानकारी, उसका अच्छा पर्याप्त ज्ञान भी रखता है । दीपक सम्यक्त्व के रूप में सम्यक्त्व की उपमा देने वाल, अभव्य जीव दूसरें कई जीवों को पढ़ाकर या समझा-बुझाकर उनकी श्रद्धा उत्पन्न करा देता है लेकिन स्वयं सदा ही मिथ्यात्वी-श्रद्धाहीन रहता है । इस तरह कई जीव जानते हुए भी श्रद्धा रखने रूप मान्यता नहीं रखते हैं । वे श्रद्धा विहीन ज्ञानवान होते हैं । विद्वान पंडित कई बार अहितदर्शन के आत्मा-परमात्मा, मोक्षादि तत्त्वों का अभ्यास करते और कराते हैं । अहिंसा आदि सिद्धांतों पर भी भाषण देते हैं और लेख भी लिखते है परंतु उसमें श्रद्धा नहीं रखते हैं । वे साफ कहते हैं कि हम मात्र आजीविका के लिए किसी को पढ़ा देते हैं, तथा पैसा मिलता हो, सम्मान मिलता हो तो भाषण भी देते हैं । लेख व पुस्तक आदि भी लिख देते हैं । परंतु हम तो यही मानते हैं कि गाय या अश्व मारकर, उनका पुरोडास बनाकर यज्ञ करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है । यही हमारी श्रद्धा है ।

जैसे मन्दिर का एक पुजारी भगवान की पूजा आदि अच्छी करता है, वह क्रिया-विधि आदि की अच्छी जानकारी रखता है, परंतु मान्यता या श्रद्धा के विषय में उससे पूछा जाय तो वह साफ कहता है कि मैं तो मात्र आजीविका के लिए यह सब काम करता हूं । मुझे नौकरी करना है, मुझे तो पैसो से मतलब है । इस प्रकार उसे श्रद्धा या मानने से कोई मतलब नहीं है । इस तरह कई जो जानते है वे यदि श्रद्धा के विषय में कोरे हैं तो उनकी जानकारी निरर्थक हो जाती है । लाभदायी नहीं हो पाती है । ठीक इसी तरह श्रद्धा के पक्ष में रहने वाला साधक यदि श्रद्धा या अपनी मान्यता सही रखते हुए भी ज्ञान या जानकारी यदि सही नहीं रखता है तो वह भी एकान्ती, एक पक्षीय बनकर निष्फल सिद्ध होता है । बिना सम्यग् ज्ञान के उसकी श्रद्धा अन्ध-श्रद्धा बन जाती है । आत्मा - परमात्मा मोक्ष आदि तत्त्वों में ज्ञान रहित, सिर्फ मानने रूप श्रद्धा रखने मात्र से, अंध-श्रद्धालु बना हुआ, वह जल्दी बदल भी जाता है । उसे कोई कुतर्क- वितर्क पूर्वक बुद्धि कौशल से अतत्त्व विषय में समझाएगा तो वह उसकी तरफ झुकते हुए देरी नहीं करेगा । ऐसे अंध-श्रद्धा वाले जीवों को बहुत जल्दी बदला

जा सकता है । कई बार चमत्कार आदि निमित्तों से श्रद्धा रखने वालो जीव भी जो कि सम्यग् ज्ञान रहित श्रद्धावान होते हैं, वे भी ऐसे बुद्धि चातुर्य के कुतर्क-वितर्क के जाल में फंसकर अपनी श्रद्धा छोड़ देते हैं । इसी आधार पर ऐसे ही अंधश्रद्धालु लोगों का धर्म परिवर्तन कराने का कार्य कई लोग करते हैं । उसका फायदा उठाते हैं । श्रद्धा अल्पजीवी नहीं होती है । वह सदाकाल नित्य एवं स्थायी होती है । शर्त इतनी ही है कि सम्यग् ज्ञान जन्य एवं उस पर आधारित होनी चाहिए । अत: जानना और मानना, उभय अन्योन्य सहयोगी एवं सहोत्पन्न होनी चाहिए । हम जितना और जैसे जानें, वह ज्ञान भी सम्यग् होना चाहिए और उसके आधार पर हमारी श्रद्धा भी सम्यग् होनी चाहिए ।

सम्यग् और श्रद्धा उभय की उपयोगीता :-

जानना और मानना इनके द्विक् संयोगी चार भेद किए जाते है ।

(१) जानना और मानना । (२) मानना और जानना ।

(३) न जानना और न मानना । (४) मानना पर न जानना ।

उदाहरण के लिए हम इन्हें चार प्रकार के पुत्रों के दृष्टांत से समझ सकते हैं

(१) एक प्रकार का पुत्र वह होता है जो अपने पिता को कहता है कि पिताजी ! मैं आपको मानूँगा । परंतु आपका कहना नहीं मानूँगा ।

(२) दूसरा कहता है पिताजी ! आपका कहना मानूँगा पर आपको नहीं मानुँगा

(३) तीसरा कहता है पिताजी ! मैं न तो आपको मानुँगा और न ही आपका कहना मानुँगा ।

(४) चौथा कहता है पिताजी ! मैं आपको भी मानुँगा और आपका कहना भी मानुँगा ।

पाठकों ! आप ही सोचिए कि उपरोक्त चार प्रकार के पुत्रों में से कौनसा पुत्र अच्छा और योग्य है ? प्रथम या द्वितिय दोनों प्रकार के पुत्र जो कि एकान्ती-एकपक्षीय मान्यता रखते हैं, उन्हें कैसे अच्छे मान सकते हैं । जो पिता को न माने और उनकी आज्ञा को मानें, या आज्ञा को माने और पिता को न माने, वे दोनों ही अधूरी श्रद्धा वाले हैं । तीसरा पुत्र जो पिता और आज्ञा दोनों को ही मानने के लिए तैयार नहीं है, ऐसे तीनों प्रकार के पुत्र अयोग्य कहलाते हैं । पिता और आज्ञा दोनों को मानने वाला चौथा पुत्र ही योग्य कहलायेगा । यह तो व्यवहारिक क्षेत्र में पुत्र की बात हुई लेकिन आध्यात्मिक क्षेत्र में भक्त और भगवान के विषय में पुत्र की ही तरह चार भेद होते हैं -

(१) एक प्रकार का भक्त वह होता है जो भगवान को मानता है परंतु भगवान की आज्ञा नहीं मानता है ।

(२) दूसरा जो कि पहले का ठीक उल्टा है वह भगवान की आज्ञा को तो मानता है लेकिन भगवान को मानने के लिए तैयार नहीं है।

(३) तीसरा वह है जो महामिथ्यात्वी एवं नास्तिक है, वह भगवान और भगवान की आज्ञा रूप धर्म दोनों को ही मानने के लिए तैयार नहीं है।

(४) चौथा परम श्रद्धालु एवं आस्तिक है जो भगवान को और भगवान की आज्ञा या धर्म दोनों को समान रूप से मानता है।

इस प्रकार चार पुत्रों की तरह चार प्रकार के भक्त होते हैं। उनमें मात्र चौथे प्रकार का पुत्र या भक्त ही योग्यता वाला होता है, जो श्रद्धावान एवं आस्तिक होता है। अन्य तीनों प्रकार के पुत्र एवं भक्त अयोग्य-नास्तिक एवं अनाज्ञाकारी होते हैं। जिस तरह एक पिता उपरोक्त तीनों प्रकार के पुत्र को पुत्र होते हुए भी अयोग्य मानते हैं और असन्तुष्ट रहते हैं, ठीक वैसे ही शास्त्र तीनों प्रकार के भक्तों (उपासकों) को अयोग्य ठहराता है। इन पुत्रों की तरह कई भक्त ऐसी विचारधारा वाले होते हैं जो भगवान को मानते हुए भी भगवान की आज्ञारूप धर्म को नहीं मानते हैं, क्योंकि भगवान की आज्ञा रूप धर्म को मानना बहुत कठिन होता है जबकि भगवान को मानना बड़ा आसान है। भगवान को मानने में मात्र उनका स्वरूप या जीवन चरित्र सुनकर या समझकर तथा चमत्कार जन्य निमित्तों की श्रद्धा से मानना बड़ा आसान लगता है, जबकि भगवान के द्वारा कहे तत्त्व या आज्ञा रूप धर्म को मानने या स्वीकारने में पढ़ना, समझना, जानना, सोचना, विचारना, चिन्तन करना, मनन करना, परीक्षण करना और फिर दिमाग में बैठाना, एवं इतना ही नहीं, पुनः उसका जीवन में आचरण करना तथा उसे सम्यग् श्रद्धा में स्थिर करना, बड़ा कठिन, लोहे के चने चबाने जैसा लगता है। इसलिए सरल होने से भगवान को मानने के लिए वह तैयार है लेकिन भगवान के कहे हुए तत्त्व व आज्ञा रूप धर्म को स्वीकार करने को वह जल्दी तैयार नहीं होता है। जैसा पीला देखकर सोना खरीदना आसान होता है, परंतु कस लगाकर कसौटी पर कसना, छेद, भेद, ताप आदि से परिक्षा करके ठगे न जाय, इस वृत्ति से खरीदना कठीन होता है।

संख्या की दृष्टि से विचार किया जाय तो तीसरे नम्बर का पुत्र या भक्त जो सर्वथा नास्तिक एवं अयोग्य है अर्थात् जो भगवान और भगवान की आज्ञा रूप धर्म को मानने और स्वीकारने को सर्वथा तैयार नहीं है, ऐसे लोगों की संख्या संसार में सबसे ज्यादा है। दूसरे नम्बर पर भगवान को मानना लेकिन भगवान के कहे हुए तत्त्व या आज्ञा रूप धर्म को न मानने वालों की संख्या आती है। तीसरे नम्बर पर भगवान के कहे हुए तत्त्व या आज्ञारूप धर्म को मानने वाले, परंतु भगवान को न मानने वाले लोगों की संख्या भी इस संसार में है। अब रही बात चौथे नम्बर की। सच्चा धर्मी

एवं आस्तिक- श्रद्धालु वही है जो भगवान को और भगवान की आज्ञा रूप धर्म को समान रूप से मानता, स्वीकारता, जानता, आचरण करता है। यद्यपि इस चौथे प्रकार के भक्त या पुत्र के जैसे लोगों की संख्या संसार में अल्प ही क्यों न हो, फिर भी है तो सही।

जैसे कि जिसके पास नाव हो और वह उसे चलाना भी जानता है, तो वह पार पहुँच जाता है। वैसे ही चौथे नम्बर का उपासक संसार समुद्र तैर जाता है। इस तरह सही जानना और सही मानना यही सम्यग् दर्शी की सच्ची दृष्टि कहलाती है, अत: सम्यग् दृष्टि जीव सत्य ही कहेगा और असत्य को असत्य ही रहेगा।

सत्य-असत्य की चतुर्भंगी :-

(1) TRUE + FALSE = FALSE
(2) FALSE + TRUE = FALSE
(3) FALSE + FALSE = FALSE
(4) TRUE + FALSE = TRUE

जो सत्य को असत्य के साथ मिला देता है वह मिथ्यात्वी कहलाता है क्योंकि सत्य-असत्य के साथ मिलकर अन्त में असत्य ही हो जाता है, अत: यह सम्यग् दर्शन के क्षेत्र में नहीं आता है।

दूसरा भेद पहले का विपरीत है, परन्तु फर्क इतना ही है कि पहला सत्य को असत्य में मिलाता है जबकि दूसरा असत्य को सत्य में मिलाता है, जैसे दूध में पानी मिलावे या पानी में दूध मिलावट। इसमें जितना भेद है उतना ही अन्तर उपरोक्त दो भेदों में है। असत्य में सत्य मिलाने पर भी अन्त में असत्य ही रहता है। अत: यह भी मिथ्यात्व का भेद हो जाता है, सम्यक्त्व का नहीं।

इस तरह मिथ्यात्वी जीव उपरोक्त दो भेदों वाला होता है। वह सत्य को कभी जान नहीं सकता है। वैसे ही मानना, देखना, बोलना आदि भी विपरीत ही करता है। असत्य को सत्य बनाना या सत्य को असत्य बनाना, ये दोनो प्रक्रियांए विपरीतीकरण मिथ्याभाव की है।

तीसरे नम्बर का भेद, जिसमें असत्य को असत्य ही कहना यह सम्यग्-दृष्टि का कार्य है। असत्य को असत्य कहने के फलस्वरूप असत्य की नहीं लेकिन सत्य की ही उत्पत्ति होती है। अन्तत: सत्य ही प्रकट होना है। इसमें मिथ्या बुद्धि नहीं होती है, परन्तु सम्यग् दृष्टि की हिम्मत होती है, उसका साहस होता है जिससे वह असत्य ही कहने, मानने, जानने, आदि के लिए कटिबद्ध होता है।

चौथा भेद शुद्ध सम्यक्त्व का है। इसमें सत्य को सम्पूर्ण सत्य के रूप में

ही स्वीकारने की तैयारी होती है । वह सत्य को कभी भी विकृत नहीं करता है । उसमें असत्यादि की मिलावट नहीं करता है । सत्य का प्राकृतिक एवं वास्तविक स्वरूप स्वीकार करना यह चौथे भेद का कार्य है । यह जानने, मानने, देखने आदि सभी क्षेत्र में सत्य को सत्य रूप में ही स्वीकार करता है ।

संसार में ऐसे चार प्रकार के जीव होते हैं, जिसमें पहले और दूसरे प्रकार के जीव बहुसंख्य होते है, जबकि तीसरे प्रकार के जीव बहुत कम होते हैं और चौथे प्रकार के जीव सबसे कम याने अल्प होते हैं ।

यद्यपि वकिलों का कार्य असत्य को असत्य रूप में एवं सत्य को सत्य रू प में सिद्ध करने का था, परंतु स्वार्थवृत्तिवश वे भी इन दिनों दोनों भेदों को छोड़कर पहले दूसरे भेद की तरह सत्य को असत्य और असत्य को सत्य में परिणत करने रूप सिद्ध करने का काम करते हैं । यह मिथ्या-विपरीत प्रवृत्ति ही है । अत: मनुष्य को सत्य का आग्रही, सत्यान्वेषी, सत्य का पक्षपाती एवं सम्यग् दृष्टि अर्थात् सम्यक्त्वी ही बनना चाहिये । वही जगत को सही एवं सच्चा न्याय दे सकेगा, जैसा कि भूतक ाल के अनेक महापुरुसों ने किया था । इनमें सुलषा जैसी महान श्राविका का भी नामोल्लेख किया गया है ।

सुलषा के सम्यक्त्व की परीक्षा :-

राजगृही नगरी की तरफ जाते हुए, अंबड नामह परिवाज्रक के साथ भगवान महावीर प्रभु ने सुलषा नामक श्राविका के लिए ''धर्मलाभ'' का आशीर्वाद भिजवाया और कहा, हे अंबड ! तुम राजगृही जाकर सुलषा नामक श्राविका को मेरा धर्मलाभ का सन्देश जरूर कहना । अंबड राजगृही गया परन्तु उसने मन में सोचा कि सुलषा कैसी औरत है ? यह कितनी बडी और महान् स्त्री है ? जिसे भगवान महावीर ने धर्मलाभ कहलवाया है । और किसी को नहीं परन्तु महावीर ने सुलषा को ही धर्मलाभ क्यों कहलवाया ?

इस तरह ऊहापोह मन में करता हुआ अंबड परिव्राजक सुलषा की परीक्षा करने के लिये कमर कसता है । वह राजगृही नगरी के बाहर ब्रह्मा का रूप बनाकर लोगों को आशीर्वाद देने लगा । उसकी धारणा थी कि शायद इस प्रसिद्ध व प्रचार के कारण सभी के बीच सुलषा भी अवश्य आवेगी । हुआ ठीक इसके विपरीत । अपनी शक्ति से रूप बदलते हुए अंबड ने बाद में शंकर, कृष्ण,विष्णु इत्यादि के रूप धारण किए । उसने बहुत बडी मायाजाल खड़ी कर दी । नगर के हजारों-लाखों पोग उसके आशीर्वादार्थ एवं दर्शनार्थ उमड़ने लगे । अंबड उनमें सुलषा को ढुंढने लगा । आखिर सुलषा न आई, सो नहीं आई । अन्त में थककर, परेशान होकर उसने तीर्थंकर का रूप बनाया और अपनी मायाजाल से समवसरण का

रूप निर्माण किया । यह प्रचारित किया गया कि पच्चीसवें तीर्थंकर राजगृही नगरी में पधारे हैं । और सबको धर्मलाभ दे रहे हैं । ऐसी खुब प्रसिद्धि सुनकर हजारों-लाखों लोगों की भीड़ जमने लगी, परन्तु इससे भी सुलषा टस से मस न हुई । सत्यवादी सम्यग् दृष्टि सुलषा ने जो कभी भी असत्य को सत्य एवं सत्य को असत्य कहने के लिए तैयार नहीं थी, सत्य सिद्धान्त शास्त्र के आधार पर विचार किया कि- तीर्थंक र तो मात्र चौबीस ही होतें हैं । पच्चीसवें तीर्थंकर न तो कभी हुए हैं और न कभी होंगे । इतना ही नहीं वरन् इस भरत क्षेत्र में एक समय में एक साथ दो तीर्थंकर कभी भी नहीं होते हैं । ऐसा सर्वज्ञ का वचन है । वर्तमान में जबकि चोबीसवें तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी विद्यमान हैं, तब फिर पच्चीसवें तीर्थंकर के होने या आने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता हैं । भले ही समवसरण आदि कि राना क्यों न हो, परंतु पच्चीसवें तीर्थंकर तो हो ही नहीं सकते हैं ।

इस प्रकार अपने सम्यग् रूप सच्ची श्रद्धा से परीक्षा करके सुलषा श्राविका समवसरण की रचना सुनकर भी सर्वथा रंजमात्र भी विचलित न हुई औ न गई । आखिर हार स्वीकार कर अंबड परिव्राजक एक श्रावक का रूप लेकर सुलषा श्राविका के घर पहुंचा और हाथ जोड़ते हुए, नतमस्तक होकर विनीत भाव से सुलषा को कहा कि-हे देवी ! आपको भगवान महावीर ने धर्मलाभ कहलवाया है । यह सुनते ही सच्चा तीर्थंकर सर्वज्ञ प्रभु महावीर का नाम उनकी तरफ से "धर्मलाभ" का सन्देश सुनते ही सुलषा हर्ष विभोर होकर नाच उठी ।

वास्तव में सुलषा सत्यशोधक यथार्थ तत्त्व रुचिवाली एवं शुद्ध सम्यग् दृष्टि श्राविका थी, जिसने सम्यग् दर्शन से अपना जीवन धन्य बनाते हुए, ऐसी अनुपम साधना की जिससे उसने तीर्थंकरनामकर्म उपार्जन किया । आगामी चौबीसी में तीर्थंक र बनकर मोक्ष जाने का सौभाग्य प्राप्त किया । ऐसी एक विदुषी श्राविका के जैसी ही सम्यग् श्रद्धा हमें भी रखनी चाहिए, जिससे हम भी शुद्ध सम्यग् दृष्टि वाले बन सकें ।

अंध श्रद्धा और सम्यग् श्रद्धा :-

श्रद्धा दो प्रकार की होती है - (१) सम्यग् श्रद्धा (२) अंध श्रद्धा । सम्यग् ज्ञान जन्य श्रद्धा को सम्यग् श्रद्धा कहते हैं । ठीक इससे विपरीत अंध श्रद्धा में तत्त्व विषयक सम्यग् ज्ञान या तत्त्व रुचि आदि उत्पन्न नहीं होती है, परंतु चमत्कार जन्य दु:ख निवृत्ति एवं सुख प्राप्ति के निमित्तों से उत्पन्न हुई श्रद्धा अंध श्रद्धा कहलाती है । अंध श्रद्धालु व्यक्ति तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए या तत्त्वार्थ या यथार्थ, वास्तविक सत्यज्ञान के लिए कोई प्रयत्न या पुरुषार्थ नहीं करता है क्योंकि वह मूलत: तत्त्वरुचि जीव नहीं है । अत: वह आत्मा-परमात्मा मोक्षादि तत्त्वों में न तो ज्ञान ही सम्यग् रखता है और न ही सम्यग् श्रद्धा रखता है । अंध श्रद्धालु मात्र संसार का रागी एवं सुख

लिप्सु जीव रहता है । येन केन उपायेन दु:ख निवृत्ति हो जाय औरसुख की प्राप्ति हो जाये ऐसे निमित्तों को ही वह मानता है । चाहे ये कार्य भगवान के नाम से, देवी-देवताओं के नाम से या त्यागी - तपस्वी गुरुओं के आशीर्वाद से पूर्ण हो । परंतु उसे देव-गुरु-धर्म की आराधना-भक्ति या उपासना से जितना मतलब नहीं होता है, उससे ज्यादा सुख प्राप्ति का एवं दु:ख निवृत्ति का उसका लक्ष्य हाता है ।

शादी होना, संतानोत्पत्ति होना, संपत्ति की प्राप्ति होना, ऐश्वर्य भोग-विलास के साधनों की प्राप्ति होना, यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा, सत्ता आदि की प्राप्ति होना, इन्हीं सब सांसारिक सुखों को सुख प्राप्ति रूप मानकर वह बैठा है । अत: इनकी प्राप्ति के लक्ष्य से वह देव-गुरु-धर्म का भी उपयोग करता है । भगवान के दर्शन-पूजा-पाठ, यात्रा आदि एवं स्तोत्र पाठ, जापादि सम्यग् साधना को भी वह सुख प्राप्ति के लिए करता है ।

''कौए का बैठना और डाली का गिरना'' ऐसे आकस्मिक निमित्त की तरह वह देव-गुरु-धर्म की साधना से चमत्कारिक निमित्तों को मानकर उनमें श्रद्धा रख लेता है, और उनकी उपासना इसी हेतु को सिद्ध करने के लिए करता रहता है । देव-देवियों के पास जाकर सन्तान या सम्पत्ति प्राप्ति हेतु मानता या आखड़ी रखता है । लॉटरी खुल जावे, इसके लिए वह देव-गुरु के आशीर्वाद प्राप्ति हेतु प्रयत्न करता है । चमत्कार करने वालों के पीछे वह अंध श्रद्धा से भागता-फिरता है । वीतराग भगवान और त्यागी तपस्वी गुरुओं को एवं देव-देवियों को वह अपनी इच्छा पूर्ति का निमित्त एवं आधारभूत कारण मान लेता है । इसी तरह वह शंख, श्रीफल आदि कई प्रकार की विधिओं में आशा रखकर अंध श्रद्धा से भागता रहता है

जिन देव-गुरु-धर्म का उपयोग संसार निवृत्ति, भव-मुक्ति एवं आत्म क ल्याण तथा कर्म-क्षय (निर्जरा) रूप, आत्म शुद्धि के लिए था, उनका उपयोग अंधश्रद्धालु व्यक्ति ने सांसारिक दु:ख निवृत्ति तथा भौतिक पौद्गलिक, वैषायिक सुख प्राप्ति के लिए किया । यहां जाने से सुखी बनूँगा, इनसे मेरी इच्छा पूर्ति होगी, उनसे आशा फ लीभूत होगी, ऐसी अंधश्रद्धा की विचारधारा में वह, यहाँ-वहाँ भागता-फिरता है । जो भी देव हो, वह उनके सैंकड़ों मन्त्रों का जाप करता रहता है । वह यहाँ-वहाँ किसी भी देव के पास जाता रहता है ।

इस प्रकार की सम्यग् तत्व-ज्ञान रहित अंध-श्रद्धा का पतन एवं परिवर्तन जल्दी हो सकता है, उसे कोई भी जल्दी से बदल सकता है, क्यों कि ज्ञानजन्य श्रद्धा न होने के कारण वह कभी भी अपनी श्रद्धा से च्युत हो सकता है । इसलिए यही एवं सच्ची श्रद्धा को महापुरुषों ने सम्यग्-तत्त्वज्ञान जन्य बताई है । आत्मा-परमात्मा, मोक्षादि तत्त्वों के यथार्थ, वास्तविक ज्ञान जन्य सम्यग् दर्शन रूप सच्ची श्रद्धा को

ही सम्यग् श्रद्धा कहते हैं । यही सम्यग् श्रद्धा देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा, उनकी आराधना या उपासना सम्यग् कराती है । आचरण भी सही होता है । उनकी उपासना कर्मक्षय रूप निर्जरा-प्रधान एवं आत्म - कल्याणकारी होती है । ऐसे सम्यग् दर्शन से ही भव मुक्ति, संसार मुक्ति-आत्म शुद्धि एवं मोक्ष सिद्धि मिलती है ।

सम्यग् दर्शन की अनिवार्यता पर जोर देते हुए श्री वीर प्रभु ने यहां तक कह दिया है कि-

दंसण भट्ठो भट्ठो, दंसण रहिया न सिज्झई ।
चरण रहिया सिज्झइ, दंसण रहिया न सिज्झई ।।

- उत्तराध्ययन सूत्र

सम्यग् दर्शन से भ्रष्ट, भ्रष्ट ही गिना जाता है, ऐसा सम्यग् दर्शन रहित जीव सिद्ध नहीं होता है । चारित्र से रहित जीव कदाचित मुक्त हो भी जाय, परंतु सम्यग्दर्शन रहित जीव को कभी भी मोक्ष नहीं मिलता है । अत: मोक्ष प्राप्ति के लिए, सम्यग् दर्शन की प्राप्ति अत्यंत आवश्यक है, अनिवार्य है । सम्यग् दर्शन मोक्ष प्राप्ति की प्राथमिक आवश्यकता है । अत: सम्यग् दर्शन के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए ।

एसो पंच नमुक्कारो :-

श्री नमस्कार महामंत्र के छठ्ठे पद पर "एसो पंच नमुक्कारो" पाठ दिया गया है । इसमें "एसो पंच नमुक्कारो" शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं कीमती हैं । नमस्कार महामंत्र के इस छठ्ठे पद की तुलना नव पद के छठ्ठे सम्यग्दर्शन पद के साथ करने पर दोनों में समानता याने सादृश्यता स्पष्ट दिखाई देती है । इससे यह प्रतीत होता है कि- "ऐसो पंच नमुक्कारो" के अर्थ में ही सम्यग् दर्शन का सही अर्थ है । एसो + पंच + नमुक्कारो = एसो पंच नमुक्कारो । ऐसो = इन (यही) पंच =५ पंच परमेष्ठी अर्थात् नवकारमंत्र में उपरोक्त पांच पदों में जो अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्व साधु आदि पंच परमेष्ठी हैं, उन्हीं पाँच का "एसो पंच" पद से अर्थग्रहण किया गया है । इन पांच को ही नमस्कार है । यही अभिग्रह, अनिभिग्रहिक आदि मिथ्यात्व निवृत्ति रूपक सच्चा नमस्कार किया गया है । इससे स्पष्ट सम्यग् दर्शन रूप सच्चा श्रद्धा का बोध होता है । अत: "एसो पंच नमुक्कारो" यह छट्ठा पद नवपद के छठ्ठे पद सम्यग्दर्शन का सही अर्थ में द्योतक है । इसमें "पंच" संख्यावाची शब्द से और "एसो" अर्थात् इन्हीं पांच - अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु के अलावा किसी अन्य को ग्राह्य नहीं किया गया है । अत: छठ्ठे पद से इन और ऐसे पांच अरिहंतादि को नमस्कार किया गया है । अर्थात (१) अरिहंत ऐसे वीतराग भगवान को नमस्कार, (२) सिद्ध, बुद्ध मुक्त ऐसे सिद्ध भगवान को नमस्कार (३) पंचाचार

प्रवीण ऐसे आचार्य भगवन्तों को नमस्कार (४) पाठक एवं वाचकवर्य ज्ञानदाता ऐसे उपाध्यायों को नमस्कार (५) समस्त लोकमें रहे हुए, सिद्ध मार्ग के साधक, विरक्त, वैरागी, त्यागी, तपस्वी साधु-मुनिराजों को नमस्कार किया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं । अत: ''ऐसो पंच'' यह पद एक मर्यादा एवं सीमा बांधने वाला है । जो अरिहंत, सिद्धादि पांच की व्याख्या एवं पद पर आते है, उन्हें नमस्कार अवश्य किया गया है, परंतु इन पांच की व्याख्या में जो नहीं आता है एवं इन पांच के जैसा स्वरूप जिनका नहीं है, उनको नमस्कार नहीं किया गया है । यह प्रमाण दिखाने के लिए अरिहंत आदि पांचों के नियत गुणों की संख्या निम्नानुसार दर्शाई गई है -

१. अरिहंत के	---	१२ गुण
२. सिद्ध के	---	०८ गुण
३. आचार्य के	---	३६ गुण
४. उपाध्याय के	---	२५ गुण
५.साधु के	---	२७ गुण

इन पांच (पंच परमेष्ठि) के कुल १०८ गुण हैं ।

उपरोक्त गुण ही पंच परमेष्ठि के स्वरूप के द्योतक हैं । गुण ही गुणी हे सच्चे द्योतक होते है अर्थात् गुण से ही गुणी का सच्चा स्वरूप पहचाना जाता है । गुण और गुणी में अभेद्य सम्बन्ध है ।

'एसो पंच नमुक्क ारों' पद में संख्यावाची 'पंच' शब्द से 'न न्यूनाधिक्य' का स्पष्ट बोध होता है, अर्थात् पांच से तो न कम और न ही अधिक, निश्चितता एवं स्थिरता का बोल 'पांच' शब्द कराता है । अत: न न्यून याने इन पांच परमेष्ठि से कम संख्या में अर्थात् २-३ या ४ ही मानें ओर १-२ को न मानें तथा माने हुए २-३ को ही नमस्कार करें, उन्हीं के प्रति श्रद्धा रखें और अन्य १-२ के प्रति श्रद्धा न रखें, न माने, नमस्क ारादि न करें, वह सही अर्थ में सम्यक्त्वी नहीं क हलायेगा । इन पंच परमेष्ठि में दो देव और तीन गुरु मिलाकर पांच होते हैं । अरिहंत और सिद्ध ये दो देव (भगवान) है और आचार्य, उपाध्याय एवं साधु ये तीन गुरु हैं। कोई यह कहे कि मैं तो प्रत्यक्ष दिखाई देते, इन गुरुओं को ही मानता हूं परंतु देव तत्त्व जो परोक्ष हैं, उन्हें नहीं मानता हूं तो वह पांचों ही परमेष्ठि को न मानने के कारण मिथ्यात्वी कहलाता है । ठीक इससे विपरीत कोई देव तत्त्व को मानें और गुरु तत्व को न मानें तो वह भी मिथ्यात्वी कहलाता है । अत: 'एसो पंच नमुक्कारो पद से पांचों ही परमेष्ठि को संयुक्त रूप से मानते हुए, नमस्कार करना यही सम्यग् दर्शन है। न न्यूनाधिक अर्थात् कम-ज्यादा मानना ।

व्यक्तिगत समकित देने की दुकान :-

सम्यक्त्व कोई बाजारू चीज नहीं है अर्थात् २-५ रुपये में यह बाजार में बिकता नहीं हैं। सम्यक् दर्शन यह आत्मा का गुण है, जो तत्त्वार्थ श्रद्धा से प्रकट होता है। गुरु आदि व्यक्ति अधिगम मार्ग से उत्पन्न सम्यक्त्व में निमित्त मात्र हैं। फिर भी अधिगम मार्ग से किसी को सम्यक्त्व प्राप्त कराने में सहायक निमित्त बने हुए उपदेशक गुरु आदि ही 'मेरा समकित लो - मेरा समकित लो' इस प्रकार दुकानदार की तरह अपनी पुड़ियां में बांध कर समकित बेचते हैं। उनके ऐसे समकित का छिपा हुआ अर्थ यह है कि - 'मुझे ही मानों और किसी को नहीं।' मैं जो कहता हूं, वैसे ही, और वही करो। दूसरो को मत मानों और दूसरों का कहा हुआ भी मत मानों। मेरे सम्प्रदाय, पंथ या गच्छ को मानों और अन्य किसी सम्प्रदाय, पंथ या गच्छ को मत मानों। मुझे ही वंदन करो और किसी को हाथ मत जोडो। ऐसा हल्दी के गांठ की पुड़िया की तरह वे अपना समकित बेचते हैं। खरीददार ग्राहक भी संतुष्टि के साथ ऐसा मानता है कि - 'मैंने अमुक महाराज सा. से समकित लिया है। मैं अमुक महाराख सा. को ही मानता हूं। अन्य महाराज सा. को नहीं मानता। ऐसा बाजारू समकित बेचने वाले व्यापारी भी है, एवं खरीदने वाले ग्राहक भी है।

वास्तव में देखा जाय तो इस वृत्ति में न तो कोई सम्यक्त्व है और न ही कोइ श्रद्धा है। यह मात्र सम्प्रदाय की खिचड़ी पकाने का चूल्हा है। जिस तरह एक व्यापारी अपने ग्राहक खड़े करता है, वैसे ही व्यक्तिगत समकितदाता गुरु अपने निजी भक्त खड़े करते हैं, न कि सच्चे तत्त्वार्थ श्रद्धालु सम्यग्दर्शनी। इससे सम्प्रदायवाद का विष पनपता है। परिणामस्वरूप राग-द्वेष की वृद्धि होती है और ईर्ष्या-द्वेष का वातावरण बनता है। इसमें क्रोधादि कषाय पलते हैं, जिससे समय आने पर हिंसा आदि पापाचार भी होता है। एक ही धर्म के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय वाले परस्पर निंदा आदि करते हुए, अपनी साम्प्रदायिक नींव मजबूत करते हैं। इस तरह अपनी दुकानदारी चलाते है। राजघरानों में जैसे विष कन्या निर्माण की जाती थी वैसे ही सम्प्रदायवाद के जहर वाले विषैले भक्त निर्माण करने का काम कलियुग में अपना समकित बेचने वाले करते हैं।

'समकित' या सम्यग् दर्शन यह किसी की व्यक्तिगत धरोहर नहीं है। यह तत्त्वार्थ श्रद्धान् स्वरूप आत्म गुण रूप है। यथार्थ सत्व किसी व्यक्ति विशेष के घर का नहीं होता है, यह सूर्य के प्रकाश की तरह सर्व व्यापी होता है। चरम सत्य का स्वरूप एक ही होता है न कि भिन्न-भिन्न। अत: अच्छा यह हो कि हम किसी व्यक्ति विशेष को ही मानने का व्यक्गित समकित न स्वीकारते हुए, यर्थाथ तत्त्व, श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन ही स्वीकार करें।

इसी तरह व्यक्गित समकित दाताओं का सही कर्तव्य यह है कि साधक

को देव-गुरु-धर्म एवं आत्मा-परमात्मा-मोक्षादि यथार्थ तत्त्वों का सम्यग् धन उपार्जन कराते हुए सम्यग्दर्शन प्राप्त करावें। गुरु को चाहिये कि वे अपनी महत्ता न दिखाते हुए, वीतराग, सर्वज्ञ प्रभु की महत्ता दिखाए। साधक को अपना निजि भक्त न बनाते हुए सर्वज्ञ वीतरागी अरिहंत प्रभु का भक्त बनावें। उसे अपने कहे हुए मार्ग पर न चलाते हुए, सर्वज्ञोपदिष्ट तीर्थंकर कथित धर्म मार्ग पर चलाने का कर्तव्य गुरु को निभाना चाहिये। साधक को मुझे मानने रूप मेरे में ही श्रद्धा रखो, ऐसा न कहते हुए सर्वज्ञ वीतरागी-अरिहंत भगवान में एवं उनके वचन में श्रद्धा रखो, ऐसा सिखाना चाहिए। यही गुरु का कर्तव्य है।

वास्तव में ऐसा शुद्ध सम्यग्दर्शन सभी जीवों को प्राप्त कराना, यह गुरु का मुख्य कर्तव्य है। इस नीति का पालन करने से सम्प्रदायवाद का विष कम होगा और शाश्वत धर्म का झण्डा सदा ही लहराता रहेगा। इस तरह व्यक्तिगत समकित बेचने की दुकानदारी चलाना महापाप है।

सम्राट श्रेणिक की श्रद्धा की कसौटी :-

मगध देश की राजधानी राजगृही नगरी के अधिपति सम्राट श्रेणिक महाराजा चरम तीर्थपति श्रमण परमात्मा श्री भगवान महावीर स्वामी के परम उपासक बने थे। सर्वज्ञ प्रभु से समस्त तत्त्वों का यथार्थ सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके सच्चे परम श्रद्धालु बने थे। उनका सम्यग्दर्शन विशुद्ध कक्षा का था। यद्यपि वे अविरति के उदय वाले थे, अत: उनके जीवन में सामायिक-व्रत- पच्चक्खाण आदि विरति धर्म नहीं आ सका था। चारित्र मोहनीय का प्रबल उदय था जिससे व्रत-पच्चक्खाण विरति का आचरण वे नहीं कर पाये। लेकिन दर्शन मोहनीय कर्म एवं अनंतानुबंधी सप्तक के सर्वथा क्षय होने से वे विशुद्ध सम्यग्दर्शन पा सके एवं उत्तरोत्तर आगे बढ़ते हुए अपने सम्यग्दर्शन को 'क्षायिक' की कक्षा में पहुंचा सके। जीवनभर परमात्मा महावीर प्रभु की परम भक्ति करके मात्र सम्यग् श्रद्धा के बल पर उन्होंने सर्वोच्च कक्षा तीर्थंकरनाम कर्म भी उपार्जन किया, जिसके फलस्वरूप वे आगामी चौबीसी में पद्मनाभस्वामी नामक प्रथम तीर्थंकर बनकर मोक्ष सिधाएंगे।

देवलोक में देवताओं ने सम्राट श्रेणिक के सम्यग्दर्शन की कई बार विचित्र ढंग से परीक्षा भी की। गर्भवती साध्वी एवं मच्छीमार साधु का रूप लेकर देवताओं ने उनकी सचोट श्रद्धा को डिगाने का प्रयत्न भी किया; परंतु श्रेणिक जैसे परम श्रद्धालु राजा अपनी श्रद्धा में अचल-अटल रहे। कठिन कसौटियों में से पसार हुए, वे धन्य थे ऐसे शुद्ध सम्यक्त्वी श्रेणिक महाराजा।

* * * *

महासती परम श्रद्धालु सुलषा श्राविका के जीवन में प्रथम संतानोत्पत्ति का

अभाव होते हुए भी उन्होंने कभी भी अपनी सम्यग्श्रद्धा को विचलित नहीं किया। उन्होंने कभी रागठ-द्वेषी-देवी-देवतारों की मानता, आखड़ी मानने का पाप नहीं किया। उन्होंने मिथ्या धर्म का आचरण कभी भी नहीं किया। योगानुयोग बत्तीस पुत्रों की प्राप्ति होने पर एवं भवितव्यतावश बत्तीस ही पुत्रों की चेड़ा राजा के साथ युद्ध में मृत्यु भी हो गइ। तथापि उन्हें रंज मात्र भी शोक नहीं हुआ। अंबड परिव्राजक की परीक्षा में भी पार उतरकर सुलषाश्राविका ने अपने सम्यग् दर्शन की सही अर्थ में रक्षा की, एवं आगामी चौबीसी में तीर्थंकर बनने का सौभाग्य प्राप्त किया।

* * * *

मालदेश की उज्जयिनि (उज्जैन) नगरी के प्रजापाल राजा की दो पुत्रियां थीं। मिथ्याशास्त्र पढ़ी हुई सुर सुंदरी, मिथ्यामति थी जबकि कर्म-धर्म का सम्यग् सिद्धांत पढ़ी हुई मयणा सुंदरी शुद्ध सम्यग् दृष्टि श्राविका थी, जिसनज अपने पति श्रीपाल राजा को भी शुद्ध सम्यग् दृष्टि श्रावक वनाया था। मयणा श्रीपाल के जीवन में आए हुए सैकड़ों कष्टों एवं दु:खा के द्वारा उनकी सम्यग् दृष्टि-श्रद्धा की परीक्षा हुई। फिर भी श्रीपाल-मयणा दम्पति श्रद्धा की कसौटी पर पूरे सौ टका खरे उतरे। सिद्धचक्र रूप नवपद की परमभक्ति एवं उपासना करके, उन्होंने अपना कल्याण साध लिया। इस तरह उन्होंने नवें भव में ही मोक्ष जाने का अधिकार प्राप्त किया। ऐसे सम्यग् श्रद्धावंत मयणा-श्रीपाल का आदर्श आज भी 'श्रीपाल रास' के रूप में उपलब्ध है।

* * * *

महाराज श्रीकृष्ण ने भगवान नेमीनाथ से सम्यग् धर्म एवं जीवादि तत्त्वों का सम्यग् ज्ञान समझकर सम्यग् दर्शन प्रकट किया। यद्यपि व्रत-विरति-पच्चक्खाण का आचरण उनसे नहीं हो पाया, फिर भी यादवाधिपति श्रीकृष्ण ने सही सम्यग्दर्श के आधार पर आगामी चौबीसी में तीर्थंकर बनने का सर्वोच्च पुण्य उपार्जन किया। वे १२ वें अममस्वामी नामक तीर्थंकर बनकर मोक्ष में जावेंगे।

* * * *

परम जिनभक्त रावण विशुद्ध ने सम्यग् दर्शन के बल पर पत्नी मंदोदरी के साथ, अष्टापद गिरी (महातीर्थ) पर प्रभु भक्ति में तल्लीन बनकर तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन किया। महाविदेह क्षेत्र में तीर्थंकर बनकर, वे भी मोक्ष में जावेंगे।

ग्यारहवीं शताब्दी में गुजरात की गद्दी पर आए राजा कुमारपाल ने कलिकाल सर्वज्ञ पू.हेमचन्द्राचार्य महाराज से अरिहंत धर्म प्राप्त करके, परम शुद्ध सम्यक्त्व रत्न प्राप्त किया। साथ ही देश विरति रूप श्रावक धर्म योग्य बारह व्रत स्वीकार करके वे परमार्हत् जैन श्रावक बने। उनकी सम्यग् श्रद्धा अनुपम एवं विशुद्ध कक्षा की थी। उन्होंने भी स्व-आत्मा का कल्याण साधा एवं अल्प भवों में ही मोक्ष सिधावेंगे

शास्त्रों में ऐसे सैकड़ों दृष्टांत हैं एवं चरित्र ग्रंथों में ऐसे अनेक महापुरुषों के चरित्र लिखे गये हैं, जिन्होंने सम्यग् दर्शन रूपी रत्न को पाकर ही मोक्ष गये हैं। तथा अनागत (भविष्य) काल में भी जावेंगे। ऐसे सम्यग्दर्शन से मोक्ष की प्राप्ति हो, इसलिए परमात्मा पार्श्व प्रभु के चरण कमल में अंतिम प्रार्थना इस प्रकार की गई है -

तुह सम्मत्ते लद्धे चिंतामणि कप्पपाय वब्भहिए।
पावंति अविग्घेणं, जीवा अयरामरं ठाणं ।। ४ ।।

'श्री उवसग्गहरं स्तोत्र' में चौदह (चर्तुदश) पूर्वधारी प.पूज्य भद्रबाहु स्वामी लिखते हैं कि - हे प्रभु ! चिंतामणि रत्न और कल्पवृक्ष से भी अधिक (महिमाशाली-लाभदायक) ऐसा आपका सम्यग् दर्शन-सम्यक्त्व रूपी रत्न पाकर अनेक जीव निर्विघ्न-विघ्नरहित, जन्म-मरण रहित अजरामर ऐसे मोक्ष पद को यथाशीघ्र ही प्राप्त करते हैं।

यही प्रार्थना मैं मरे लिए करता हूँ कि मैं भी ऐसा आपका विशुद्ध सम्यग् दर्शन प्राप्त करके मोक्ष पद को प्राप्त करूं। इसी तरह अनेक भव्यात्माएं भी आपके परम श्रद्धा रूप सम्यग् दर्शन-सम्यक्त्व रत्न को प्राप्त करके भविष्य में मोक्ष पद को प्राप्त करें। ऐसी सभी जीवों के प्रति शुभ मनोकामना एवं प्रार्थना प्रभु चरण में शुद्ध भाव से प्रकट करता हूं। सभी विशुद्ध श्रद्धालु बनें। सभी का कल्याण हो। इसी शुभेच्छा के साथ ..... समाप्तम्।

'सर्वेऽपि सन्तु श्रद्धावन्त :।' इति शं भवतु सर्वेषाम्

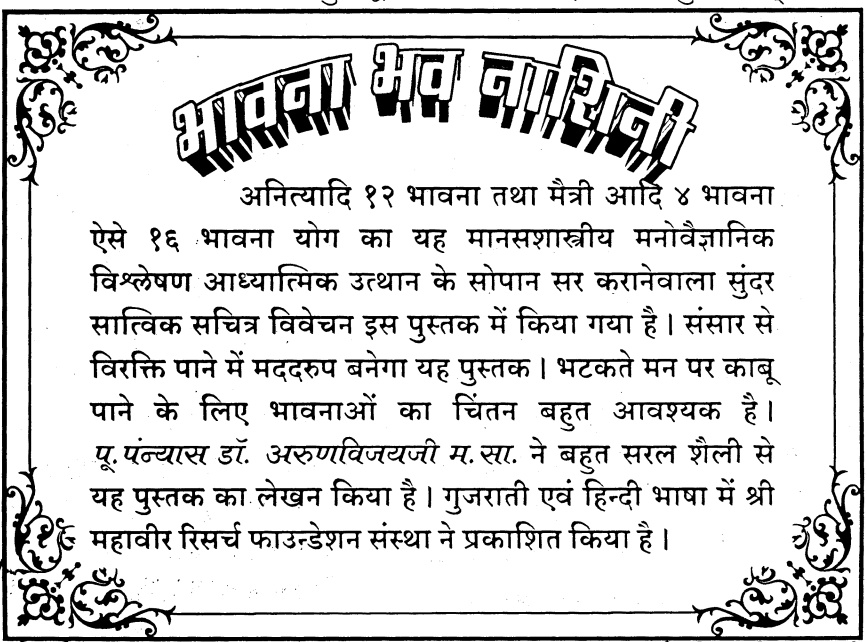

थाणा के जैन संघ का स्वर्णिम इतिहास

आर्यावर्त भारतदेश के दक्षिण में महाराष्ट्र राज्य के सह्याद्री की पर्वतमाला तथा अरबी समुद्र की खाडी के किनारे, कोंकण प्रदेश में, थाणा एक ऐतिहासिक नगरी है। श्रीपाल रास में जिसका ऐतिहासिक वर्णन प्राप्त होता है कि...धवल शेठ के द्वारा समुद्र में फेंके गए श्रीपाल राजा मगरमच्छ की पीठ पर बैठकर थाणा नगरी के समुद्री किनारे आए थे । थाणा के वसुपाल राजा ने श्रीपाल का स्वागत किया और अपनी राजकुमारी मदनमंजरी ब्याही, अपने दामाद बनाकर थाणा का राज्य उन्हें सोंपा था । इस तरह थाणा श्रीपाल का ससुराल तथा राज्य रहा हुआ था। थाणा नगरी में श्रीपाल राजा ने नवपद - सिद्धचक्र की आराधना की थी । इस इतिहास को करीब ग्यारह लाख वर्ष बीत चूके हैं।

थाणा बंदरगाह के रुप में विकसित हुआ । समीपस्थ मुंबई के साथ बडे पुलो द्वारा रेल्वे एवं रास्ते से जुडे हुए थाणा शहर का काफी विकास हुआ। कच्छी-गुजराती-रजस्थानी जैन प्रजा व्यापार-व्यवसायार्थे काफी अच्छी संख्यामें यहां आकर बसे । धर्मिष्ठ जैनों ने टेंभी नाका परिसर में सर्व प्रथम आदीश्वर प्रभु का भव्य जिनालय बनाया था । जिसे करीब १५० वर्ष व्यतीत हुए हैं । यद्यपि जीर्णोद्धार होकर पुनः प्रतिष्ठा भी हो चूकी है।

पू. आत्मारामजी म. के शिष्य पू. शान्तिविजयजी म. थाणा पधारे और स्वरोदय-प्रश्न तंत्र से मुनिसुव्रतस्वामी भ. का मंदिर बनाने की प्रेरणा दी । परिणाम स्वरुप बडी विशाल जगह लेकर केन्द्र में मुनिसुव्रतस्वामी भ. का विशाल मंदिर निर्माण किया । रंगमंडप में नवपद-सिद्धचक्र यंत्र का मंडलाकार मंदिर बनाया तथा दिवालों पर श्रीपाल रासादि अन्य चरित्र तथा तीर्थादि के पाषाण शिल्प की रंगीन कलाकृति उत्कीर्ण की गई है, जो दर्शनीय है ।

पांच मंजिल का विशाल उपाश्रय-आराधना भवन है । आयंबिल शाला है । माणिभद्र प्रवचन हॉल है। श्री मुनिसुव्रतस्वामी जैन लायब्रेरी है । सामने साध्वीजी म. का उपाश्रय है। श्री विजय वल्लभ विद्यालय यहां चलती है । केसरीयाजी भवन धर्मशाला है । बहुत बडा कबूतर खाना-जीवदया का केन्द्र है । माणिभद्रवीर की देरी है । इस तरह **श्री ऋषभदेवजी महाराज जैन धर्म टेम्पल एंड ज्ञाति ट्रस्ट - श्री राजस्थानी श्वे.मू. जैन संघ** का विशाल संकुल है । कोंकण के शत्रुंजय तीर्थ के रुप में इसकी प्रसिद्धि है । खास करके शनिवार को यहां कई भक्तगण दर्शनार्थ आते हैं। सबके लिए भाता की व्यवस्था रखी है । श्री संघ द्वारा मानव क्षुधा तृप्ति केन्द्र कई वर्षो से चलाया जाता है । अनुकंपा के इस कार्य में गरीबों को खिचडी आदि का भोजन प्रतिदिन दिया जाता है।

यहां वर्षों से अनेक पू. आचार्य भगवंतो, पदस्थों, पू. साधु, साध्वीजी म.सा. के चातुर्मास होते ही रहते हैं। नियमित प्रवचन श्रवण, धर्मध्यान आराधना आदि चलती रहती है। सुंदर पाठशाला यहां चलती है। कई बच्चे धार्मिक अभ्यास करते हैं । थाणा नगरी में प्रतिवर्ष जैनों की आबादी बढती ही जा रही है। यह थाणा में जैनों के स्वर्णिम इतिहास की प्रगति का चितार है ।

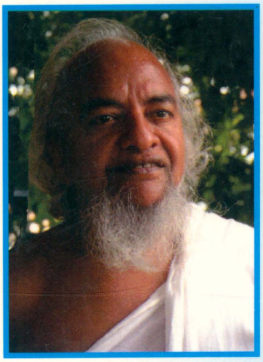

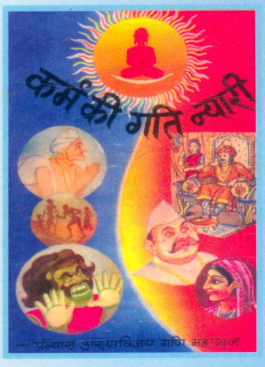
कर्म की गति न्यारी

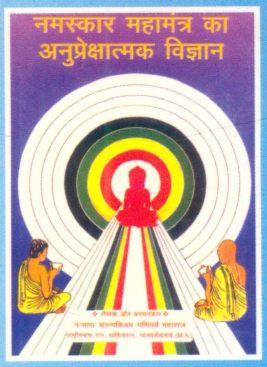
नमस्कार महामंत्र का
अनुप्रेक्षात्मक विज्ञान

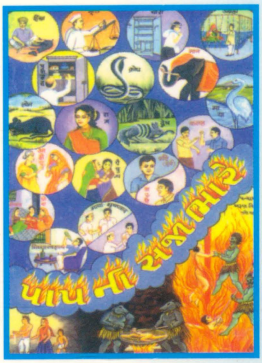
पापी नी संपत्ति

सचित्र गणधरवाद

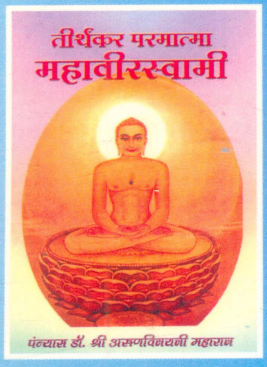
तीर्थंकर परमात्मा
महावीरस्वामी
पंन्यास डॉ. श्री अरुणविजयजी महाराज

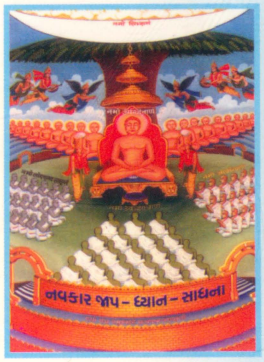
नवकार जाप - ध्यान - साधना

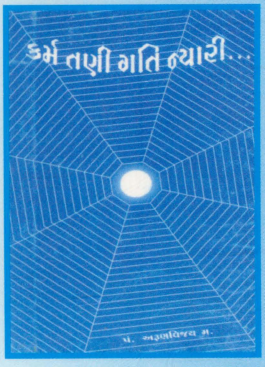
कर्म तणी गति न्यारी...
प. अरुणविजय म.

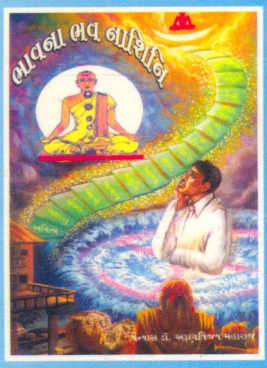
भावना भव नाशिनि

आध्यात्मिक
विकासयात्रा

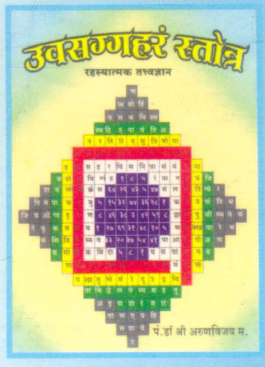
उवसग्गहरं स्तोत्र
रहस्यात्मक तत्त्वज्ञान
पं. डॉ श्री अरुणविजय म.

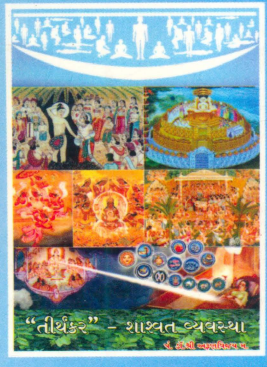
"तीर्थंकर" - शाश्वत व्यवस्था